भारतीय कृषि की आर्थिक समस्यायें

लेखक

महेश चन्द, एम० ए०, बी० एस-सी० (ऑनर्स)

अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक

फ्रेन्डस् बुकडिपो

१२, यूनीवर्सिटी रोड

इलाहाबाद—२

लेखक की अन्य पुस्तकें :—

English Books

(1) Economic Problems in Indian Agriculture.

(2) Co-operative Problems in India

(3) Co-operation in China and Japan

(4) Co-operation in the East and the West, (Co-author, Shri D. S. Kushwaha)

(5) Industrial Organisation in India (Co-author Dr. Shri Dhar Misra)

Hindi Books

(१) भारत में औद्योगिक संगठन (सहयोगी लेखक—श्री विश्म्भरनाथ अवस्थी)

(२) अर्थशास्त्र (सहयोगी लेखक—श्री हरेशचन्द्र अग्रवाल)

(३) पूँजीवाद, समाजवाद और सहकारिता

मुद्रक : मगन कृष्ण दीक्षित, दीक्षित प्रेस, प्रयाग।

समर्पण

आपको

जिससे अध्ययन करने की प्रेरणा मिलती है

प्राक्कथन

पिछले पांच सौ वर्षों में नगरीय-वातावरण की वृद्धि हुई है: यह विश्वव्यापी हो उठा है। फिर भी ५,००० से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में विश्व की केवल ३०% जनसंख्या रहती है।[१] अब भी लगभग ७६% जनता तथा ७४% भूमि कृषि-प्रधान देशों में हैं। कृषि-प्रधानता और ग्रामीण-वातावरण का अटूट संबंध है। फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में पंचमांश या चतुर्थांश जनता का संबंध अकृषिकर कार्यों से है। अस्तु, कृषि और ग्राम के विकास की समस्याओं पर विचार करना उचित तथा वांछनीय है। इस संबंध में प्रस्तुत पुस्तक में जो विचार प्रकट किए गए हैं उनमें हमारा ध्येय विश्वविद्यालयों के लिए हिंदी में अर्थशास्त्र संबंधी तर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक सत्-साहित्य निर्माण करना ही है। यथासंभव उल्लेखनीय, नवीनतम और सांख्यिकिक-विश्लेषण-युक्त तथ्य तथा आंकड़े देने की चेष्टा की गई है। मुख्य पाठ पढ़ते समय सामान्य पाठक का भी मन ऊब न उठे, इसलिए आंकड़ों और प्रादेशिक विभिन्नताओं को पदांशों के रूप में अधिक दिया गया है।

पुस्तक में दिए विचारों की पृष्ठ भूमि में जो दीर्घकालीन और सामाजिक धाराएं दृष्टिगोचर होती हैं उन्हें यहां एक बार पुनः स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा।

संस्कृति और सभ्यता-विकास से ऊपर स्थित हैं: उनका महत्व अधिक है। पुरानी संस्कृति और सभ्यता वाले देश (यथा, भारत) में भूमि का प्राकर्षक (Intensive) प्रयोग पाया जाता है। इसके विपरीत नई सभ्यता और विकास क्षेत्रों (यथा, अमरीका तथा रूस) में, जहां बड़े बड़े उर्वर भू-भाग खाली पड़े थे, उन भू-भागों का तेजी से उपयोग करके तीव्र प्रगति की गई है। ऐसी प्रगति के दीर्घजीवी होने का दावा नहीं किया जा सकता है।

भले ही हमारे यहां किसी समय सभ्यता और विज्ञान उच्च उन्नत अवस्था में रहे हों, पिछले पांच सौ वर्षों में पश्चिमी देशों—विशेषत: शीतोष्ण

---

[१] इस संबंध में देखिए अंतर्राष्ट्रीय सांख्यिकी कांफ्रेंस, १९५१, में पढ़ा श्री किंग्सले डेविस तथा उनके साथी का "विश्व में नगरों के विकास की प्रगति" शीर्षक लेख।

कटिबंध वाले देशों में विज्ञान और उद्योगों की उन्नति हुई। वहां वालों ने ऊष्ण-कटिबंध वाले देशों से प्राकृतिक साधन (कच्चा माल) प्राप्त किया और उद्योगों तथा नगरों की स्थापना की। विकास के इस स्थानीयकरण में जल-यातायात, धर्म तथा साम्राज्यवादी शक्तियों ने भी योग दिया। भारत जैसे पूर्वी देश में हिन्दू राज्य काल के अंतिम चरण में ही आरंभ होने वाली तथा संभवत: मुस्लिम काल में विकसित धार्मिक अंध विश्वासों, सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों ने एक ओर देशाटन में बाधा डाली और दूसरी ओर जीविका के एक साधन से दूसरे साधन में जाने की श्रम की गतिशीलता को अवरुद्ध रखा।[२] ब्रिटिश शासन के कारण हमारी अर्थव्यवस्था ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था की पूरक[३] बनी रही। अनिवार्य कारणों वश[४] जो औद्योगिक या कृषि विषयक विकास हुआ भी उसका सु-संचालन करने के लिए हमने इंग्लैंड के अनुभवों और कार्य-प्रणाली का अनुसरण [५] किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति तथा तत्पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतंत्रता, निष्पक्षता और सत्यता के लिए कुछ ख्याति प्राप्त करके हम यह सोच सकते हैं कि दीर्घ-कालीन स्थायी आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के लिये हम कहाँ तक पश्चिमी प्रणालियां और जीवन-मान को अपनाएँ। निस्संदेह पश्चिमी आर्थिक तथा

---

[२] विदेश जाने वाला भारतीय जाति-च्युत होता था और धोबी, चमार, कुम्हार, पासी, खटिक आदि अपने जातिगत पेशों को छोड़ नहीं सकते थे।

[३] ऐसा न होता तो पश्चिमी विज्ञान के सपर्क में आकर संभवतः हमारी अर्थ-व्यवस्था भी जापानी औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की भांति उन्नति करती।

[४] बृटिश हित में भारत में ही उद्योगों (यथा, जूट) को स्थापित करना आवश्यक तो हो उठा परन्तु उस हेतु आवश्यक ब्रिटिश पूँजी की पर्याप्त पूर्ति प्राप्त नहीं थी। इसके अतिरिक्त भारतीय जागृति और स्वदेशी आंदोलन के के कारण भारतीय अपने साहस और पूँजी के बल पर उद्योग स्थापित करने की सुविधाओं (यथा, संरक्षण) की मांग करने लगे।

[५] उदाहरणार्थ, (i) कृषि के लिए पर्याप्त द्रव्य पूर्ति और कृषक को सुरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता रहते हुए भी रिजर्व बैंक को प्रमुखतया बैंक-प्रणाली का समन्वय कार्य दिया जाना।

सामाजिक शक्तियों का प्रभाव कम नहीं है तथा मुद्रा-प्रणाली (जो कतिपय नई आर्थिक समस्याओं का कारण है) की महत्ता बढ़ती ही जाती है। तथापि यह कहा जा सकता है कि धर्म, जाति, समाज, पैतृक गृहस्थी और संयुक्त-परिवार-प्रथा के कारण अब भी गांवों में रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, परंपरा की दासता और गरीबी स्थित हैं। इन कुप्रभावों को दूर करने के लिए नए कानून बने हैं जिनके अंतर्गत सब बराबर हैं और श्रम की पूर्ण गतिशीलता है। परंतु यह अब भी विचारणीय है कि दीर्घकालीन दृष्टि से क्या आत्म-निर्भरता और चतुर्दिश-संतुलन (ecological balance) के लिए संयुक्त-परिवार, वर्ण विभाजन, आदि प्रणालियां वांछनीय हैं। क्या पाश्चात्य सभ्यता के कारण जीवन अधिक यंत्र-सदृश, वातावरण कृत्रिम तथा सामाजिक व्यवहार "इस हाथ दे, उस हाथ ले" की उक्ति से प्रेरित हो चला है ? क्या वर्तमान वैज्ञानिक जगत में स्वार्थ की प्रमुखता और परमार्थ का लोप निहित नहीं है ? कुछ भी हो, हमको एक बार अपने पुराने रीति-रिवाजों, प्रथाओं और नियमों को कायापलट करनी ही पड़ेगी।

हम यह महसूस करने लगे हैं कि अपनी परिस्थितियों तथा भौगोलिक-शक्तियों के अनुरूप कृषि और उद्योगों का विकास संतुलित बनाया जाय। ग्राम क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण, ग्राम-तंत्र, रिवाज-गत परिश्रमिक पर जोर दिया जा रहा है। नियोजित विकास करते समय क्रमिक सफलता के लिए उत्पादन प्रणाली के दीर्घकालीन वांछनीय उपायों की अपेक्षा ग्रामीण और कृषक द्वारा उचित समझे जाने वाले उपायों[६] (Felt needs) को अपनाना अधिक उपयुक्त है। ग्रामों में अकृषिकर कार्यों के विकास के लिए कुटीर तथा छोटी मात्रा के उत्पादन उपयुक्त हैं और उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। इस संबंध

---

[६] यथा, (i) कृषक की रूढ़िवादिता दूर करने के लिए उसके खेत में उसके ही हाथ नवीन बीज, कृषि-प्रणाली, खाद, सिंचाई आदि के लाभों का प्रदर्शन आवश्यक है। सामुहिक विकास योजना तथा प्रसार-सेवा कार्य इसी दिशा के प्रयत्न हैं (ii) कृषक द्वारा मांगी सिंचाई की सुविधा को पहले देना।

में क्षेत्रीय प्राकृतिक साधनों और जन-लक्षणों का अध्ययन आवश्यक है।[७] इससे भी अधिक यह आवश्यक है कि राजकीय तथा वैयक्तिक उत्पादन संबंधी विवाद और विषाद दूर हों[८]; एवं समाज सेवी, पदाधिकारी और प्राइवेट उत्पादक अपने जीवन में सादगी लाकर जनता को ऐसी दिशा में बढ़ने से रोकें जहां वह बड़ी मात्रा के उत्पादन की या पश्चिमी सभ्यता के अनुरूप वस्तुओं का उपभोग अधिक करेगी।

कृषि तथा अन्य ग्रामीणों तक सुविधाएँ पहुँचाने के लिए दो उपाय प्रमुख हैं—(i) शिक्षा-प्रसार तथा (ii) पंचायतों का दृढ़ विकास। दो अन्य महत्व-पूर्ण उपाय हैं (i) ग्राम में चिकित्सा का प्रबंध तथा (ii) यातायात-सुविधा।

ग्राम-पंचायतों द्वारा ग्रामीण सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को संभालने की वांछनीयता और आवश्यकता पर काफी समय से जोर दिया जा रहा है। स्वायत्त शासन विभाग तथा कांग्रेस दोनों ही इस संबंध में एकमत हैं। अतः यह विचारणीय है कि पंचायतों का क्षेत्र कितना बड़ा हो; उनकी शक्ति—अधिकार और कर्त्तव्य कितने विस्तृत हों; उनके आय के क्या साधन हों; क्या वे अनिवार्य रूप में निःशुल्क श्रम की मांग करें; क्या उनके और प्रादेशिक सरकार के बीच जिला बोर्ड हों और किस रूप में; उनको ग्राम-विकास योजना में किस प्रकार सम्मिलित किया जाय; तथा कितने कमीशन पर लगान वसूली का कार्य उनको दिया जाय, आदि। ग्राम-पंचायतों की सुदृढ़ता

---

[७] इस ओर राष्ट्रीय सांख्यिकिक पर्यवेक्षण (National Sample Survey), भू-पर्यवेक्षण (Land Survey), भूमि संबंधी संगणना (Land Census) के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं।

[८] अच्छा हो यदि स्पष्ट रूप से वे क्षेत्र बांट दिए जायं (i) जिनमें राज्य द्वारा उत्पादन किया जाएगा, (ii) जिनमें केवल कुटीर और छोटी मात्रा का उत्पादन होगा। शेष क्षेत्र वैयक्तिक साहसियों के लिए अक्षुण्ण छोड़ दिया जाय। इसमें यही आशंका रहेगी कि कहीं अवांछनीय वस्तुओं के बड़ी मात्रा के उद्योग न स्थापित हो उठें।

और क्षमता के कारण भविष्य में ग्रामीण नेतृत्व-और सहयोग-वृद्धि की आशा की जा सकेगी।[१]

ग्रामविकास को तंत्र बनाने तथा ग्रामीण नेतृत्व का पृष्ठभूमि बनाने की दृष्टि से अमरीकी आधार पर फोर-एच क्लब (Four-H Clubs) स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है; उत्तर प्रदेश इस ओर अग्रसर है। ग्रामीण शिक्षा में केन्द्रों को सामुदायिक जीवन-विकास के लिए शक्तिदायी बनाने की दृष्टि से ग्रामीण स्कूलों में खेती विषयक प्रयोग करने के लिए भूमि प्रदान की जा रही है।

ग्रामीणों का सहयोग प्राप्त करने के लिए वर्तमान युग के आविष्कारों तथा पश्चिमी देशों के ग्रामीण कार्यक्रमों का उपयोग करने की चेष्टा की जा रही है। यह आशा की जाती है कि ग्रामवासी नवीनताओं से अधिक आकर्षित होंगे। ऐसा होना भी चाहिए। साथ ही साथ सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिपाटियों की नितांत उपेक्षा करना अवांछनीय होगा। लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोक-नाटक लोक कथा और लोकोत्सव का भी लाभ उठाना चाहिए। यदि उनमें शनैः शनैः विकास कार्यक्रम संबंधी बातों का समावेश किया जा सके तो ग्रामीणों का अधिक सहयोग मिलेगा।

यह भी संतोषप्रद है कि, पिछले पांच-छः वर्षों में विकसित देशों द्वारा अविकसित देशों में पूँजी विनियोग की नीति चाहे जो भी रही हो, अब लोकतंत्र के हित में विना शर्त पूँजी तथा यंत्रादि की सहायता देने की नीति कार्यान्वित की जा रही है। यद्यपि यह खेदजनक है कि संसार में दो प्रमुख राजनैतिक-शिविर हैं परंतु तटस्थता व निरपेक्ष नीति पर चलने के कारण भारतीय विकास

---

[१] संयुक्तराष्ट्रसंघीय मंडल ने भी अपनी रिपोर्ट (जून, १९५४) में यह मत प्रकट किया है कि ग्राम पंचायतों की अपेक्षा ग्राम विकास कार्डसिल विकास-कार्य में अधिक योग दे सकती हैं। कारण ? पंचायतों में पार्टी बंदी होती है; अपेक्षाकृत अमीर लोग चुने जाते हैं जो ग्राम-विकास-कार्य में दिलचस्पी कम रखते हैं तथा छोटे क्षेत्र के कारण पंचायत गांव से पर्याप्त धन और टैक्स की उगाही नहीं कर सकती।

का भविष्य सुंदर प्रतीत होता है और इस हेतु विदेशी विनियोग की आशा की जा सकती है। अस्तु।

पुस्तक को वर्तमान रूप देने में मुझे सर्वं श्री त्रिवेनी राय एम० ए० तथा लाल सूर्योदय प्रताप सिंह एम० ए०, बी० एस-सी० से जो सहायता मिली है उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ।

प्रेस और प्रकाशक ने जिन समस्याओं का सामना करके भी धैर्य तथा सहनशीलता के साथ छपाई व प्रकाशन किया है उसके लिए वे सराहनीय हैं।

—महेश चंद

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

कृषिगत आर्थिक व्यवस्था का प्रकार

आज भी भारतवर्ष में यह समस्या है कि हम औद्योगीकरण चुनें या ऐसी कृषिगत आर्थिक-व्यवस्था जिसमें विद्युत-शक्ति-आधारित छोटे पैमाने के तथा घरेलू धन्धे एक प्रमुख स्थान रखते हैं। इस समस्या के दो पहलू हैं — पहला अल्पकालीन, दूसरा दीर्घकालीन। अल्पकाल में जनता के रहन-सहन के निम्नस्तर का—विशेषतया जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं तथा भोजन के अप्राप्य होने का—ध्यान रखना पड़ता है। हमारी वर्तमान समस्या रेडियो, कैमरा, सिनेमा, सुखप्रद फर्नीचर, बंगला, पाश्चात्य ढंग की पोशाक की पूर्ति करना नहीं है। हमारी तो प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन दोनों वक्त भरपूर पुष्टिकारक भोजन, पर्याप्त कपड़ा तथा आश्रय के पूर्ति की समस्या है।

यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि हमारे भावी आर्थिक-व्यवस्था की रूपरेखा वाह्य साधनों तथा तत्वों से अधिक निर्धारित होगी। जो बड़े शक्तिशाली राष्ट्र हैं वे भले ही कृषि-विषयक उन्नति का विशेष विरोध न करें, परन्तु इसकी कम सम्भावना नहीं है कि आने वाले दिनों में अन्य बढ़े हुए उन्नतशील देशों के हित में पिछड़े हुए देशों को सीमित अंशात्मक औद्योगीकरण से अधिक की सुविधा नहीं मिलेगी। घरेलू तथा छोटे पैमाने के उत्पादन के विकास के प्रति कम विरोध होगा। कृषि-विषयक नीति निर्धारण में भी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के कृषि विभाग ने युद्धोत्तर आयोजन सम्बन्धी कई अंतर-ब्यूरो और प्रादेशिक समितियाँ स्थापित की थीं। उनकी रिपोर्ट में यह स्पष्ट था कि युद्ध समाप्त होने के कुछ वर्षों तक ही कृषि-वस्तुओं का निर्यात करना सम्भव होगा। रिपोर्ट में यह स्पष्ट लिखा था कि ऐसी योजनाओं को बनाना पड़ेगा जिससे इन कृषि-पदार्थों का उत्पादन घटाया जा सके जिनमें विश्व-प्रतियोगिता के कारण अमरीकी किसान को वर्तमान जीवन-स्तर से कम पैसे मिलेंगे बशर्ते अमरीकी सरकार आर्थिक सहायता न दे और न आयात-निर्यात नियंत्रण करे। भोजन तथा कृषि -सम्बन्धी विश्वराष्ट्र अधिवेशन ने भी इस ओर स्पष्ट संकेत किया है

कि प्रत्येक देश में यथासंभव आवश्यक भोजन तथा कृषि-पदार्थों का अधिक उत्पादन किया जाय, बशर्ते यह उत्पादन मितव्ययता के साथ किया जा सके। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि युद्धकालीन परिस्थितियों में जिन देशों ने कृषि उत्पादन अधिक बढ़ा लिया है उन्हें दीर्घकाल में शायद उसे घटाना पड़े। कृषि उत्पादन की इस पुनर्व्यवस्था के दो आधार हों—प्रथम, प्रत्येक देश को अपनी जनता के लिए उत्तम भोजन; द्वितीय, पौष्टिक-भोजन की अंतर्राष्ट्रीय मांग हो। पिछले चार-पांच वर्षों में ऐसा प्रतीत हुआ है कि पिछड़े हुए देशों में कृषि-उत्पादन के वृद्धि की दर पर्याप्त नहीं बढ़ी है। अधिक कृषि-उत्पादन वाले विदेशों ने इस कठिनाई से पूरा-पूरा लाभ उठाने की चेष्टा की है। वे कम भोजन वाले देशों का शोषण करने से नहीं चूके हैं। यदि पिछले दो वर्षों को भूल जायँ तो यह भी कहा जा सकता है कि आर्थिक-उन्नति पूर्ण देशों ने पिछड़े हुए देशों को औद्योगीकरण के लिए यंत्र, पूँजी तथा कुशल विशेषज्ञ की सहायता करने में आनाकानी की है।

विचाराधीन समस्या के दीर्घकालीन पहलू के सम्बन्ध में केवल आर्थिक तथा यांत्रिक पहलुओं का ही ध्यान नहीं बल्कि समाज शास्त्रीय, सांस्कृतिक तथा नैतिक पहलुओं पर भी ध्यान रखना चाहिए। प्राचीन समय में धर्म बहुत ही सहायक था। यह मानव के आर्थिक व्यक्तित्व को ठीक तथा नियंत्रित करता था। यह उपभोग को नियमित करता था। यह आचार तथा दृष्टिकोण पर अंकुश रखता था। यह पड़ोसीपन की भावना को उत्पन्न करता था। यह अवकाश की समस्या का हल करता था। परन्तु आज धर्म का वह रूप जो कि साधारण मनुष्य की दृष्टि में है इस प्रकार के प्रभावों तथा तत्त्वों से रहित है।

आज हम प्रकृति पर विजय प्राप्त करने को डींग हाँक सकते हैं; यद्यपि सत्यता यह नहीं है। मनुष्य का भीतर का अतिमानव ऐसे अनुपम और विचित्र वस्तुओं और तत्त्वों को पैदा कर चुका है जो कि हमारे पूर्वजों के कथनानुसार केवल देवताओं को प्राप्य थे। परन्तु मानव के भीतर का राक्षस इन वस्तुओं को अपने पंजे में दबाए है। उसका अधिकार इन वस्तुओं पर अबाध रूप से वर्तमान है तथा निकट भविष्य में परिवर्तन की सम्भावना

कम दीख पड़ती है। समाजशास्त्री तथा वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा अध्यात्मवादी सब की यही राय है कि आवश्यकताओं को कम करना संतोष और सुख को ला सकता है। परन्तु व्यवहार में वे जो कि पाश्चात्य मान्यताओं के अनुसार शिक्षित हुए हैं तथा कुछ पाश्चात्य उन्नति तथा संस्कृति के तत्वों का स्वाद ले चुके हैं इसके विपरीत सोचते हैं। उनका विश्वास है कि आधुनिक आरामप्रद सुविधाओं तथा साधनों का आयोजन अवश्य किया जाना चाहिए तथा प्रत्येक को ये साधन मिलने चाहिए।

जो यह समझते हैं कि विज्ञान की उन्नति अधिक विनाशोन्मुख है, बीमारियों को बढ़ा कर कई गुना कर रही है और अधिक वास्तविक आमदनी के लिए क्रयशक्ति की माँग को बढ़ाती है उन लोगों के लिए आधारभूत समस्यायें ये हैं: क्या इसकी सम्भावना है कि मनुष्य समुदाय में रहने के लिए उचित वैयक्तिक योग्यताओं को विकसित कर सकता है? क्या मनुष्य एक व्यक्ति की हैसियत से इस तरह रहकर इस संसार में एक अच्छे जीवन की कल्पना और आयोजन कर सकता है तथा अन्य लोगों के साथ एक न्यायपूर्ण (धार्मिक) संबंध स्थापित कर सकता है? क्या यह व्यावहारिक है कि हम अपनी वैज्ञानिक उन्नति के लाभों का सब लोगों में अधिक अवकाश के रूप में समान वितरण कर सकें? क्या अत्यधिक अवकाश का या तो दुरुपयोग या अनुपयोग नहीं किया जायगा? क्या बड़े पैमाने पर किए गए केन्द्रीभूत औद्योगीकरण से घनी बस्तियों की सम्भावना नहीं है? बाह्य नियंत्रण पर आधारित आयोजनों में नियम तथा ढंग दूसरों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। पूँजीपति, इन्जिनियर, कुशल विशेषज्ञ, मजदूर, सरकारी अफसर इन नियमों और तरीकों से बँधकर काम करते हैं। उनका मुख्य कार्य उत्पादन तथा वितरण की उचित व्यवस्था तथा नियंत्रण करना होता है। प्रश्न यह उठता है कि बाह्य नियंत्रण रहते हुए वे कब तक पूरे जोश और लगन के साथ सहयोग-पूर्ण कार्य करेंगे। डर यह है कि वे उन बातों को छोड़कर सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक शक्ति-संचित करने के लालच में पड़ जायेंगे।

कुछ लोगों की दृष्टि में उपर्युक्त प्रश्न असंगत हो सकते हैं। उनके अनु-सार बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण, आयोजन तथा राजकीय कार्य द्वारा प्रत्येक

वस्तु का आवश्यक तथा ठीक प्रबंध हो सकता है। परंतु वे इस मत से सहमत हैं कि कुछ काल—उनके अनुसार संक्रान्ति-काल—के लिए गाँवों में छोटे पैमाने के और घरेलू धंधों को विकसित करने की आवश्यकता है परन्तु इन्हें बड़े पैमाने के व्यवसायों की प्रतियोगिता में नहीं आना चाहिए।

व्यक्तिगत रूप से गाँधी-स्कूल (Gandhian School) के आदर्शों में मेरी आस्था है। परन्तु अन्य देशों की औद्योगीकरण के पक्ष में नीति प्रदर्शन, हथियार की आवश्यकता, एक अधिक संतुलित तथा सुरक्षित आर्थिक ढाँचे के लिए कृषि तथा व्यवसाय को सम्बद्ध करने की वांच्छनीयता एवं तथाकथित अधिक से अधिक समय तथा श्रम को बचाने की आवश्यकता के कारण आगामी कई साल तक अधिक औद्योगीकरण को ही बढ़ावा देना पड़ेगा। रोज़गार और काम तथा उत्पादन के अधिकतम वितरण के लिए बड़ी मात्रा के उद्योगों का उचित विकास करना पड़ेगा। इसमें समय लगेगा। इस बीच में तब तक छोटे पैमाने के व्यवसाय तथा घरेलू काम-धन्धों को बिजली की शक्ति का प्रयोग कर पूर्ण विकास का अवसर देना पड़ेगा। छोटी मात्रा के ये व्यवसाय पूर्त्ति तथा विक्रय के साधनों के समीप होंगे, बेकारी तथा अपूर्ण बेकारी के कारण श्रम पर कम व्यय होगा, जल-विद्युत-शक्ति का मितव्ययता के साथ प्रयोग होगा तथा सौन्दर्यात्मक, सफाई तथा धार्मिक आधारों पर उनके उत्पादनों की निरन्तर अधिक माँग होगी—इसलिए इन व्यवसायों के सफल व्यवस्थापन की सम्भावना है। जिस हद तक यह माँगें होंगी ये व्यवसाय उतना जीवित रहेंगे। मेरा यह सुझाव है कि महीन कपड़ा बनाने, रंगों के आनुपातिक विभिन्न मिश्रण करने, धातुओं तथा मूल्यवान पत्थरों पर काम करने तथा हर प्रकार की कलाओं को प्रोत्साहन मिलना चाहिए क्योंकि प्रारम्भिक काल से ही हम इस प्रकार के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध रहे हैं।

वादविवाद को अधिक न बढ़ा कर कृषि-विषयक अवस्था में उन्नति लाने के लिए देश की प्रवृत्ति तथा अल्पकालीन अवधि से इस तरह पूरा लाभ उठाया जाय कि ग्रामीण जनता यथेष्ठ पुष्टिप्रद भोजन, कपड़ा तथा आश्रय के

है उन्हें मोटे तौर से भारत में भी लागू किया जा सकता है। इसके लिए सब प्रकार की ऐसी सुविधाओं के प्रयोग की आवश्यकता है कि (१) ऐसे मजदूर जो कृषि से सम्बद्ध नहीं थे युद्ध के बाद खेतों के बाहर ही रोजगारी करें; (२) जो लोग खेत छोड़ना चाहें उन्हें शहरों में काम दिया जाय; (३) व्यवसाय का विकेन्द्रीकरण किया जाय तथा जिन्हें खेती के बाहर काम चाहिए उन्हें काम दिया जाय; (४) शिक्षित उम्मेदवारों को खेती की पूरी सुविधाएँ दी जायँ तथा दिलचस्पी लेने वाले लोगों को आवश्यक शिक्षा तथा सुविधाएँ प्रदान की जायँ तथा (५) बेकारी दूर करने के लिए आवश्यक ग्रामीण क्षेत्रों में रोज़गार या राजकीय काम की योजनायें बनायी जायँ। यह अच्छा होगा कि खेती के बाहर का रोजगार का प्रश्न जो नम्बर (१) में है वह सरकारी काम, ग्रामीण विकेन्द्रित उद्योग तथा शहर के काम के रूप में रहे।

साथ ही साथ गाँवों में सामुदायिक जीवन का निर्माण भी करना होगा। हमारी ग्राम पंचायतों का आविष्कार बिना गहरे सोच विचार या दूरदर्शिता के बिना नहीं किया गया था। प्रजातंत्रात्मक प्रणाली तथा आवश्यक भोज्य-पदार्थों और दस्तकार विशेषज्ञों—लुहार, बढ़ई, कुम्हार, नाई, धोबी आदि—के विषय में आत्म-निर्भरता उचित जान पड़ती है। जितना ही अधिक नकद के बन्धन के स्थान पर सेवाओं और कामों का प्रतिष्ठापन होगा—चाहे वे काम मुफ्त में किए जायँ या यजमानी प्रणाली पर अनिवार्य श्रम के रूप में किए जायँ जिसके अन्तर्गत मज़दूर पूरी फसल में एक हिस्सा पाता है—उतना ही अच्छा होगा। रूस में भी ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषज्ञ दस्तकारों को पैदा करने का सतत प्रयत्न किया जा रहा है। वहाँ धुलाई, बाल बनाने, मनोरंजन थियेटर आदि की सामुदायिक-व्यवस्था के लिए विशेष प्रयत्न हो रहा है। आश्चर्य नहीं यदि कुछ समय में रूसी गाँवों का निर्माण हमारे प्राचीन आदर्शों पर हो जाय।

परन्तु जैसी हमारी स्थिति है, पुनर्वासन कार्य को पूरा करने के लिए निम्न साधनों का प्रयोग करना होगा : (१) राजकीय प्रयत्न (दबाव या बलपूर्वक अधिकार), (२) सहकारिता की प्रणाली, (३) शिक्षित लोगों में से नेताओं का आयोजन तथा (४) स्वयं ग्रामीण लोगों में आंतरिक अच्छे विचार। संभवतः सभी साधनों को मिलाकर काम करना पड़ेगा। सफाई, पोषण, स्वास्थ्य तथा

मितव्यय के दृष्टिकोण से सुधार, सीमा-निर्धारण तथा आन्दोलन करने पड़ेंगे। इस तरह आटा चक्कियों पर देहाती क्षेत्रों में प्रतिबंध लगाया जा सकता है क्योंकि इनसे पिसा हुआ आटा पौष्टिक तत्त्वों से विहीन हो जाता है[१]। और कानून द्वारा चावल पर पालिश को नियंत्रित किया जा सकता है[२]। इसी तरह सरकार कुछ खर्चीले रिवाजों और चलनों पर रोक लगा सकती है जैसा कि बरौदा प्रदेश में यह संतोषजनक परिणाम के साथ किया जा चुका है[३]।

---

[१] वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर यह कहा जाता है कि हाथ की चक्की से पिसे गेहूँ के आटे के रासायनिक तत्वों की तुलना में मशीन से पिसे हुए आटे में गेहूँ के भूसी या छिलके का ही केवल नुकसान होता है। परन्तु व्यक्तिगत अनुभव से यह कहा जाता है कि अन्य प्रकार की क्षतियाँ भी हैं। जब कभी भी मशीन से पिसे चने के आटे की पकौड़ियां बनाई जाती हैं तो उनका आन्तरिक भाग पूर्ण रूप से पके बिना स्वादहीन कड़ा रह जाता है। हाथ की चक्की से पिसे चने के आटे में आन्तरिक भाग खोखला हो जाता है तथा कच्चेपन का स्वाद नहीं रहता। इससे यह ज्ञात होता है कि केवल रासायनिक विश्लेषण ही पर्याप्त नहीं है। मशीन के आटे के संबंध में यह पता लगाना चाहिए कि वह कहाँ तक पचता है तथा कहाँ तक शरीर में लगता है। इसका भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि हाथ की चक्कियाँ विशेषकर औरतों के लिए अच्छे व्यायाम का भी अवसर देती हैं। यदि हाथ की चक्कियों का स्थान मिल चक्कियाँ ले लें तो व्यायाम की समस्या विशेषकर विवाहित स्त्रियों के लिए पैदा हो जाती है।

[२] चावल की मिलों पर ट्रावनकोर में प्रतिबंध लगा दिया गया है।

यह सम्भव है कि चावल के पालिश को इस तरह नियंत्रित किया जाय कि चावल की पौष्टिक परत नष्ट न हो जाय। इस दिशा में जनता को इतना शिक्षित होना पड़ेगा कि वे पालिश किए चावलों की माँग कम कर दें। यदि पालिश किये चावल का उत्पादन कम कर दिया जाय तो यह परिवर्तन शीघ्रगामी हो सकता है।

[३] इस तरह यदि एक सदस्य जातिगत प्रथा के अनुसार जातिभोज नहीं देता है तो उसको जाति-बहिष्कृत नहीं किया जा सकता (Caste Tyranny Act)।

दूसरा परिच्छेद

भारत में सिंचाई

आज भारत में सिंचाई की सुविधाओं को सुचारु रूप से बढ़ाने के लिए किस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए? 'आज' शब्द का मतलब या तो अल्पकालीन अवधि से हो सकता है जब कि साधनों की न्यूनता हो या दीर्घकालीन अवधि से। दीर्घकालीन अवधि के पहलुओं के विषय में वाद-विवाद करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा इसका विचार करना चाहिए कि अल्पकालीन अवधि में किस प्रकार के उपाय समस्याओं के लिए प्रयोगार्ह हो सकते हैं।

सिंचाई के साधनों का प्रबंध दो रूप में हो सकता है। या तो अधिक मात्रा में पानी का संचय किया जाए या खेतों में सिंचाई करते समय सिंचाई के पानी की क्षति कम कर दी जाय। जहाँ तक पहले का सम्बन्ध है हम दो प्रकार के कार्य कर सकते हैं। प्रथम, नहरें, कुएँ तथा तालाब बनवा सकते हैं या द्वितीय, निम्नलिखित जलस्रोतों से पानी संचय करने और निकालने की उत्तम विधियाँ स्थापित कर सकते हैं :

(१) नदियों, धाराओं तथा तालाबों के पानी को जो अब तक अप्रयोगार्ह हो और (२) कुएँ या तालाब जिनका प्रयोग पूर्ण रूप से न होता रहा हो।

सिंचाई नीति

नहरों से संबंधित उन्नति बहुत ही धीमी हुई है। देश विभाजन के पहले यह हिसाब लगाया गया था कि खेती किए गए क्षेत्रों के ४० % की (लगभग १००० लाख एकड़) सिंचाई की आवश्यकता होती है। सन् १९४९-५० में खेती-वाले क्षेत्रों का केवल ७·८ % की सिंचाई हुई थी। जमीन का २१ % (लगभग ६५० लाख एकड़) भाग अब तक सिंचाई की आवश्यकता रखता है। सरकार को इस तरह (सन् १८७८-७९ के) १०० लाख एकड़ सिंचित भूमि से बढ़ाकर (सन् १९३८-३९ तक) ३२५ लाख एकड़ भूमि सिंचित करने में ६० साल लगाना पड़ा। इस गति से सारी समस्या को हल करने में तो सदियाँ लग जायेंगी।* इसके अतिरिक्त कुछ प्रान्त (यथा, मद्रास, बम्बई तथा

*प्रगति की वर्तमान गति इससे चौगुनी है।

मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के कुछ भाग) इसलिए उपेक्षित नहीं रहे हैं कि उनको सिंचाई के सुविधाओं की आवश्यकता न थी[१] बल्कि नीति इस प्रकार की योजनाओं पर केन्द्रीभूत थी जिनसे सरकार को आर्थिक लाभ हो।

---

[१] निम्नांकित तालिका-पट साधारण वार्षिक वर्षा तथा विभिन्न प्रान्तों के सिंचित खेती के क्षेत्रों का प्रतिशत प्रस्तुत करता है :—

वर्षा (इंचों में)		प्रान्त	प्रान्त में खेतिहर सिंचित क्षेत्रों का प्रतिशत(१९३८-३९)
प्रमुख समूह	वास्तविक		
१५ से कम		राजपूताना	
१५-४०	२३'२५	पंजाब (पूर्वोत्तरी)	
	२४'५२	मद्रास-दक्षिण	२९'३
	३२'१४	बरार	५'१
	३२'६९	गुजरात	५'०
	३५'१०	मद्रास (द० पूर्वी)	२९'३
	३७'५८	उ० प्रदेश पश्चिमी	२९'२
	३९'१३	उ० प्रदेश पूर्वी	२९'२
	३०'८७	बम्बई दक्षिण	५'०
४०-८०	४०'१६	मद्रास उत्तरी तट	२९'३
	४५'४१	म० प्रदेश पश्चिमी	५'१
	४८'२१	बिहार	२२'५
	५१'१८	छोटा नागपुर	२२'५
	५२'०४	म० प्रदेश पूर्वी	५'१
	५६'५९	उड़ीसा	२१'५
	७५'१३	बंगाल	६'८
८० और अधिक	९७'६६	आसाम	८'७
	१०३'७४	मलाबार	५'०
	१०९'२३	कोनकण	५'०

अब नीति अधिक कृषि (विशेषतः अन्न) उत्पादन तथा अनावृष्टि से सुरक्षा सुविधा प्रधान करने की है।

सिंचाई की आवश्यकता

हमें यह अवश्य ज्ञात करना चाहिए कि किन क्षेत्रों में सिंचाई की आवश्यकता है। हम इस दिशा में विभिन्न प्रान्तों की गणना से अवगत नहीं हैं। पूर्वी बंगाल तथा पश्चिमी पंजाब को लेकर तथा सिन्ध और सीमांत (उ० प०) प्रदेश को छोड़कर, सरकारी सन् १९४२-४३ के सिंचाई के काम से हमने विभिन्न सिंचित उपज के क्षेत्रों की जो गणना की है [२] उससे यह ज्ञात होता है कि (१) अभोज्य फसलों के अतिरिक्त भोज्य फसलों को (२) अन्य भोज्य फसलों के अतिरिक्त चावल, गेहूँ तथा गन्ना को अधिक सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान की गई थीं।

बहने पानी की उपयोग सीमा आ चुकी

कुछ भी हो. देश विभाजन के पूर्व यह इंगित किया गया था कि हवेली नहर (Haveli Canal), थाल नहर (Thal Canal) तथा लोअर

निम्नांकित ६ उपभाग ऐसे हैं जहाँ कम मौसमी वर्षा होती है (कृषि विभाग, भारत सरकार द्वारा तैयार उपज कैलेन्डर का पृष्ठ ४) :—

गुजरात, कोनकण, पश्चिमी मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मार्च-मई और अक्टूबर-दिसंबर तक कम वर्षा होती है तथा मद्रास में जून-सितंबर तक। इसी प्रकार मार्च-मई तक पूर्वी उत्तर प्रदेश और बरार तथा अक्टूबर-दिसंबर तक पूर्वी मध्य प्रदेश व पंजाब में वर्षा कम होती है।

[२] सिंचाई के अन्तर्गत उपज के क्षेत्रों का अनुपात निम्नाङ्कित है :—

चावल	१/४	अन्य दालें	१/७
गेहूं	१/२	अन्य भोज्य फसलें	१/३
जौ	५/१२	गन्ना	४/७
ज्वार	१/२१	कपास	१/४
बाजरा	२/२५	अन्य अभोज्य फसलें	३/११
भुट्टा	१/६		

शारदा नहर (the Lower Sharda Canal) की योजनाओं की सफलता संदेहास्पद है तथा जहाँ तक नदियों के बारहमासी जल प्रवाह का संबंध है "अन्य स्थानों में सभी सम्भव उपलब्ध साधन पूर्णरूपेण प्रयोग में लाए जा चुके हैं।"* इसलिए कुओं (ट्यूब-वेल्स के साथ) तथा तालाबों के निर्माण पर अधिक ज़ोर दिया जाने वाला था। इसका यह अर्थ नहीं कि कुछ विशेष छोटी नहरों के निर्माण के लिए क्षेत्र ही न था। सब वर्तमान नहरें भी पूर्ण रूप से सिंचाई की क्षमता के अनुसार काम में नहीं लाई जाती हैं। उदाहरण स्वरूप शारदा नहर, दामोदर नहर तथा कावेरी योजना का नाम लिया जा सकता था।

वर्षा व कूप जल का प्रयोग हो

बारहमासी पानी की पूर्ति के अतिरिक्त नदियों के मौसमी पानी को भी रोकने और संचित करने की आवश्यकता है। हिन्दुस्तान भर की सम्मिलित नदियों के साधारण पानी की प्रति सेकेन्ड २३ लाख घन फीट की पूर्ति में से विभिन्न नहरें केवल लगभग ६% ही प्रयोग में लाती हैं। अवशेष ९४% नदियों का पानी समुद्र में मिल जाता है और बेकार जाता है। यह सच है कि सभी पानी नहीं संचित किया जा सकता है। फिर भी चूँकि पूर्ति का अधिकांश मानसूनी मौसमों में ही प्राप्त किया जाता है, यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि सारे वर्ष के लिए पानी की पूर्ति का समान वितरण किया जाय। यह सम्भव है कि जहाँ पर संभावना हो उचित जमीन की सिंचाई के लिए बहते हुए पानी का आवश्यक भाग रोक लिया जाय[३]। सैद्धान्तिक रूप से यह सम्भव होना चाहिए कि जो क्षेत्र सिंचित होते रहे हों उनको अधिक बार सिंचित किया जा सके तथा जल-विद्युत-शक्ति निरन्तर उत्पन्न की जा सके। इस परिच्छेद के अन्त में इस विषय पर विचार किया जायगा।

**Vide* "Economic Problems of Modern India", edited by Dr. Radha Kamal Mukerjee, Vol. I, Chapter VIII and "Irrigation and its Possibilities" by Sir Barnard Darley.

[३] **किसी भी खेत की सिंचाई का ठीक होना मिट्टी की प्रकृति तथा पानी की प्रकृति पर निर्भर करता है। पानी की प्रकृति पानी में मिश्रित नमक के अनुपात तथा जाति पर आधारित है। निम्नाङ्कित परिणामों से सिंचाई की**

तब भी यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्षा ऋतु में उपलब्ध जल को एकत्र करके सिंचाई का प्रयत्न किया जा रहा है। पंच वर्षीय योजना के अंतर्गत विभिन्न स्थानों पर बांध बना कर सिंचाई तथा जल-विद्युत उत्पादन सुविधा प्राप्त की जा रही है। अनुमान है कि कुछ बड़ी नद-योजनाओं की पूर्ति पर नदियों के १३.६% जलप्रवाह का सिंचाई के लिए उपयोग होने लगेगा और फलतः लगभग ८% अधिक कृषि भूमि सींची जा सकेगी और उत्पादन में कम से कम उतनी ही वृद्धि की आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त छोटी सिंचाई योजनाओं पर भी ध्यान दिया जा रहा है। कारण कम पैसे में

आवश्यक सीमा प्रमाणित होती है॥ (*Vide* "Indian Farming," Vol. VII, No. 8, pp. 257-58):—

मिट्टी का प्रकार	प्रयोगार्ह पानी	पानी में नमक	पानी के लाखवें भाग में नमक का अंश	परिणाम
(१) रेतीला तथा अच्छी तरह नाली से निकाला गया	(अ) मीठा		६५ से भी	साधारण से कम फसल
	(ब) साधारण	बाइकारबोनेट्स (Bi carbonates) के साथ	१५० तक जिसमें बाइकारबोनेट्स ६५ से कम ह	मीठे पानी के तुलना में अधिक अच्छी फसल
साधारण	साधारण	अ) कारबोनेट्स तथा बाइकारबोनेट्स	१०० से कम	मिट्टी क्षारयुक्त तथा खेती के अयोग्य हो जाती है
		(ब) कारबोनेट्स	८० से अधिक	फसल कम
		(स) बाइकारबोनेट्स	६५ से अधिक	,,
		() केलसियम नमक (calcium के साथ	१७० (केलसियम् नमक का २५ सम्मिलित)	साधारण फसल
		(य) नाइट्रेट्स के साथ (nitrates)	२७०	अच्छी फसल

तथा शीघ्र सिंचाई सुविधा बढ़ाने के लिये ये अति उपयुक्त हैं। भारत सरकार ने प्रति वर्ष १० करोड़ रुपया व्यय करना निश्चय किया है। योजना आयोग ने ३० करोड़ रुपए इस हेतु रखे हैं। प्रादेशिक सरकारें स्वयं भी प्रयत्नशील हैं। कुएँ, ट्यू-ब्वेल, तलाव, जल निष्कासन के साधन, लगाना, आदि सभी इन छोटी सिंचाई योजना के अंतर्गत आते हैं।

कुएँ

यह सच है कि भारत के प्रत्येक भाग में नहरें नहीं बनाई जा सकती हैं। सिंचाई के अन्य दो साधनों, कुएँ और तालाब के विषय में भी यह सच है। कुएँ का निर्माण सफलतापूर्वक वहाँ हो सकता है जहाँ पर मिट्टी के भीतरी पर्तों (अंतरभूमि) में पानी की पूर्ति पर्याप्त हो। विशेषकर पंजाब, पश्चिमी घाट के पूर्वी तटों, पश्चिमी बंगाल तथा काली मिट्टी का क्षेत्र में पानी भूतल के समीप रहता है, मिट्टी के धरातल के नीचे के पानी की जांच अभी ठीक रूप से नहीं हुई है[४] तथा उसका प्रयोग स्थायी रूप से नहीं हुआ है। इसका कारण कुछ तो आर्थिक और कुछ यांत्रिक कठिनाइयाँ हैं। सरकार थोड़े खर्च में खुदाई की सुविधाएँ तथा "तकावी" कर्ज के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान कर सकती है। सामान्यतः और विशेषकर कुछ पथरीले प्रदेशों में, (यथा बुन्देलखंड में) बहुत गहरे कुएँ (deep boring well) सम्भव और वांछनीय हैं। कुछ नहर से सिंचित क्षेत्रों में विशेषकर उत्तर प्रदेश में कुओं का होना किसान को अधिक निश्चिन्तता प्रदान करने के लिए वाँछनीय है[५]। पश्चिमी

---

[४] सन् १९४६-४७ में भारत के भूतल के नीचे के पानी के अनुसंधान के लिए एक केन्द्रीय भूगर्भ पानी संस्था (Central Ground Water Organization) का निर्माण हुआ। केन्द्रीय जलशक्ति, सिंचाई तथा नौव्यापार आयोग भी पारस्परिक सहयोग के साथ काम करने तथा भूगर्भीय जल के साधनों की जाँच के लिए है। यह अब केन्द्रीय जल एवं शक्ति आयोग रूप में है।

[५] सन् १९४९-५२ में यू० पी० सरकार के अनुसार ३३५०० पक्के कुएँ बनाए गए, १३९०४ पक्के कुएँ खोदे गए, २०५५ कुओं का जीर्णोद्धार हुआ और १४२२५ पर्शियन-रहट लगाए गए। परंतु ये सरकारी आँकड़े कागज़ी आँकड़े हो सकते हैं।

उत्तर प्रदेश में कुओं की उपेक्षा की गई है तथा नहरों के आगमन के कारण कुओं का त्याग भी किया गया है[६]। परन्तु नहरें अकाल में कुओं की अपेक्षा कम निश्चिन्तता तथा सुरक्षा प्रदान करती हैं[७]। बैलों द्वारा बहुत गहरे पर्तों से पानी निकालना सस्ता नहीं मालूम होता है[८]। इस दिशा में बिजली की शक्ति का प्रयोग सफलता के लिए आवश्यक है। भाग्यवश इस तरफ़ जल विद्युत-शक्ति के उत्पादन के लिए अपार क्षेत्र है। इस देश में सारे उपलब्ध जल का केवल लगभग २½% इस उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाया जाता है[९]। कुछ क्षेत्रों में जल-विद्युत-शक्ति की माँग इसलिए कम है कि उप-

[६] बहुधा नहरों की जल-वितरण-व्यवस्था इस तरह की जाती है कि कुएँ बेकार हो जाते हैं।

[७] जब सन् १९१८-१९ में वर्षा नहीं हुई तो कुओं से सिंचित क्षेत्रों की अपेक्षा नहरों से सिंचित क्षेत्रों में अधिक अवनति हुई :—

ज़िला	क्षेत्रों में अवनति का प्रतिशत । सिंचन साधन		ज़िला
	नहर	कुँआ	
मुजफ्फरनगर	२६·४	८·०	बनारस
इटावा	३६·४	१४·०	जौनपुर
बुलंदशहर	५६.२	४३·०	आजमगढ़
मैनपुरी	६५.०	४८·०	गोरखपुर
फर्रुखाबाद	७५.०	६६·०	बस्ती

[८] Vide कृषि विषयक पुनर्संस्थापन समिति, उ० प्र० १९३९-४१, खंड १, पृष्ठ ५८ की विज्ञप्ति से उद्धृतः—"कुछ जगहों पर जहाँ कि एक कुएँ के पानी का तल २० फीट से नीचे है, अगर वर्षा इतनी नहीं है कि एक या दो सिंचाई से काम हो जाय तो पानी निकालने के खर्च में केवल एक या दो बार सिंचाई के बाद परता नहीं पड़ता।"

[९] सन् १९१९ के मेयर्स (Mears) के अनुमान की अपेक्षा हमारी जल-शक्ति अब ७-८ गुना अर्थात् ३.५-४ करोड़ किलोवाट आँकी गई है परंतु

भोक्ता को अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इसका कारण वितरण का अधिक व्यय हो है[१०]। यदि अधिक शक्ति का उत्पादन किया जाय तो वितरण-मूल्य उपभोक्ता के ऊपर कम किया जा सकता है। यह दलील नहीं देनी चाहिए कि जबतक कि उत्पादन का मूल्य कम न होने लगे अधिक शक्ति का उत्पादन नहीं किया जा सकता। वितरण की दर कम कर देना चाहिए तथा उत्पादन में वृद्धि करनी चाहिए[११]।

शायद हमारी उपलब्ध साधन-क्षमता उससे भी अधिक निकलेगी जैसा कि रूस में सन् १९१८ में जल-शक्ति-क्षमता केवल २० लाख कि० वा० समझी गई परन्तु पश्चात् चौदह गुनी बढ़कर २८० लाख कि० वा० पाई गई।

[१०] *Vide* Report of the Agricultural Reorganization Committee, U. P., 1939-41, Vol. I, p. 58.

[११] दो कुशल अमेरिकनों ने भारत का भ्रमण (१९४८) निम्नसमस्याओं संबंधी सलाह देने के लिए किया (१) ट्यूब-वेल्स वितरण की उत्तम विधि जिससे कि इसका मितव्यय प्रयोग फसल के लिए किया जाय, (२) नहर के क्षेत्रों में कुँआ की पारस्परिक दूरी का निर्धारण, (३) अर्धव्यासात्मक (Radial) कुँओं की खुदाई की सम्भावना, (४) गन्ना क्षेत्रों में भूगर्भ से जल निकालने के स्टेशनों को स्थापित करने की योजना : प्रत्येक स्टेशन पर ४०,०००) तक व्यय होगा और प्रत्येक कुएँ से १५० एकड़ गन्ना की फसल तथा ४५० एकड़ अन्य फसलों की सिंचाई हो सके। इन दोनों विशेषज्ञों की रिपोर्ट अप्राप्य है पर ऐसा कहा जाता है कि वे बिहार, उ० प्र० तथा पूर्वी पंजाब में ट्यूब-वेल्स के निर्माण की भावी सम्भावना से बहुत प्रभावित हुए थे।

उ० प्र० में २३९३ ट्यूब-वेल्स (१९५२) थे तथा अन्य २६२७ ट्यूब-वेल्स की योजना है जिसके पूरा होने पर ११६० नलकूप पूर्वी ज़िलों में हो जाएँगे। भारत सरकार २६५० ट्यूब-वेल्स के लिए योजना बना चुकी है और उ० प्रदेश, बिहार, पंजाब, पेप्सू, व बंबई में ११६५ ट्यूब-वेल्स की योजनाएँ। इस प्रकार सन् १९५६ तक लगभग चार हजार ट्यूब-वेल्स बनाने की योजना है। जिनसे १२ लाख एकड़ की सिंचाई तथा २·४ लाख टन अतिरिक्त की आशा की जा सकती है। परन्तु प्रमुख कठिनाई विद्युत-शक्ति का अभाव है।

तालाब

यद्यपि तालाब से केवल सिंचित क्षेत्रों का २% क्षेत्र सिंचित होता है,[१२] फिर भी तालाब बंगाल, मद्रास, बिहार, उड़ीसा, उ० प्र० तथा बंबई में सिंचाई के महत्वपूर्ण साधन हैं[१३]। उनकी दो जातियाँ हैं—(१) वे जिनका धरातल नीचा है तथा खेतों में पहुँचाने के लिए पानी को ऊपर उठाना पड़ता है; (२) वे जिनकी स्थिति उच्च धरातल पर है जिससे कि पानी स्वयम् बहकर खेतों में चला जाता है। पहली श्रेणी के तालाबों को बनवाने की नहीं बल्कि उनकी मरम्मत तथा पुनर्संस्थापन की समस्या है। दूसरी श्रेणी के तालाबों को उच्च धरातलों तथा पठारों पर अधिक संख्या में बनवाना पड़ेगा। इन तालाबों में जल एकत्र करके उसे नहरों द्वारा खेतों में पहुँचाया जा सकता है। यदि पहाड़ी ढालों पर छोटे तालाबों का निर्माण किया जाय तो वे केवल वर्षा का पानी ही

---

[१२] सन् १९४९-५० में निम्नाङ्कित भूमि की सिंचाई हुई :—

वर्षा	तालाब	कुएँ	नहर	अन्य	
८१%	३·१%	५·१%	७·८%	३% =	१००%

अब भारत में तालाब तथा कुएँ अपेक्षतया अधिक महत्वपूर्ण स्थान रख रहे हैं। बंगाल के अतिरिक्त पाकिस्तान में तालाब नगण्य हैं तथा पंजाब को छोड़कर कुएँ भी। चार प्रान्त उ० प्र०, सीमांत प्रदेश, सिंध, पंजाब तथा बंगाल में सिंचित क्षेत्रों का ½ नहरों द्वारा, ⅓ कुएँ द्वारा, ⅙ तालाबों द्वारा तथा ⅙ अन्य सिंचाई द्वारा सिंचित हुआ।

[१३] सिंचित क्षेत्रों में तालाब द्वारा सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत निम्नांकित है (१९३०-३९) :—

प्रान्त	तालाब द्वारा सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत		प्रान्त
बंगाल	५३·६	०·३	पंजाब
मद्रास	३५·४	०·२	आसाम
बिहार	२८·९	—	उ० प० सीमांत प्रान्त
उड़ीसा	२०·६	—	—
उ० प्र०	१६·२	अज्ञात	म० प्र०
बम्बई	९·२	९·४	अन्य

नहीं संचित करेंगे प्रत्युत बरसाती प्रवाह से होने वाले क्षति को जिससे मिट्टी कट कर बह जाती है उसे भी वे रोकेंगे। जहां सम्भव हो नदियों के पार्श्व में या आर-पार मध्य में तालाबों तथा जल-संचय केन्द्रों का निर्माण होना चाहिए और उनमें बरसात के पानी को एकत्रित कर लेना चाहिए। प्रथम श्रेणी के तालाबों के विषय में एक बड़ी कठिनाई यह है कि उनसे पानी निकालना काफी खर्चीला है परन्तु निकाला हुआ जल व्यर्थ नहीं जाता। बहुतसी ऐसी धारायें तथा झीलें हैं जिनका जल खेतों के लिए प्रयोग में नहीं लाया जाता। पानी नलों से, रहट से उठाया जा सकता है। ये नल बिजली की शक्ति के बिना भी काम में लाए जा सकते हैं परन्तु बिजली द्वारा संचालित नलों का प्रयोग वांछनीय है। बाढ़ वाली नहरों (Inundation Canals) के उद्गम-स्थल पर इस तरह के नलों का निर्माण वांछनीय है जिससे कि वर्षा ऋतु के बाद भी पानी की पूर्ति को जा सके।

बहु उद्देशीय नद-योजनाएँ

ऊपर यह कहा जा चुका है कि सिंचाई के लिए नदियों के पार्श्व तथा मध्य में जलसंचय के लिए बाँध निर्माण किया जाय।

सचमुच इस तरह की नद-योजनाओं से अन्य लाभ भी हैं [१४]। इस तरह संचित जल, सिंचाई के अतिरिक्त, जल-विद्युत-शक्ति के उत्पादन, नौ-व्यापारकी सुविधाएँ, तथा लाखों मनुष्यों को पेय जल देने और नाव-यात्रा, मछली के शिकार तथा मनोरंजन के लिए झील और पार्क के निर्माण में सहायक हो सकता है। व्यवसाय तथा कृषि की उन्नति में और निर्माण में यह सहायक हो सकता है। यही नहीं एक नद-योजना की सीमा के अन्तर्गत रहने वाले आद-

---

[१४] कांग्रेसीय राष्ट्रीय-योजना-समिति की नद-शिक्षण तथा सिंचाई विषयक उपसमिति" (१६३६-४०) ने इस नीति का कि सिंचाई की योजनाओं में आर्थिक लाभ होना चाहिए तिरस्कार किया और एक राष्ट्रीय जल-उपलब्ध साधन बोर्ड (National Water Resources Board) के निर्माण का सुझाव पेश किया। दामोदर बाढ़ (१६४३) तथा कोसी-बाढ़ (१६४५) के फलस्वरूप जो वाद-विवाद हुआ उसने बहु उद्देशीय नद-योजनाओं के निर्माण के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

मियों का पूरा आर्थिक जीवन निर्मित किया जा सकता है। इसलिए इसे "बहुउद्देशीय नद-योजना" कहना उचित ही है।

इस तरह की बहुउद्देशीय नद-योजनाएँ संसार के अन्य भागों में विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में, यथा, मिसीसिपी नदी के जल को बाँधने के लिए टी. वी. ए. योजना, सफलतापूर्वक प्रयोग में लाई जा चुकी हैं।[१५]

एक नद-योजना को कार्यरूप में परिणत करना, टेकनीकल वैधानिक अनुसंधानों के अतिरिक्त, इस तरह के अनुसंधानों से भी संबंध रखता है जैसे मलेरिया-विषयक खोज, भूमि रक्षण, रासायनिक तथा भौतिक खोज, व्यवसायिक तथा व्यापारिक खोज, शास्त्रीय कृषि कला खोज तथा सामाजिक आचार के कई पहलुओं पर संस्था-संबंधी प्रयोग आदि। एक पूर्ण नद-योजना नदी के डेल्टा में, जो कि एक से अधिक राजनैतिक उपक्षेत्रों (प्रान्तों) में फैला रहता है, रहने वाले सभी लोगों के आर्थिक जीवन से संबंध रखती है। इसलिए अन्तर्प्रान्तीय झगड़ों से[१६] तथा असहयोग से बचने के लिए यह अच्छा हुआ कि हमारे नए विधान में अन्तर्प्रान्तीय जलमार्ग केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत हैं। परन्तु केन्द्रीय सरकार को प्रत्येक नद-योजना के लिए एक स्वतंत्र प्रबंधात्मक संस्था का निर्माण करना चाहिए। उसका उदाहरण भारतीय सरकार द्वारा निर्मित दामोदर नद-घाटी-योजना (Damodar River Valley Project) के लिए दामोदर घाटी कारपोरेशन (Damodar Valley Corporation) है।

---

[१५] टी० वी० ए० योजना का विवरण इस परिच्छेद के परिशिष्ट में दिया गया है।

[१६] भूतकाल में (१) पंजाब और सिन्ध सरकार के बीच सिन्ध नदी के जल के ऊपर (२) हैदराबाद तथा मद्रास के बीच तुंगभद्रा के जल की सिंचाई के प्रयोग के ऊपर तथा (३) बिहार बंगाल सरकार के बीच दामोदर घाटी-योजना पर झगड़े हो चुके हैं।

भारत में बहुत से नदी के डेल्टा हैं [१७] तथा पहले से ही बहुत योजनाएँ भी हैं। [१८] परन्तु इनका अनुसंधान करने में, प्रारम्भिक जाँच करने में, योजना के निर्धारण में, रूपरेखा के बनाने में, प्रोजेक्टस् के निर्माण में तथा फलस्वरूप प्राप्त पानी तथा जल विद्युत शक्ति के प्रयोग में कई वर्ष लग जायेंगे। हमारे इन्जीनियरों तथा टेकनिकल-विशेषज्ञों को इन बाधाओं को क्रमशः पार करना चाहिए। [१९] उनकी प्रगति समय समय पर, निर्माण की वस्तुओं

---

[१७] नदियों के प्रमुख डेल्टा निम्नांकित हैं :—

(१) पूर्वी पंजाब में सिन्ध नदी का अवशेष डेल्टा

(२) गंगा का मध्य डेल्टा जो गंगा के उद्गम तथा उ० प्र० की पूर्वी सीमा के बीच में है।

(३) पूर्वी गंगा का डेल्टा जो विशेषतया गंगा की उत्तरी सहायक नदियों से भरपूर है।

(४) चम्बल जो यमुना में मिलती है उसके चारों ओर राजपूताना-मालवा का डेल्टा।

(५) उ० प्र० तथा बिहार में सोन नदी का डेल्टा।

(६) बिहार में कोसी का डेल्टा।

(७) प० बंगाल तथा बिहार के कुछ भागको ढंकता हुआ हुगली-डेल्टा।

(८) उत्तरी आसाम में ब्रह्मपुत्र का डेल्टा।

(९) उड़ीसा में उत्तर में स्वर्णरेखा नदी से घिरा हुआ महानदी का डेल्टा।

(१०) अपनी सहायक नदियों के साथ गोदावरी नदी का डेल्टा।

(११) ताप्ती और नर्मदा की मध्यभारत में स्थिति।

(१२) सूखे जिलों तथा पूर्वी मद्रास में कृष्णा का डेल्टा।

(१३) दक्षिण में कावेरी का डेल्टा।

[१८] भारत में विचाराधीन नद-योजनाओं के विषय में इस परिच्छेद के दूसरे परिशिष्ट में लिखा गया है। जब ये पूरे हो जायेंगे तो ये ४९ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति तथा २०० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करेंगे।

[१९] दामोदर घाटी-योजना के अतिरिक्त अन्य सभी योजनाएँ "केन्द्रीय

की कमी, यथा सीमेन्ट और इस्पात, आवागमन की असुविधाएँ, टेकनिकल कुशल कर्मचारियों और कल-पुर्जों की कमी के कारण हो जाया करेगी। और कभी कभी जनता की चिल्ल-पुकार के कारण इन योजनाओं पर अनार्थिक तेज़ी से काम होगा। अल्पकालीन अवधि में सरकारी कार्यालयों द्वारा अधिक विलम्ब, कुछ भागों में उत्तरदायित्व के विचार कम होना तथा उत्साहहीनता के लक्षण दिखाई पड़ सकते हैं परन्तु उनका सुधार अवश्य होना चाहिए।

इसलिए सिंचाई की सुविधाओं को अन्य साधनों द्वारा बढ़ाने की क्रिया का परित्याग नहीं होना चाहिए। स्थानीय सरकारों तथा नद-योजना-कारपोरेशन की मदद से भारतीय सरकार को मशीनों, कल-पुर्जे तथा जनशक्ति, जो कि दस साल के लिए प्रोजेक्ट-योजनाओं को चालू करने के लिए उपलब्ध हों, के विषय में सूचनार्थ एक साधनों का बजट बनाना चाहिए। बजट तैयार करने के पहले भारत सरकार को यह अवश्य निर्णय करना चाहिए कि हमारी आर्थिक-व्यवस्था की विभिन्न आवश्यकताओं में से किनको प्राथमिकता देनी है। निस्संदेह नद-योजनाओं के उपलब्ध साधनों का बजट समय समय पर परिवर्तित होता रहेगा। प्रत्येक बजट के अन्तर्गत, योजना की शीघ्रता तथा लगी हुई पूँजी पर कई साल के बाद प्रत्याशित आमदनी के आधार पर, नद-योजनाओं के लिए उपलब्ध साधनों की एक विशेष तथा स्पष्ट स्थिति निर्णीत करनी पड़ेगी कि उन्हें कहाँ और कैसे प्रयोग में लाया जाय। अन्य बातें वही रहें तो उपभोग

जल तथा शक्ति आयोग (१९४५) द्वारा निम्नांकित तथा प्रबंधित होते हैं। "केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई तथा नौ-व्यापार खोज केन्द्र" (Central Waterways, Irrigation and Navigation Research Station) द्वारा और सहायता मिलती है। केन्द्रीय टेकनिकल विद्युत शक्ति बोर्ड को उक्त आयोग में मिला दिया गया है। इससे एक केन्द्रीय रूपरेखा निर्णायक संस्था (Central Design Organisation) भी संबद्ध है। सबसे अधिक कठिनाई आयोग को कार्यालयों के लिए कुशल कर्मचारियों की कमी है।

कर्मचारियों की कमी दूर करने तथा उनका उचित उपयोग करने के लिए निम्नलिखित सुझाव विचारणीय हैं: (i) अखिल भारतीय सिंचाई व शक्ति इंजीनियर सर्विस (ii) केन्द्रीय विभाग द्वारा टेकनिकल कर्मचारियों की व्यवस्था

हेतु तुरंत एक लाख कि० वा० शक्ति उपलब्ध करने वाली योजना को उस योजना पर प्राथमिकता मिलना चाहिए जो ऐसी सुविधा कई वर्षों में प्रदान करेगी।

नहरों का उत्तम प्रयोग

अब वर्तमान् सिंचाई प्रणाली की बुराइयों तथाक्षतियों पर ध्यान दिया जायगा। ये कई प्रकार की हैं, यथा (क) मिट्टी द्वारा सोखने के कारण पानी का नुकसान, (ख) पानी के मूल्य के कारण पानी का बेकार जाना, (ग) पानी के माँग की मात्रा में औचित्य का न होना, (घ) सिंचाई विभाग की अक्षमता। वर्तमान् पानी की क्षमता आदर्शतः जितनी होनी चाहिए उसकी चौथाई ही है। इसकी गणना हो चुकी है कि पूर्ति के रूप में दिए गए पानी का लगभग ५३% भाग नहर के उद्गम तथा खेत की बीच में तथा मिट्टी में सूख जाने तथा भाप के रूप में उड़ जाने के कारण समाप्त हो जाता है। इस तरह सामान्यतः नहर का एक क्यूसेक पानी (cusec) नल-कूप के एक क्यूसेक (cusec) पानी द्वारा सिंचित क्षेत्र का आधा भाग ही सिंचित करता है (लगभग २ से २½ एकड़ तक) इसलिए नहर के पानी के प्रयोग में कुशलता तथा क्षमता की वृद्धि के लिए पर्याप्त सीमा और अवसर है।

नहरों के दोनों पार्श्वों तथा तल से पानी का मिट्टी में सोख जाना, पानी को लटों द्वारा बचाने की एक नई समस्या पैदा हो जाती है। इस

व प्रशिक्षण, (iii) प्रादेशिक राज्यों के विशेषज्ञों का एक रिजर्व समूह रखना जो वक्त पर कहीं भी भेजा जा सके।

अब केन्द्रीय सिंचाई बोर्ड विशेष कर सूचना का आदान-प्रदान करता है। यद्यपि इसने बहुतसीस्थायी समितियाँ विशेप दिशाओं में तथा टेकनिकल विषयों के लिए बना रखी हैं। यह बोर्ड बड़े बड़े बाँध संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन तथा प्रस्तावित सिंचाई तथा नहर विषयक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन के लिए भारत की राष्ट्रीय समिति है। इसने भूमि तथा नींव-इंजीनियरिंग विषयक अन्तर्राष्ट्रीय सभा के लिए भारत में राष्ट्रीय समितियों का निर्माण किया है। यह अन्तर्राष्ट्रीय जल-शक्ति से संचालित संस्थाओं, खोजों तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस बोर्ड के प्रतिनिधि अनेक टेकनिकल समितियों में हैं।

तरह जो पानी गायब हो जाता है, वह नीची जगहों में पुनः प्रकट होता है तथा बहुधा यह नीचे के अवांछनीय नमक से मिश्रित हो ऊपर आता है। इसका फल यह होता है कि ऐसे अस्वास्थ्यकारी स्थान बन जाते हैं जहाँ मच्छर खूब पैदा होते हैं। और जब पानी भाप के रूप में उड़ जाता है तो पीछे बचे हुए पानी में नमक की मात्रा अधिक शेष रह जाती है जिससे कि भूमि कम उपजाऊ हो जाती है। यह सुझाव पेश हो चुका है कि जहाँ पर पानी का जमाव बचाने की समस्या है वहाँ नल-कूपों के निर्माण से पानी की पूर्ति घटाई जा सकती है: नहर के पानी की पूर्ति करने का मौसम तथा समय परिवर्तित करना चाहिए: नहरों के पार्श्वों तथा तल को दुर्गम अभेद्य तत्वों और अन्य वस्तुओं द्वारा (यथा सोडियम कारबोनेट, Sodium Carbonate) से सुरक्षित रखना चाहिए।[२०]

नल-कूपों के क्षेत्र में पानी को मात्रागत दर से बेचा जाता है। नहर द्वारा सिंचित क्षेत्रों में ऐसा नहीं होता। बहुधा पानी का मूल्य सिंचित क्षेत्र के अनुसार लिया जाता है। इस बात का कोई ध्यान नहीं रखते कि किसान एक बार नहर का पानी काम में लाता है या कई बार और न इस बात का ध्यान रखते हैं कि किसान के खेत में पानी अत्यधिक तो नहीं हो गया।[२१] इसलिए

---

[२०] *Vide* Report on the Working of the Imperial Council of Agricultural Research by Sir John Russell, 1939.

[२१] सचमुच सिंचाई के पानी का दाम लेने की प्रणाली में कोई एक-रूपता नहीं है। मद्रास तथा बम्बई में नहर क्षेत्रों के लिए पानी का दाम जमीन के लगान में ही सम्मिलित रहता है यथा यदि एक कृषक नहर का पानी लेता है तो वह भूमिकर के साथ ही पानी का दाम देता है। बंगाल और मध्य प्रदेश में किसान और सिंचाई विभाग में कई वर्ष तक का समझौता होता है किसान उस अवधि में प्रति वर्ष कुछ निश्चित मूल्य देता है। स्वेच्छानुसार जब भी चाहे पानी ले सकता है। अन्य प्रान्तों में सिंचाई का दर विभिन्न फसलों के लिए अलग-अलग तथा क्षेत्र की प्रति इकाई पर आधारित रहता है। जिस तरह भी हो यह सिद्धान्त लागू होता है कि "फसल नहीं तो दाम भी नहीं।" यह समझा जाता है कि कृषक इस सिद्धान्त को भलीभाँति समझता है

किसान को इसका ध्यान नहीं रहता कि वह पानी के प्रयोग में मितव्ययी बने। यदि पानी मात्रागत दर से दिया जाय तो इसको रोका जा सकता है। इस प्रणाली के प्रचलन के विरुद्ध निम्नांकित दलीलें पेश की जाती हैं। (१) इस प्रणाली की न्यायपरता को कृषक समझते नहीं। (२) उचित माप-यंत्र अप्राप्य हैं। सचमुच आश्चर्य्य है कि जब किसान नल-कूपों के पानी के मात्रागत दर के सिद्धान्त समझ लेते हैं वे ऐसा नहर-क्षेत्रों में नहीं कर सकते। यदि यह सच भी हो तो यह सम्भव है कि कुछ कृषकों को नहर का पानी मात्रागत दर पर बेचा जा सके तथा उसके पड़ोसियों को इस प्रणाली का लाभ तथा मितव्ययता प्रदर्शित की जा सके। इसी प्रकार सन् १९२८ में राजकीय-कृषि कमीशन (Royal Commission on Agriculture) के समक्ष उचित प्रमाणित मापयंत्र की कठिनाई को रखा गया तथा सचमुच यह नगण्य उन्नति है कि पिछले पच्चीस वर्षों में इन्जीनियरों द्वारा कोई उचित प्रमाणित मापयंत्र नहीं बनाया गया है। यह डर था कि मीटरों को किसान तोड़ देंगे। इस बुराई को अब दूर करना सम्भव है, यदि जलवितरण सहकारी समितियों या पंचायतों के हाथ में सौंप दिया जाय।

दाम वसूल करने के लिए यदि एक उचित प्रणाली रहेगी तो पानी की माँग में औचित्य को प्रोत्साहन मिलेगा। बहुधा इसकी शिकायत की जाती है

और अन्य सिद्धान्तों को नहीं। कुछ यह भी अनुभव करते हैं कि यदि पानी की पूर्ति मात्रागत दर पर हो तो भी फसलानुसार विभिन्न दर तथा "फसल नहीं दाम नहीं" के सिद्धान्त प्रयोगार्ह हो सकते हैं। यदि विशेषज्ञ फिर भी इन सिद्धान्तों को अप्रयोगार्ह समझते हैं तो यह उचित है कि पानी का दर भूमिकर में शामिल कर लिया जाय। यह दलील न्याययुक्त है कि सरकार को आर्थिक लागत पर आए हुए लाभ और आमदनी के आधार पर सिंचन-कार्य की सफलता को नहीं नापना चाहिए बल्कि इसका मापदंड यह होना चाहिए कि इससे अन्य विभागों तथा जनता को कितना लाभ प्राप्त हुआ। दूसरे शब्दों में इसका मतलब यह है कि यद्यपि सिंचाई द्वारा प्रयोगकों (users) को अधिक लाभ होता है, इन साधनों की पूर्ति का व्यय-भार-वहन प्रदेश या देश भर के सभी करदाताओं द्वारा होना चाहिए।

कि किसान अन्तिम क्षण तक मानसून की प्रतीक्षा करते हैं और तब नहर के पानी की माँग एकाएक बढ़ जाती है। यह समस्या कुछ हद तक इस प्रकार हल की जा सकती है कि (१) पानी की पूर्ति उन्हीं लोगों के लिये हो जो कि फसली मौसम के प्रारम्भ में ही अपना नाम दरज करा देते हैं (२) इस तरह के सब प्रार्थियों से पानी पर एक न्यूनतम मूल्य लिया जाना अनिवार्य कर दिया जाय।

जब सरकार नहरों तथा नहर शाखाओं की लम्बाई को बढ़ाती है परन्तु पूर्ति के लिए उपलब्ध जल की मात्रा नहीं बढ़ाती है तब कृषि को बहुत कम लाभ होता है। इस विषय में एक शिकायत, विशेषकर उत्तर प्रदेश में रही है[२२] कि किसान को उसके जल की मात्रा उचित ढंग से तथा समयानुकूल नहीं मिल पाती है। चूंकि यह अनिश्चित है कि पानी लेने की उसकी असली बारी कब आयगी, इस तरह की प्रवृत्ति पाई जाती है कि किसान उचित मात्रा से अधिक पानी ले लेता है जिससे कि पानी के बेकार बह जाने तथा जमा हो जाने की कठिनाई पैदा हो जाती है।

सिंचाई विभाग के कर्मचारियों की क्षमता तथा नैतिकता को बढ़ाना

---

[२२] उत्तर प्रदेश की सिंचाई संबंधी स्थिति नीचे की तालिका से स्पष्ट है:—

वर्ष	नहर-सिंचित क्षेत्र (लाख एकड़ में)	नहर का मील
१९४५-४६	५६·५	१७८२१
१९४६-४७	५६·७	१८०७१
१९४७-४८	६१·१	
१९४८-४९	५६·६	१८३७१

यह कहा जाता है कि शीघ्र ही ७५० मील नहरें और पूरी होंगी और इससे १६·६ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई होगी (*vide* Agricultural Situation, vol. III, No. 3, p. 20)। इसका मतलब यह है कि बढ़ी हुई नहर के प्रति मील लगभग २२०० एकड़ जमीन में खेती हो सकेगी, जब कि सन् १९४६-४७ का औसत काम लगभग ३३० एकड़ प्रति मील नहर पर है। दोनों अंकों में इतना अंतर है कि नवीन अंक असत्य जान पड़ते हैं।

अत्यावश्यक है। यह आलोचना प्रस्तुत की जाती है कि वे विभिन्न फसलों के लिए आवश्यक पानी की मात्रा, संख्या तथा समय से अनभिज्ञ हैं तथा वे शिक्षित नहीं हैं। विभिन्न उपजों के अनुसार पानी की आवश्यकताओं का ज्ञान रखना वांच्छनीय है क्योंकि अब उन्नत प्रकार की फसलें पैदा की जा रही हैं। इस दिशा में अध्ययन तथा सहयोग देने के लिए एक "स्थायी परामर्शदात्री समिति"[२३] की नियुक्ति हुई है। सिंचाई विभाग के कर्मचारियों को विभिन्न फसलों के अनुसार पानी की आवश्यकता के विषय में अवगत तथा शिक्षित उचित रूप से किया जाना चाहिए।

कुएँ

जो कुएँ कच्चे हैं उनको पक्का बनाना चाहिए तथा एक अधिक स्थायी भूगर्भ जलाशय तक पहुँचने की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। सिंचाई समितियों द्वारा गहरी खुदाई का काम हाथ में लिया जाना चाहिए तथा प्रादेशिक सरकारों द्वारा ग्रामीणों को खुदाई के साधनों तथा परामर्श[२४] सहायता मिलनी चाहिए। कुओं में बिजली के नल भी लगने चाहिए। इस

---

[२३] यह भारतीय कृषि-अनुसंधान समिति (आई० सी० ए० आर०) के खोज कार्यों तथा अनेक कृषि और सिंचाई विभाग की फसल की आवश्यकताओं और इससे संबंधित समस्यायों (यथा, पानी की जाति, जमीन को अधिकृत करना, मिट्टी की जाँच तथा फसलों में हेर फेर) का अध्ययन करेगी, उन पर सलाह देगी तथा सहयोग प्रदान करेगी।

[२४] इधर कुछ दिनों से मद्रास में इस दिशा में कुओं में बिजली के नल लग जाने से द्रुतगामी उन्नति हुई है जैसा कि निम्नांकित तालिका से ज्ञात होता है :—

	नलों की संख्या		नलों की कुल संख्या	
साल	सरकार	व्यक्तिगत	सरकार	व्यक्तिगत
१९४५-४६	४६७	२३५	४४१९	१२५९
१९४६-४७	८२२	४०१	५२४१	१६६०
१९४७-४८ (अप्रैल-सितम्बर)	६०२	—	५८४३	—

उद्देश्य के लिए आर्थिक सुविधाएँ दी जानी चाहिए।[२५] पानी निकालने में मितव्ययता लाने के लिए गहरी खुदाई में बिजली की पूर्त्ति का सहयोग अवश्य लिया जाना चाहिए तथा उपभोक्ता के लिए बिजली का मूल्य दो से चार पाई प्रति इकाई तक घटाना चाहिए तथा घटाई जा सकती है।

तालाव

उपेक्षित तालावों की भी समस्या है। अब तक तालाव केवल खेतिहर भूमि के २% में ही काम में लाए जाते हैं। और यह भी जब कि वे जान बूझ कर भर दिए गए हैं तथा हलों से खेती होती है। स्थानीय संस्थाएँ (ग्राम पंचायतें) अच्छी तरह तालावों की देखभाल कर सकती हैं। परन्तु प्रारम्भ में वे आर्थिक व्यय का भार वहन नहीं कर सकेंगी। अब यह आवश्यक है स्थानीय सरकार को मद्रास तथा मैसूर के उदाहरणों पर चलना चाहिए तथा अफसरों की एक टोली को गाँव गाँव घूमकर गाँव वालों की सहायता से उत्तम ताल-व्यवस्था का प्रबन्ध करना चाहिए।

इस प्रकार प्रबंध-व्यय-भार कई वर्षों पर बँट जाता है और प्रति वर्ष बजट में कुछ हजार रुपए रखकर काम चल जायगा। उत्तरी भारत में जहाँ तालाबों से पानी निकाला जाता है बेरी या दुवला प्रणाली प्रयोग में लाई जाती है। दो आदमी एक डलिया के सहारे पानी ऊँचे स्तर पर फेंकते हैं। मजदूरों का एक जोड़ा पानी को केवल लगभग ४ फीट ही ऊपर फेंक सकते हैं। अतः खेत तक पानी ले जाने के लिए बेरियों के कई जोड़े प्रयोग में लाने पड़ते हैं। ग्रामीणों द्वारा बहुधा यह शिकायत की जाती है कि पहले दो आदमी एक दिन में तीन या चार बीघे जमीन की सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी निकाल लिया करते थे, अब उनकी कार्य-क्षमता घटकर $\frac{1}{8}$ ही रह गई है। इसलिए समस्या के दो पहलू हैं : पानी निकालने की प्रणाली में सुधार तथा मजदूरों को क्षमता पूर्वक काम करने के लिए योग्य बनाना। मजदूरों की क्षमता शायद काम के अनुसार पारिश्रमिक देने से बढ़ सकती है। साथ ही ढेकली तथा पेंच के द्वारा

---

[२५] मद्रास सरकार निर्माण तथा उन्नति के लिए २००) से ४००) तक प्रति कुआँ या तालाव आर्थिक सहायता भी प्रदान कर रही है। यह ज्ञात नहीं है कि कितना रुपया खर्च किया गया है।

पानी निकालने वाली मशीनों का प्रश्न सिंचाई तथा कृषि-विभागों द्वारा हल किया जाना चाहिए। जहाँ पर नहर के पानी के लिए सम्पूर्ण वार्षिक माँग न हो, यदि सम्भव हो तो नहर के पानी से तालाब भर देने चाहिए।

यह ध्यान रखना चाहिए कि दीर्घकालीन प्रयत्नों के पूर्व एक अनुसंधानात्मक खोज भूतल के तथा भूगर्भीय जल के विषय में होना चाहिए।[२६] यह आवश्यक नहीं है कि सिंचाई की सुविधाएं सभी असिंचित क्षेत्रों के लिए प्रदान की जायँ। कहीं-कहीं पर भूमि के लिए उपलब्ध जल का गुण अनुपयुक्त हो सकता है। ऐसा दशाओं में उपलब्ध सिंचाई के साधनों के अनुसार फसल योजना को निर्धारित करना चाहिए।

अल्पकालीन अवधि में यह वांछनीय है कि तालाबों को गहरा किया जाय, साफ किया जाय तथा खोदा जाय।[२७] कुएँ भी खोदे जा सकते हैं,[२८] कच्चे कुओं को पक्के रूप में बदला जा सकता है तथा कम से कम उनके ऊपर एक छप्पर का निर्माण अवश्य हो सकता है।

छोटे मोटे सिंचाई के काम हाथ में लिए जा सकते हैं। पानी के नए साधन खोजे जा सकते हैं। धाराओं तथा नदी की छोटी शाखाओं से पानी निकालने के लिए मशीन और नलों का प्रयोग किया जा सकता है। अधिक जल विद्युत शक्ति का उत्पादन तथा प्रयोग किया जाना चाहिए।

---

[२६] इस दिशा में पहले से ही "केन्द्रीय भूगर्भीय जल-संस्था" (Central Ground Water Organisation) सिंचाई के उद्देश्यों के लिए भारतीय भूगर्भीय जल-साधनों के विषय में अनुसंधान के लिए बन चुकी है। "केन्द्रीय जल-विद्युत शक्ति, सिंचाई तथा नौ-व्यापार कमीशन Central Power Irrigation and Navigation Commission) भी खोज करता है।

[२७] उ० प्रदेश तथा कुछ अन्य प्रदेश पिछले दो साल से तालाब खुदाई के आन्दोलन को चला रहे हैं। १९४८ के बीच उ० प्र० में १७७० तालाब गहरे किए गए, परन्तु आन्दोलन को क्रमिक तथा जारी रखते हुए अधिक सफलता के लिए बढ़ाना चाहिए।

[२८] भारतीय गणतंत्र में नहरों की अपेक्षा तालाब, कुएं तथा अन्य

किसानों को उचित परामर्श दिया जाय जिससे कि वे अनावश्यक अधिक मात्रा में पानी न लें। सिंचाई के काम के लिए भावी मात्रागत लक्ष्य-निर्धारण होना चाहिए तथा कर्मचारियों को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि यदि ये लक्ष्य प्राप्त नहीं किए गए तो उनकी उन्नति रोकी जा सकती है। किसानों से, विशेषकर उ० प्र० में, यदि वे मौसम के बाहर भी नहर-शाखाओं से पानी खेत तक ले जायँ, तो मूल्य नहीं लिया जाना चाहिए।[२१] किसानों को आड़ी जुताई (contour ploughing) की प्रणाली पर चलने तथा खेतों को ढलुवें भाग में कुछ फासले पर छोटी-छोटी आड़ी मेड़ें बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उससे कुछ हद तक पानी के उपभोग में मितव्ययता लाई जा सकती है। इस तरह जमीन अधिक हद तक पानी को सोख सकेगी तथा मिट्टी के बह जाने के साथ-साथ होने वाली क्षति कम होगी।

सिंचाई के काम अधिक महत्वपूर्ण हैं। यह निम्नांकित नहर द्वारा सिंचित क्षेत्रों के प्रतिशत से जो निम्नांकित तालिका में है स्पष्ट है :—

प्रान्त	सिंचित क्षेत्र का भाग				प्रान्त
	कुँआ	नहर	कुँआ	नहर	
आसाम	२/३	१/३	५/८	३/८	उ० प्र०
बंगाल	३/४	१/४	८/१५	७/१५	मद्रास
उड़ीसा	३/४	१/४	१/४	३/४	म० प्र०
बम्बई	२/३	१/३	३/१३	१०/१३	पंजाब
बिहार	२/३	१/३	४/९	५/९	अविभाजित भारत

उ० प्र० में जब कि नहर द्वारा सिंचित क्षेत्र लगभग ३९.७ लाख एकड़ जमीन है, कुओं द्वारा सिंचित क्षेत्र ५५.६ लाख एकड़ हैं।

[२१] देखिए कृषि पुनर्संस्थापन कमीशन, उ० प्र०, १९३९-४१ की रिपोर्ट।

ट्रैक्टर के प्रयोग, यंत्र तथा खाद्य-सामग्री आदि के प्राप्ति के लिए सहकारी समितियों स्थापना में सहायता देना है।

द्वितीय परिच्छेद का पहला परिशिष्ट

टेनेसी घाटी योजना

(Tennessee Valley Authority)

टेनेसी घाटी योजना (टी० वी० ए०) का संस्थापन एक 'पाइलट प्लान्ट' (Pilot Plant) के रूप में, एक नदी की घाटी में सभी (केवल एक या दो नहीं) साधनों के विकास के विषय में अनुभव प्राप्त करने के लिए हुआ था। इसका उद्देश्य घाटी के सभी निवासियों की सेवा करना था, केवल कुछ लोगों की नहीं। इस प्रयोग द्वारा इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना था कि "किन उपायों से यह सम्भव है कि किसी जनसमुदाय का, जो आधारभूत उपलब्ध साधनों तथा प्राप्त कार्य-कुशलता में अच्छी तरह धनी है, अधिक उत्पादन शक्ति प्राप्ति तथा उनके उपभोग और अधिकृत वस्तुओं में वृद्धि की जा सके।

टी० वी० ए० के पूर्व की अवस्था

टेनेसी घाटी एक बहुत बड़ा डेल्टा है। यह ४०,६०० वर्गमील क्षेत्र को नम रखती है—लगभग उ० प्र० के आकार का २/५ भाग। इसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमरीका के सात प्रदेश आते हैं। सन् १९३३ में इसकी जनसंख्या ३० लाख थी। यदि सं० रा० अ० के औसत से तुलना किया जाय तो ग्रामीण जनसंख्या दुगुनी थी, खेतों के उत्पादन की कीमत तथा व्ययशील आमदनी प्रति मनुष्य आधी से भी कम, तथा उत्पादन कर सकने वाली उम्र के प्रति १०० आदमी पर निर्भर करने वालों की ⅘ थी। पौष्टिकता का स्तर, मात्रा तथा गुण दोनों में, बहुत ही नीचा था; राष्ट्र में शैक्षणिक व्यवस्था सबसे खराब थी। तथा टाइफाइड और क्षयरोग (typhoid and tuberculosis) के कारण मृत्यु खतरनाक दर्जे तक पहुँच गई थी। फिर भी देश की औसत अवस्था से तुलना करने पर, जन्म दर ⅓ अधिक था। परिवार का आकार बड़ा तथा बहुत संख्या में जवान तथा स्वस्थ योग्य शरीर वाले मनुष्य बहुधा सं० रा० के अन्य औद्योगिक क्षेत्रों में चले जाते थे।

अपने दौरान में यह नदी जहाँ पर इसमें ओहियो नदी मिलती है ३,००० फ़ीट की ऊँचाई से गिरकर ३०० फीट तक पहुँच जाती है। वर्षा तो

वहां खूब होती है परन्तु यह नदी बाढ़ वाली नदी है। प्रति वर्ष यह अनेक रूप धारण करती है इसलिए इसमें अपरिमेय जल-क्षमता है। इसी तरह पहले यह क्षेत्र घने जङ्गलों से भरा था। कृषि प्रणालियाँ तथा फसलों का उत्पादन ऐसा था कि मिट्टी ही नष्ट होती जा रही थी। जङ्गलों को साफ किया गया तथा जिस गति से पेड़ों को काटा गया उस गति से कोई अन्य वस्तु पेड़ों के स्थान पर नहीं लगाई गई। यह कहा जा सकता है कि कोई भी सभ्यता भूमि के इतने प्रचुर साधनों को इतने कम समय में उपभोग या नष्ट नहीं कर सकी है। घाटी में महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ के साधन भी हैं जो कि विस्तृत रोजगार के साधन हो सकते हैं।

टी० वी० ए० के निर्माण में सहायक शक्तियाँ

टी० वी० ए० के संस्थापन में कई शक्तियों ने विशेष भाग लिया। स्थानीय जनता नदी के नाविक व्यापार में रुचि रखती थी तथा बाढ़ से रक्षा के लिए तैयार थी। जल-विद्युतशक्ति के उत्पादन में राष्ट्र का लाभ था। यह वांच्छनीय समझा गया कि बहुमुखी तथा सम्मिलित उद्देश्यों के लिए राष्ट्रीय साधनों को एक संस्था द्वारा नियंत्रित किया जाय। सन् १६१६ में सरकार ने मसिल सोल्स (Muscle Shoals) में एक नाइट्रोजन प्लांट (नत्रजन का कारखाना) संस्थापन किया था। राष्ट्रीय सुरक्षा के दृष्टिकोण से एक बाँध (dam) का निर्माण तथा इसके संचालन के लिए विद्युतशक्ति का उत्पादन करना वांच्छनीय समझा गया। अन्त में १६२६ की आर्थिक मंदी ने इस विचार को—जो पहले से जड़ जमा रहा था कि सरकारी आर्थिक आयोजना अनिवार्य है—अधिक प्रोत्साहन दिया। विद्युतशक्ति उन्नति, बाढ़-नियंत्रण, मिट्टी का कटाव, बन निर्माण, सीमांत भूमि के क्षेत्र को कृषि-विषयक प्रयोग से वहिष्कृत करना, व्यवसाय का वितरण तथा विकेन्द्रीकरण सभी ने नदी के सम्पूर्ण पानी की राष्ट्रीय आयोजन की आवश्यकता की ओर संकेत किया।

टी० वी० ए० क्या है?

इसलिए सन् १६३३ में कांग्रेस ने टी० वी० ए० का निर्माण किया। यह एक सरकारी शक्ति से युक्त निगम (कारपोरेशन) है परन्तु इसमें एक व्यक्ति-

गत उद्योग की तरह लोच तथा प्रयत्नशीलता है। इसका कार्य तीन डाइरेक्टरों का एक बोर्ड चलाता है जिनकी नियुक्ति प्रेसीडेन्ट कांग्रेस की राय और स्वीकृति से करता है। यह कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी है। इसका हिसाब कन्ट्रोलर जनरल द्वारा देखा जाता है। इसकी पूँजी तथा चालू व्यय कांग्रेस द्वारा पास होते हैं। यह प्रान्तीय सरकारों, स्थानी संस्थाओं तथा फेडरल गवर्नमेंट की स्थानीय शाखाओं का सहयोग लेती है।

फिर भी टी० वी० ए० ५०० से अधिक संस्थाओं से सहयोग संधि कर चुकी है। इन संस्थाओं में विश्वविद्यालय, व्यक्तिगत उद्योग, तथा संघ प्रदेश तथा काउन्टी सरकार के विभाग सभी शामिल हैं।

व्यवस्था

टी० वी० ए० की बहुत-सी काय-विधियां १७ विभागों में केन्द्रीभूत रहती हैं। एक प्रमुख इन्जीनियर आयोजना, रूपरेखा तथा निर्माण से सम्बन्धित विभागों को नियंत्रित करता है। विद्युतशक्ति का एक प्रबन्धक (Manager) तीन अन्य विभागों को नियंत्रित करता है जिनका सम्बन्ध (१) जल विद्युत, शक्ति-उत्पादन, (२) वितरण लाइनों तथा उपस्टेशनों का निर्माण तथा (३) बिजली के विक्रय और प्रयोग में उन्नति के साथ-साथ वितरण करने से है। तीन अन्य विभागों को जिनका सम्बन्ध मिट्टी-सुरक्षा, वन निर्माण, रासायनिक कारखानों के काम से है एक प्रमुख सुरक्षा-इन्जीनियर नियंत्रित करता है। अन्य आठ विभागों में से कर्मचारी विभाग (Personnel Dept.), क्षेत्रीय अध्ययन विभाग (Regional Studies Dept.) स्वास्थ्य तथा सुरक्षा विभाग, वाणिज्य विभाग तथा जायदाद संचयन प्रबन्ध विभाग (Reservoir Property Management Department) का नाम उल्लेख किया जा सकता है। पहला इस आधार पर काम करता है कि योग्य कर्मचारी तथा उनका पारस्परिक अच्छा सम्बन्ध किसी भी संस्था की सफलता के लिए प्रमुख तत्त्व हैं। दूसरा विभाग बहुधा स्थानीय सरकार की इकाइयों तथा संस्थाओं द्वारा आर्थिक तथा सामाजिक दशाओं के विषय में अनुसंधान तथा जाँच करता है। तीसरा मलेरिया को नियंत्रित तथा जनता के स्वास्थ्य के लिए काम करने के लिये है। वाणिज्य-विभाग घाटी के उत्पादित वस्तुओं की

किस्म को बढ़ाने तथा उनके विक्रय की सुविधाओं के लिए और नौ-व्यापारिक सुविधाओं के लिए खोज तथा उन्नतिप्रद काम करता है। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए रेफ्रीजरेटर तथा सुखाने वाले यंत्रों के लगाने में यह सहायक होता है। इसने खेती के यंत्रों तथा कृषि-विषयक यंत्रों की उन्नति का काम किया है। यह किसानों को खेत में बिजली के प्रयोग के लिए शिक्षा देता है। अन्तिम विभाग के अन्तर्गत व्यापारिक मछली के केन्द्रों को विकसित करना तथा उद्यान-क्षेत्रों का निर्माण, मनोरंजन के लिए नावों के घाट बनाना तथा मछली के शिकार के केम्प आदि का प्रबन्ध करना, आता है।

सन् १९३३ से इसने क्या किया है?

टी० वी० ए० ११ बाँध (dams) तथा ५ बिजली के स्टेशनों (Thermal Power Station) को प्राप्त कर चुका है। इसने स्वयं १६ बाँधों तथा एक बिजली के स्टेशन का निर्माण कर लिया है। इस तरह २७ बाँध तथा ६ बिजली के स्टेशन हो गए हैं। जल-विद्युत-शक्ति की लगी मशीनों की प्रयोगार्ह क्षमता २० लाख कि० वा० है जब कि कुल स्वीकृत क्षमता २८·५ लाख कि० वा० है। सन् १९३३-४६ के बीच कुछ बिजली का उत्पादन ४००० लाख कि० वा० से बढ़कर ११५० करोड़ कि० वा० हो गया है। बिजली का वितरण लगभग ६००० मील लम्बी लाइनों द्वारा एक ऐसे क्षेत्र में किया जाता है जो पश्चिम से पूर्व तक ४०० मील तथा उत्तर से दक्षिण तक २०० मील है।

बिजली की शक्ति की पूर्ति व्यवसायों को तथा ९१ नगरपालिका और ४६ सहकारी समितियों द्वारा निवासी उपभोक्ताओं के लिए की जा चुकी है। निवासियों ने सन् १९३३ में लगभग ६००० लाख कि० वा० बिजली का उपभोग किया। यह मात्रा सन् १९४५ में तिगुनी हो गई। फिर भी कुल बिजली के खर्च का दाम जो उपभोक्ता द्वारा दिया गया लगभग पहले के बराबर ही रहा जबकि सं० रा० अ० के शेष भाग में यह २५% बढ़ चुका था। म्यूनिसिपैल्टियाँ, नगर-पालिका तथा सहकारी समितियाँ २·७ पाई प्रति कि० वा० मूल्य पर टी० वी० ए० से बिजली प्राप्त करती हैं। उपभोक्ता-निवासी को इससे अधिक मूल्य देना पड़ता है परन्तु इकरारनामे के अनुसार दुबारा विक्रय के पश्चात् जो धन मिलता है उसका प्रयोग केवल

ऋण चुकाने, संस्था तथा कार्य-प्रणाली को विकसित व विस्तृत करने या दर कम करने के लिए हो सकता है। बहुतसी सहकारी समितियाँ अब ऋणमुक्त हो चुकी हैं तथा दर में कमी करने लगी हैं।

इसके अतिरिक्त संचयालयों (reservoirs) की संचय-शक्ति २२० लाख एकड़ फीट है तथा इसका सफल प्रयोग कई अवसरों पर बाढ़ की ऊँचाई को ६ फीट तक घटाने में हो चुका है। इस तरह अनेक करोड़ रुपए की क्षति बचाई गई है।

वहाँ एक नौ-व्यापार के योग्य नहर भी बनाई गई है जो कम से कम ६ फीट गहरी, टेनेसी नदी के मुख से नाक्सविले (Knoxville) तक जहाँ पर ओहियो नदी उसमें मिलती है ६५० मील लम्बी है। बालू और कंकड़ का भी २०० लाख टन मील अल्प-क्षेत्रीय व्यापार हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य सामग्रियों का आयात-निर्यात (सन् १६४२) १३६० लाख टन मील से बढ़कर २५०० लाख टन मील सन् १६४५ में हो गया था। टी. वी. ए. की प्रगति के बाद से मध्य-पश्चिम (Mid West) से टेनेसी घाटी तक अनाज लाया जाता है।

टी. वी. ए. वन-निर्माण विषयक काम करता है जिससे भूमि बरसाती पानी को अधिक सोखे, पानी का व्यर्थ बहाव कम हो तथा धाराओं के प्रवाह को नियंत्रित कर सकें। फलतः; बाढ़-नियंत्रण और नौ-व्यापारिफ सुविधाएँ भी बढ़ती हैं।

भू-प्रबंध के क्षेत्र में प्रगति का सारा श्रेय केवल टी० वी० ए० को नहीं दिया जा सकता। अन्य संस्थाएँ, यथा, कृषि नियोजन-संस्था (Agricultural Adjustment Administration)[१] कृषि साख

[१] यह संस्था संयुक्तराज्य के कृषि विभाग की एक शाखा है। यह सन् १६३३ में उचित मूल्य पर दोनों किसानों तथा उपभोक्ताओं को निरन्तर तथा सुदृढ आधारभूत खेत के उत्पादनों की पूर्त्ति के लिए, मिट्टी के साधनों की तथा व्यक्तिगत क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए तथा किसानों को राष्ट्रीय आमदनी का अच्छा तथा उचित भाग दिलाने के लिए निर्मित किया गया था। सन् १६४२ से इसका नाम Agricultural Adjustment. Agency (कृषि नियोजन संस्था) हो गया है।

प्रबंध[२] (Farm Credit Administration), भूमि बंधक संस्था[३] (Farm Security Administration), फेडरल लैन्ड बैंक (संघीय भूमि बैंक), संघीय भूमि बंधक निगम, तथा लैंड ग्रांट कालेज (Land Grant Colleges) वहाँ हैं। यह सब संस्थाएँ तथा टी० वी० ए० मिलकर इस प्रगति की उत्तरदायी हैं। टी० वी० ए० का बहुधा लैंड ग्रान्ट कालेज से जो कि सचमुच सरकारी कृषि कालेज हैं तथा जिन्हें सरकारी भूमि तथा पैसा मिला है अधिक संबंध रहा है।

प्रत्येक कालेज में प्रसार सेवा विभाग (Division of Extension Services) होता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक काउन्टी में स्थानीय स्थायी काम करने के लिए एक काउन्टी एक्सटेन्सन एजेन्ट की नियुक्ति होती है। एजेन्ट कृषि-शिक्षा-प्राप्त तथा प्रोग्रामों के संयोजन तथा स्थानीय अवस्था में विकास लाने के लिए उत्तरदायी हैं। वह संस्थाओं से हिलमिल कर काम करता

[२] सन् १९३३ में निर्मित इस संस्था का उद्देश्य कृषि के लिए एक पूर्ण तथा समपदस्थ साख-प्रणाली का आयोजन करना है। यह किसानों को व्यक्तिगत रूप से तथा उनका सहकारी क्रय-विक्रय तथा व्यापारिक सेवा करने वाली सहकारी समितियों द्वारा अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन साख प्रदान करती है। इसके बिना टी० वी० ए० योजना सफल नहीं हो सकती थी। टी० वी० ए० के कारण भी साख का अधिक प्रयोग किया जाता है। टी० वी० ए० योजना ने ऐसे शक्तियों को नष्ट कर दिया है जो कृषि सहकारी-समितियों में अवरुद्धता या ऐसी गतिहीनता लाती हैं यथा फसलों का सीमित विकेन्द्रीकरण, तम्बाकू तथा कपास पर रोक तथा स्थानीय साख-प्रणाली का विकास और इस पर आधारित कार्य-विधियाँ।

[३] सन् १९३३ में संस्थापित, इस संस्था का लक्ष्य जरूरतमन्द तथा बाधाग्रस्त छोटी और मध्यम श्रेणी के खेती वाले किसान को (१) भूमि तथा साधन को लेने या ऋण चुकाने के लिए कर्ज देकर (२) अच्छी जीविका तथा विक्रयशील उत्पादन के लिए सूचना, परामर्श तथा पथ-प्रदर्शन कर (३) चौपायों के जनन के लिए, ट्रैक्टर का प्रयोग, यंत्र तथा खाद्य-सामग्री आदि के प्राप्ति के लिए सहकारी-समितियों की स्थापना में सहायता देना है।

है। उन संस्थाओं में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—फार्म ब्यूरो, भूमि संरक्षण सभा (Soil Conservation Association , नवयुवक क्लब, फोर एच क्लब, किसान क्लब तथा काउन्टी कृषि सभाएँ।

काउन्टी एजेन्ट खेतिहर समुदायों की, बहुधा औरतों तथा बच्चों के साथ पूर्ण सभाओं का आयोजन करता है। कार्यवाही अंशतः सामाजिक तथा अंशतः शैक्षणिक होती है। सभा के दौरान में भूमि-विषयक खतरों तथा उनसे सुरक्षा के रास्ते समझाए जाते हैं। यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि वे दिन बीत गए जब कि वे स्थान परिवर्तन कर किसी उर्वरा भूमि पर बसकर अपनी दशा सुधार सकते थे। अच्छे जीवन-स्तर के लिए अपील की जाती है। अच्छी खेती-प्रणालियों में यह भली प्रकार समझाया जाता है कि ऊँची आमदनी, व्यक्तिगत कर की नीची दर तथा अच्छे स्कूलों में सीधा सम्बन्ध है।

बहुधा एक 'किसान-सभा' की स्थापना होती है। किसान अपने बीच से कुछ नेताओं को चुन लेते हैं जो कि मुफ्त फासफेट खाद (Phosphate) के बदले में टी० वी० ए० की रूप-रेखाओं के अनुसार अपने खेतों पर काम करने के लिये उद्यत होते हैं। उन्हें इन साधनों के लिये दाम चुकाने का संशय नहीं रहता है। इस तरह के प्रत्येक किसान को बहुधा 'एक प्रदर्शक किसान' (Test Demonstration Farmer) कहा जाता है। यह माना जाता है कि किसान अपनी स्थानीय दशाओं से भली भाँति परिचित रहता है। इसलिए काउन्टी एजेन्ट तथा अन्य विशेषज्ञ किसान को काम करना नहीं सिखाते हैं वरन् उसे केवल ऐसा वैज्ञानिक परामर्श देते हैं जिससे किसान स्वयं प्रबन्ध के लिए एक उचित मार्ग निर्णीत कर सके।

प्रदर्शन क्षेत्र (Test Demonstration Farm) की सफलता के पश्चात् एक क्षेत्रीय परीक्षा-प्रदर्शिनी (Area Test Demonstration) का आयोजन हुआ है जो कि उस समुदाय के कई खेतों को सम्मिलित करती है। एक ही भौगोलिक स्थिति वाले क्षेत्रों में ऐसा करना अति महत्वपूर्ण है। इसका प्रारम्भ तभी किया जाता है जब कि किसानों का एक प्रमुख भाग इसमें विशेष रुचि लेता है। यह क्षेत्र लगभग १०००—१०००० एकड़ है। एक प्रदर्शन क्षेत्र लगभग २५-५० एकड़ का होता है।

खेतिहर क्षेत्र का चौथाई भाग लगभग परीक्षा-प्रदर्शिनी के अन्तर्गत है। किसानों द्वारा दिलचस्पी लिए जाने का प्रमाण इसमें मिलता है कि Albama (अलबामा) में तीन साल में २४,००० किसान ८१ परीक्षा-क्षेत्र को देखने आए, यथा, मोटे तौर से हर तीसरे दिन एक किसान दर्शक प्रत्येक परीक्षा-खेत पर आता था। सन् १९३५-४० के बीच द० प० वरजीनिया में अपने खेत के लिए किसानों की फासफेट्स की माँग का प्रतिशत ५ से बढ़कर ७० हो गयी। सन् १९४० में उ० कैरोलिना में अप्रदर्शनीय काउंटियों में प्रति एकड़ १.३ पौन्ड फासफेट का प्रयोग हुआ लेकिन प्रदर्शनीय क्षेत्रों में औसत प्रति एकड़ ५६.६ पौंड (खाद का प्रयोग) हो गया था। वरजीनिया में, मूल्य-परिवर्तनों के अनुसार संतुलित हेर-फेर के बाद, परीक्षा-खेतों पर औसत प्राप्ति २,९८९ डालर से बढ़कर ३,५७४ डालर, तथा लगभग २०% बढ़ गई। जानवरों का उत्पादन २०% बढ़ गया तथा फसल का उत्पादन सन् १९३४-३९ में ३३% बढ़ गया।

भूमि-प्रयोग विवेचना

टेनेसी-घाटी में लगभग २६० लाख एकड़ जमीन है जिसका ६ लाख एकड़ भाग पानी से ढँका है। १४० लाख एकड़ जंगलों से ढँका है तथा लगभग १२० लाख एकड़ चरागाह, झाड़ियों तथा फसलों के अन्तर्गत है।

जंगली भूमि का ८७ लाख एकड़ बन से अच्छा काष्ठ (टिम्बर) मिलता है और वननिर्माण की गति से वन काटने की गति १.२५ बार अधिक है। फसली क्षेत्रों में ४५ लाख एकड़ भूमि की उर्वरा-शक्ति क्षीण होती जा रही है तथा लगभग १५ लाख एकड़ भूमि में कुछ अवधि छोड़ कर (भूमि की क्षमता नष्ट होने के कारण) खेती होती है। औसत खेत का जोत ५५ एकड़ से कम होता जा रहा है। बहुत से २०° ढालू क्षेत्र हैं तथा कुछ तो ४५° तक के हैं। वर्षा ४०"—८०" के बीच बदलती रहती है और बहुधा घनी वर्षा हो जाया करती है। यह सर्वसाधारण रूप से प्रचलित था कि ऐसी फसल यथा कपास, बाजरा, तम्बाकू, हर साल, व्यापारिक खादों के द्वारा पैदा की जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि इन पंक्ति-फसलों से मिट्टी का धरातल खराब होने लगा तथा इस तरह कृषि की भूमि विनष्ट हो गई।

टी० वी० ए० ने यह सोचा कि भूमि के अच्छे प्रयोग के लिए भूमि विषयक ज्ञान अनिवार्य है। सं० रा० के कृषि विभाग के मिट्टी-अनुसंधान विभाग की सहायता लेकर टी० वी० ए० ने वर्तमान मिट्टी विषयक ज्ञान को एकत्रित किया तथा तब से प्रगति के साथ अधिक क्षेत्रों का निरीक्षण किया है। सन् १९४२ तक घाटी के क्षेत्रफल के ४०,६०० वर्गमील में से २३,००० वर्गमील का निरीक्षण हो चुका था। प्रत्येक भाँति की मिट्टी की व्याख्या करते समय उसकी आंतरिक विशेषताओं तथा ढाल व कटाव की स्थिति को स्पष्ट करते हैं क्योंकि प्रत्येक मिट्टी फसल के उत्पादन तथा प्रबंध के साथ एक विशेष संबंध रखती है तथा इसकी सापेक्ष क्षमता, योग्यता, प्रबंध विषयक आवश्यकताएँ विभिन्न होती हैं। भूमि की बनावट जान जाने पर सबसे महत्वपूर्ण भूमि को नवीन प्रकार के खादों द्वारा, नवीन प्रयोगों के लिए चुना जा सकता है। तब प्रयोगों तथा खादों, फसलों तथा प्रबंध अभ्यास के साथ क्षेत्रीय अनुभवों द्वारा प्राप्त परिणामों की व्याख्या, वर्गीकरण तथा प्रयोग विस्तार में आसानी होगी।

स्थानीय लैन्ड ग्रान्ट कालेजों के परामर्श पर टी० वी० ए० ने यह निर्णय किया कि भूमि में खनिज पदार्थ की खादें विशेषकर फासफेट्स की खाद देना आवश्यक है और इसके साथ ही छीमीदार फसलों का उत्पादन किया जाय। यह भी निश्चित किया गया कि मिट्टी में नाइट्रोजन (नत्रजन) हो। प्रोग्रामों के स्तर निम्नांकित हैं।

उन्नत जीव-विज्ञान-संबंधी सुधार

(१) चूना, फासफेटस तथा अन्य खादों द्वारा अधिक छीमीदार पौधे तथा घास का उत्पादन।

(२) छीमीदार फसल तथा घास के उपयोग के लिए स्वस्थ पालित पशुओं में वृद्धि।

(३) छीमीदार पौधों तथा घासों के प्रयोग के बाद अच्छे गुण वाले पौधों का उत्पादन तथा उत्पादन में वृद्धि।

उन्नत क्षेत्रीय प्रबंध

(४) भूमि के प्रयोग में परिवर्तन, विशेषकर पंक्तिदार-फसलों को चरागाह तथा घास के खेत के रूप में।

(५) पालित पशुओं की संख्या तथा जातियों तथा पालित-पशु-उत्पादन की क्रिया विधियों में आवश्यक सुधार।

उन्नत-पारिवारिक कल्याण

(६) खेत पर बसर करने वाले परिवार के कल्याण तथा सुरक्षा में वृद्धि।

उन्नत समुदायिक कल्याण

(७) पड़ोस, समुदाय के काउन्टी, क्षेत्र, राज्य, स्थल तथा राष्ट्र में जनता के कल्याण तथा सुरक्षा में वृद्धि।

टी० वी० ए० के पहले ही, काउन्टी एजेन्टों ने किसानों से अपील की थी कि इस प्रदर्शिनी-प्रणाली पर काम करें परन्तु युक्त खादों के प्रदान और वितरण तथा किसानों के सम्मिलित प्रयत्न के बिना यह योजना असफल रही। साधारण खाद का केवल १६ से २०%अंश पौधों को भोजन स्वरूप मिलता है परन्तु टी० वी० ए० के मसल-सोल्स स्थित कारखाने में ऐसी सुपर फासफेट की खाद तैयार की गई है कि उसका ६३% अंश पौधों के काम आ जाता है। प्रति पौंड १.६ सेन्ट तथा ४० पौंड खाद प्रति एकड़ वार्षिक, के हिसाब से इसका व्यय ७६ सेन्ट प्रति एकड़ पड़ता है जिसके साथ किसान अपना श्रम, यंत्र तथा जोखिम सम्मिलित कर काम करता है। यह आशा की जाती है कि किसान अपने खेतों के विषय में एक ठीक हिसाब रखेगा परन्तु अंशत: विस्तृत सेवा प्रणाली की अक्षमता तथा अकुशलता के कारण खेत के लेखा-जोखा अच्छी तरह नहीं रखे जाते हैं।

उद्योग-विकास

घाटी में उद्योग का उल्लेखनीय विकास हुआ है। १६३३-५२ के बीच टी० वी० ए० जल-विद्युत शक्ति-क्षेत्र में निम्नांकित उद्योगों में वृद्धि हुई है: वनरक्षण और मछली का शिकार, भवन निर्माण, काष्ठ-शिल्प, कागज, रसायन, सूती कपड़ा तथा नकली रेशम (Rayon), मोजे, पोशाक, जूते, गद्दी का काम, आलमोनियम, खाद्यपदार्थ तथा जन-लाभार्थ वस्तुएँ। लोहे तथा इस्पात में भी वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त व्यापार, आर्थिक तथा पेशों से संबंधित रोजगार में वृद्धि हुई है।

टी० वी० ए० विद्युत स्थिति

टी० वी० ए० द्वारा उत्पादित विद्युत का अर्धांश बहुत बड़े उद्योगों, केन्द्रीय सरकार तथा कुछ प्राइवेट जन-सेवा कंपनियों में खप जाता है। शेष अर्धांश ६६ म्युनिस्पैल्टी और ५० सहकारी समितियों द्वारा वेचा जाता है। इसका लगभग आधा (अर्थात् कुल का लगभग पंचमांश) केवल ५००० व्यापार तथा उद्योग के हाथ बिक जाता है। घरेलू और छोटी मात्रा के उद्योग तो इन व्यापार व उद्योगों द्वारा उपभुक्त विद्युत का लाखवां भाग भी काम में नहीं लाते। अधिक विद्युत का उपभोग करने के क्रम से सूती, नकली रेशम, चमड़े, लोहे, रसायन, यातायात तथा अन्य जन-सेवा क्रियाएं (Public Utility), कांच, मिट्टी व पत्थर, खाद्य, रबर, कागज, काष्ठ-शिल्प, भवन-निर्माण, खनिज उद्योगों का स्थान है। इस प्रकार तीन-चौथाई विद्युत बड़ी संस्थाओं और उद्योगों में खर्च होता है। कुछ दिनों से कारखानों को विकेन्द्रित करने का प्रयत्न किया जा रहा है ताकि गांव के लोग फैक्टरियों में काम कर सकें। कुछ ऐसी ही व्यवस्था स्वीडेन के ग्रामों में है।

एक चौथाई विद्युत उपभोक्ताओं और किसानों द्वारा खरीदी जाती है। उपभोक्ता द्वारा बिजली का उपयोग घरेलू श्रम को कम करने की दृष्टि से क्रमशः प्रकाश, रेडियो, कपड़े पर लोहा करने, रेफ्रीजेरेटर, ठंढक गरमी रखने, रकेबी धोने, कपड़ा धोने, से संबंधित यंत्रों को चलाने के काम लाई जाती है। इनके अतिरिक्त किसान घर व खेत के लिए पानी निकालने, अन्न पीसने, छिलका छीलने, घास सुखाने, अनाज लादने, दूध दुहने, मुर्गी के अंडे सेने आदि कार्यों वाली मशीनों और यंत्रों को बिजली से चलाता है।

भारत में जल-विद्युत की खपत के लिए ऐसे ही विकास की आवश्यकता पड़ सकती है। परन्तु बड़े उद्योगों, व्यापारों तथा घरेलू जीवन में विद्युत-यंत्रों के उपयोग का जमाना अभी दूर है। यदि हम, सरकार और आयोग इस ओर विशेष ध्यान न देंगे तो नद-योजनाओं के तैयार हो जाने पर जल-विद्युत का हम पूर्ण लाभ न उठा सकेंगे।

एक बात और। सन् १९४१ के बाद बढ़ती बिजली की मांग को चतुर्मास पूरा करने के लिए टी० वी० ए० को स्टीम विद्युत प्लांट लगाने पड़े

हैं। अब तो यह स्थिति है कि टी० वी० ए० की ३५ लाख कि० वा० जल-विद्युत सामर्थ्य है तो १० लाख कि० वा० बिजली के स्टीम प्लांट लगे हैं। भारत में भी सूखे मौसिम में पानी की कमी के कारण दामोदर योजना में स्टीम प्लांट द्वारा बिजली तैयार की जाएगी।

जीवन-विकास

टी० वी० ए० के जल-विद्युत शक्ति-क्षेत्र में अन्य सात घाटीय सरकारों तथा सं० रा० अमरीका की परिस्थिति से तुलना करने पर ग्रामीण जन-संख्या में अधिक वृद्धि हुई है। वहाँ मजदूरों की संख्या में उनको मिले वेतन में तथा उनके द्वारा निर्माण योग-मूल्य में अधिक आनुपातिक वृद्धि हुई है।

जन संख्या	१६३०-४० के बीच प्रतिशत-परिवर्तन		
	विद्युत-शक्ति-क्षेत्र	७ घाटीय प्रदेश	सं० रा० अ०
ग्रामीण खेतिहर	२६	२.५	०.२
अन्य ग्रामीण	२१.८	१५.६	१४.२
नगर निवासी (000'S) :			
२.५—१०	११.५	१८.६	१०.३
१०—१००	६०.७	१८.४	१२.३
१०० से अधिक	१०.७	१३.७	४.६
कुल जोड़	१०.०	६.६	७.२

विषय	देशनांक (१६२६=१००)					
	विद्युत-शक्ति क्षेत्र		७ घाटीय प्रदेश		सं० रा० अ०	
	१६३५	१६३६	१६३५	१६३६	१६३५	१६३६
मजदूर	६१	१०८	८३	११४	८६	६४
मजदूरी	७५	१०१	८२	१०६	६७	८४
उत्पादन में वृद्धि	७०	६७	६५	६५	६२	८१

जनता के लिए मानसिक तथा नैतिक समृद्धि के लिए टी० वी० ए० ने बहुत काम किया है। जन पुस्तकालयों तथा राजकीय उद्यानों का निर्माण कर इसने मनोरंजक सुविधाओं को प्रदान किया है। ऐसी दशाओं में जहाँ पर परिवार, स्कूल तथा अन्य संस्थाएँ छिन्न भिन्न हो चुकी थी, केवल वेतन या पारिश्रमिक ही प्रदान नहीं किया गया बल्कि संस्थाओं के सुचारु रूप से संचालन के लिए पुनर्संस्थापन के लिए अच्छी सुविधाएँ भी दी गई। स्कूलों में ऐसा प्रबंध किया जाता है जिससे कि मजदूरों के बच्चों के लिए समान सुविधाएँ तथा अच्छा पोषण किया जा सके। उसके अतिरिक्त यह कार्यकर्ताओं की कार्य-क्षमता का निरीक्षण, स्कूलों की सफाई तथा सब प्रकार से एक स्वस्थप्रद वातावरण उत्पन्न करता है। टी० वी० ए० स्वच्छ रहने के लिए मकान, अच्छा भोजन तथा एक सुरक्षित जल-पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है। इन विषयों पर यह जन-साधारण को शिक्षा प्रदान करता है।

आर्थिक क्षेत्र में टी० वी० ए० लगभग ४.५% लाभ कमा चुका है :—

बही खाते में दर्ज लागत पूँजी	१६४३	१६४४	१६४५
करोड़ रुपयों में	६७	११६	१३०
वास्तविक लाभ का प्रतिशत	४.८	४.१	४.८

व्यक्तिगत व्यापारियों की अपेक्षा टी० वी० ए० ने प्रान्तीय सरकार तथा काउन्टी को अधिक कर दिया है। यद्यपि यह फेडरल टैक्स से मुक्त है, परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि टी० वी० ए० का सब बचत-धन समुदाय की सेवा में अन्य प्रकार के विकासों में लगाया जाना चाहिए।

सफलता की सीमाएं

टी० वी० ए० को अधिक सफलता मिलती यदि वह अपने खाद को खुले बाजार में सब को बेचता, यदि वह ग्रामीण उपभोक्ताओं को कम दर पर बिजली बेचता; यदि वह अपनी श्रम-शक्ति या सहकारी समितियों द्वारा स्थानीय खनिज के निष्कासन तथा उत्पादन में सुधार तथा अच्छी कार्य-प्रणाली को प्रोत्साहन देता; तथा ऐसी उत्पादन-सहकारी-समितियों को प्रोत्साहन देना बन्द न करता जो कि अंशात्मक, रोजगार का रास्ता खोलती हैं तथा कृषि-विषयक कामों में सहायक सुविधाएँ देती हैं। वहाँ कृषि पदार्थों के रूप

परिवर्तन (Processing) फल संरक्षण, ग्रामीण दस्तकारी तथा कारखानों के विकास के लिये बहुत अवसर है।

सफलता के कारण

टी० वी० ए० को सफलता क्यों मिली है? प्रथम, नदी का सारा डेल्टा एक समपदस्थ तथा सम्मिलित साधनों के विकास के लिए आदर्श इकाई है। इस क्षेत्रीय आयोजना के बड़े प्रयोग की सफलता में टी० वी० ए० के अन्तर्गत क्षेत्र की सीमा, इसकी आर्थिक, सामाजिक तथा भौगोलिक एकता ने काफी सहायता किया है। वहाँ पर न तो प्राकृतिक बाधाएँ (यथा, जंगल, पहाड़ या दलदल) न कृत्रिम बाधाएँ (यथा, व्यापार या सीमा कर) हैं। द्वितीय वहाँ पर विशेषज्ञों तथा जनता में बहुत ही गहरा सहयोग रहा है। विशेष कालेज तथा प्रयोग शालाओं को अलग रखने वाली प्रवृत्तियों को पसन्द नहीं करते। जनता के सम्पर्क में रहते हुए कलाकुशल कर्मचारी यह ज्ञात कर लेते हैं कि जनता क्या चाहती है। जनता उनमें अधिक सम्पर्क तथा अधिक विश्वास रखने लगती है, उनकी दलगत तथा राजनैतिक आक्रमणों से रक्षा करती है, तथा उनके विशेष पेशों तथा वैज्ञानिक खोजों में और सहायता भी देती है। तृतीय, टी० वी० ए० ने अपने अफसरों, मजदूरों को राजनैतिक आधार पर नहीं प्रत्युत योग्यता और क्षमता के आधार पर नियुक्त किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि डाइरेक्टर अपने जोखिम की सफलता के लिए अपने कार्यालय के कर्मचारियों को चुनने में बहुत ही सतर्क रहने लगे। चौथा, विकास का सबसे प्रधान कारण यह है कि जनता साधनों के विकास के सक्रिय प्रयास में सीधा सहयोग देती है। वह किसान सभाएँ बनाती है। दोनों वर्तमान तथा भविष्य के लिए जिनमें वे अपने प्रतिनिधि किसानों को भेजती हैं जो किसान तथा सभा कार्यालय या कार्यालय के बाहर की एजेन्सियों के बीच मध्यस्थता का काम करते हैं तथा जिनमें से परीक्षा प्रदर्शक किसानों का चुनाव होता है। प्रौढ़ शिक्षा तथा सहकारी संस्थाएँ ऐसी प्रमुख प्रगतियाँ हैं जो जनता के सक्रिय हितों को लाने में सहायक होती हैं।

एक ऐसा क्षेत्र जो एक नदी के सम्पूर्ण डेल्टा में फैला है, विशेषज्ञों तथा जनता में सहयोग, अराजनैतिक सच्ची सेवा, तथा किसानों

द्वारा (जो अच्छी तरह शिक्षित व नियंत्रित हैं तथा धन की सहायता प्राप्त करते हैं) साधनों के विकास में सक्रिय भाग—यह सब ऐसे आधार हैं जिनके कारण सन् १९३३ से स्वतंत्र टी० वी० ए० सफलता प्राप्त कर रही है।

टी० वी० ए० तथा भारत

भारत में नद-योजनाओं के लिए दो अन्य सुविधाएँ हैं। (१) टी० वी० ए० के विपरीत, हमें बिजली तथा सिंचाई के लिए पानी की भी आवश्यकता है। नदी घाटी के ऊपरी भाग में बिजली का उत्पादन हो सकता है तथा नदी की घाटी के निचले भाग में सिंचाई के लिए पानी का प्रयोग हो सकता है। (२) चूँकि हमारी जनसंख्या घनी है इसलिए टी० वी० ए० की अपेक्षा हमारी योजनाएँ (Projects) अधिक लोगों को लाभ दे सकेंगी और सामूहिक ग्राम जीवन के कारण वितरण-व्यय भी कम पड़ेगा।

परंतु, जैसा हम संकेत कर चुके हैं यदि हम टी० वी० ए० के समान विद्युत-उपभोग करना चाहते हैं तो विद्युत-उपभोग के ढंगों और साधनों का प्रचार और प्रसार के लिए आयोजित प्रयत्न करना पड़ेगा। भारत सरकार ने इस आशंका के कारण ही अभी हाल में तत्संबंधी अध्ययन करने के लिए एक समिति नियुक्त की है।

यदि हम इन योजनाओं के विषय में मितव्ययता के साथ सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, तो यह अत्यावश्यक है कि टी० वी० ए० को सफल बनाने वाली प्रणालियों पर हमें भी चलना चाहिए। प्रत्येक दशा में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि टी० वी० ए० के अधिकारियों द्वारा योजना के अनुसंधान तथा आयोजना निर्माण में ही कई साल लग गये थे। फिर भी बहुत लोग इस योजना को अभी एक अरब डालर की गुड़िया (A billion dollar Baby) ही समझते हैं।

द्वितीय परिच्छेद का दूसरा परिशिष्ट

भारतीय बहुउद्देशीय नद-योजनाएँ

द्वितीय महायुद्ध के बाद हमारे राष्ट्रीय साधनों के विकास के लिए भारतीय सरकार द्वारा जो उत्साह तथा प्रयत्न बड़े पैमाने पर योजनाओं के रूप में परिलक्षित होता है अन्य किसी आर्थिक क्षेत्र में नहीं है। फिर भी यह विकास बहुत ही कम है। वर्तमान अभ्यासों तथा प्रोग्रामों की पृष्ठभूमि के लिए इस विषय पर जो विचार विकसित हुआ है उस पर संक्षिप्त प्रकाश डालना उचित है।

सन् १९३९-४० में जब राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) ने हमारे आर्थिक ढाँचे के विभिन्न दिशाओं में तफसील के साथ अनुसंधान करना शुरू किया तब हमारे पानी तथा भूमि-साधनों के बड़े उचित पैमाने पर प्रयोग में लाने के विषय पर पहली बार सुव्यवस्थित रूप से सोच विचार करना प्रारम्भ हुआ। नदी बंधन तथा सिंचाई समिति (Committee on River Training and Irrigation) ने एक उत्साह के साथ कल्पनात्मक रूपरेखा का निर्माण किया तथा इसकी स्वीकृतियाँ इस विषय में काम करने वाले पुराने नियमों की तुलना में काफी आगे बढ़ी हुई थीं। परिपाटी निहित जलमार्ग-नीति इस देश में तब तक पूर्णतया "उत्पादन के मापदंड" (Criterion of Productivity) पर आधारित रही है तथा उत्पादकता का मापदड योजना को लागत पर आमदनी की दर थी। यह प्रारंभिक दस वर्षों में इतनी होती थी कि न केवल चालू व्यय ही निकल आता वरन उस हेतु सरकारी ऋण का सूद भी निकल आता। इस कड़ी आर्थिक लाभ की नीति वाली सतकता के कारण साधनों की प्रगति कुछ भी नहीं हो पाती थी। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सन् १९४० में हमारे पानी के साधनों के विकास के लिए बहुत कम योजनाओं को चलाया गया। राष्ट्रीय नियोजन समिति ने पहली बार हमारे जल-साधनों के

उत्तम प्रयोग के लिए हमारी राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में इसके महत्व पर जोरदार प्रकाश डाला। इसने ये विचार प्रकट किए :—

"इस देश के जल साधनों के प्रयोग तथा सुरक्षा के लिए और प्रयत्नों में अधिक ऊँचे स्तर तक समपदस्थता तथा पारस्परिक संबन्ध स्थापन के लिए एक राष्ट्रीय जल-साधन बोर्ड (National Water Resources Board) का निर्माण, करना चाहिए। हमें विश्वास है कि जनता के उन हित को अधिकतम प्राप्त करने के लिए जो कि पानी द्वारा सम्भव हैं इन साधनों को नियंत्रित करना तथा अधिकृत करना केवल एक बुद्धिमत्तापूर्ण राजनीतिज्ञता ही नहीं वरन् एक अच्छी अर्थशास्त्रज्ञता होगी।"

यह पुरानी नीति की गतिहीनता जो उत्पादन शक्ति के मापदंड पर गलत रूप से आधारित मान ली गई थी की तुलना में एक बहुत बड़ी प्रगति थी। तब भी व्यवहारिकता के अभाव में नई नीति ठीक ढंग से काम नहीं कर सकी क्योंकि न तो इन्जीनियरों और न प्रबंधकों द्वारा पानी नियंत्रण के लिए एक उपयुक्त वैधानिक नीति-निर्धारण हुआ। राष्ट्रीय प्लैनिंग समिति जल-नियंत्रण के प्रमुख उद्देश्यों को भलीभाँति समझ गई थी, यथा, सिंचाई, नौ-व्यापार, बाढ़-नियंत्रण, नदी-प्रबंध, जल-विद्युत-शक्ति आदि, परन्तु वह भी अभी तक एक उपयुक्त जल-नियंत्रण कला (Technology) को प्राप्त नहीं कर सकी थी जो कि इन उद्देश्यों को कुशल तथा मितव्ययता के साथ प्राप्त करने का निश्चयात्मक विश्वास दे सकती है। इस कला (टेकनालाजी) की बाह्य मोटी रेखाएँ भारतीय इंजीनियरों तथा प्रबंधकों के समक्ष प्रथम बार तब स्पष्ट हुईं जब सन् १९४३ की विनाशी दामोदर बाढ़ के बाद भारत सरकार द्वारा बंगाल सरकार के साथ नीति में क्रांतिकारी परिवर्तन करनेवाला विचार-विनिमय हुआ तथा जब सन् १९४५ के कोसी बाढ़ के बाद बिहार सरकार से भी इस दिशा में बातचीत हुई।

नई नीति का सार यह था कि वह देश के जलमार्गीय साधनों को केवल एक उद्देश्य के लिए ही नहीं परन्तु बहुउद्देशीय-आधार पर काम में लाना चाहती थी और उनके उत्पादनों के प्रयोग को, यथा, जल, बिजली तथा उससे उत्पन्न फलस्वरूप सुविधाओं को (यथा, नौ-व्यापार) नदी के डेल्टा के

सारे क्षेत्र के विकास के लिए एक आर्थिक तथा सामाजिक योजना में सम्मिलित करना चाहती थी। यह नीति केवल भारत के लिए नई थी; संसार के अन्य भागों में तो यह पहले ही विशेष सफलता के साथ प्रयोग में लाई जा चुकी है। यह हमारी राष्ट्रीय प्रणाली तथा संस्था में दो प्रमुख परिवर्तन लाना चाहती थी :—

१—योजना (प्रोजेक्ट प्लैनिंग) के व्यवस्थापन की प्रणाली में एक महान परिवर्तन।

२—सम्पूर्ण नदी के डेल्टीय क्षेत्र के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक प्रबंध-व्यवस्था के ढांचे में एक संबद्ध परिवर्तन।

भूतकाल में, जब हमारे जलमार्ग को केवल एक उद्देश्य के लिए ही प्रयोग में लाया जाता था (यथा, सिंचाई की जल की पूर्ति या जल-विद्युत-शक्ति की पूर्ति के लिए) तब टेकनिकल आयोजन के अन्तगत केवल टेकनिकल अनुसंधान तथा आधारभूत जलशास्त्र, अन्तरिक्ष विद्या तथा भूगर्भ शास्त्र संबंधी समंकों का संचय तथा विश्लेषण करना था जिनका संबंध वर्षा, प्रवाह की गति तथा भूगर्भीय स्तर की बनावट से था क्योंकि इनके आधार पर जल-विद्युत-शक्ति संबंधी ढांचे का निर्माण होना आवश्यक था। तब तक व्यवस्था विभाग की ओर से परिपाटी निहित आयोजन के अंतर्गत निर्माण के लिए केवल आवश्यक सामग्री और श्रम एकत्र करने की समस्या उठती थी।

जल-नियंत्रण की नवीन बहुउद्देशीय टेकनालाजी ने विशद् आयोजन, विस्तृत तथा विभिन्न समंक का संचय तथा व्याख्या को आवश्यक बना दिया। व्यवस्था की दिशा में विज्ञान तथा टेकनालाजी शास्त्र की बहुशाखाओं में सहयोग-पूर्ण सम्मिलित कार्य ऐसी खोजों के लिए आवश्यक हो उठा जैसे, मलेरिया-खोज, मिट्टी-सुरक्षा, विभिन्न प्रकार की रासायनिक तथा भौतिक विज्ञान-संबंधी खोज, व्यावसायिक तथा व्यापारिक खोज, एक विस्तृत क्षेत्रीय आर्थिक अनु-संधान, शास्त्रीय-खोज तथा सबसे पहले बहुसंख्यक सामाजिक आचार के पहलुओं पर व्यवस्था-संबंधी अनुसंधान। जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि एक बहुउद्देशीय आधार की प्रोजेक्ट-आयोजना, एक नदी के डेल्टा के सम्मिलित आर्थिक तथा सामाजिक विकास की आयोजना का दूसरा नाम है। इतनी बड़ी विशद योजना का कार्यभार किसी सरकार के एक

इंजीनियरिंग विभाग के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता चाहे वह विभाग कितना भी कुशल क्यों न हो। इसलिए टेनेसी-घाटी अधिकारी वर्ग या दामोदर घाटी कारपोरेशन की तरह इस तरह के कामों को स्वतंत्र प्रबंधक संस्थाओं के हाथ में सौंप देने की प्रवृत्ति आधुनिक विकास योजनाओं के लिए बढ़ती जा रही है।

ऊपर हमारी जलमार्गीय-विकास की नई नीति के विषय में जो कुछ कहा गया है उसको सारे भारत के पैमाने पर लागू करने में अनिवार्य रूप से कई साल लगेंगे क्योंकि देश के प्रमुख जल-साधन भारत भर में फैले हुए हैं जिनको हमारे क्रियात्मक वर्तमान उद्देश्य के लिए निम्नांकित नदी-डेल्टाओं में विभाजित किया जा सकता है :—

१. पूर्वी पंजाब का नदी भाग जो कि पहले सिन्धु डेल्टा का एक भाग था परन्तु देश विभाजन ने इसको मुख्य नदी-भाग से अलग कर दिया है।

२. गंगा का केन्द्रीय डेल्टा (उसके उद्गम तथा यू० पी० के पूर्वी सीमाओं के बीच)।

३. पूर्वीय गंगा का डेल्टा, प्रमुखतया गंगा के उत्तरी शाखाओं द्वारा आच्छादित।

४. उत्तरी आसाम में ब्रह्मपुत्र का क्षेत्र।

५. हुगली या भागीरथी-डेल्टा जो पूर्वी बिहार तथा लगभग पूर्ण पश्चिमी बंगाल में फैला है।

६. उड़ीसा के नदियों का भाग जिसके उत्तर में सुवर्नरेखा प्रदेश (Subarnarekha) तथा दक्षिण में महानदी है।

७. शक्तिशाली गोदावरी का भाग जो अपनी शाखाओं के साथ बंगाल की खाड़ी में मिल जाती है।

८. कृष्णा का डेल्टा जो मद्रास तथा पूर्वी मद्रास के कुछ सूखे जिलों को आच्छादित करता है।

९. कावेरी का डेल्टा दक्षिण के अन्य किसी भी नदी के डेल्टा से अधिक प्रयोगार्ह है।

१० ताप्ती तथा नर्बदा नदियों का भाग मध्यभारत में।

११. मालवा की नदियों का भाग राजपूताना में प्रारम्भ हो कर चम्बल के चारों तरफ जो यमुना में मिल जाती है।

इन नदियों द्वारा आच्छादित क्षेत्र हजारों वर्गमील है तथा ये लाखों एकड़ भूमि की सिंचाई के लिए पानी दे सकती हैं। इस महान् जल-शक्तिसाधन का एक थोड़ा-सा अंश (५.५°/。) ही वर्तमान समय में काम में लाया जाता है तथा निम्नांकित तालिका यह प्रदर्शित करती है कि ऐसे ही जल-शक्ति वाले संसार के अन्य देशों में कितनी जलशक्ति काम में लाई जा रही है :—

रूस	३४%	स्वीडन	२७%
फ्रान्स	४२%	नार्वे	५३%
जर्मनी	५४%	कनाडा	३६%
स्वीटजरलैन्ड	६७%	सं० रा० अ०	२४%

सन् १६२१ में जे० डब्लू० मेअर्स ने जो जल-विद्युत-शक्ति अनुसंधान विभाग के डाइरेक्टर थे, यह गणना की थी कि हमारी नदियों की जल-शक्ति क्षमता ५० लाख कि० वा० के लगभग है परन्तु स्वयम मेअर्स ने यह स्वीकार किया था कि गणना केवल बौद्धिक अनुमान मात्र थी। उन्होंने अपनी गणना को प्रमुखतया नदियों में उपलब्ध "अधिकतम निरन्तर पूर्ति" के आधार पर बनाया था। परन्तु पश्चात् की गणना लगभग ३५०-४०० लाख कि० वा० तक पहुँचती है। हमारी वर्तमान प्रयोगाधीन विद्युत-शक्ति की क्षमता लगभग ५००.००० कि० वा० है जो कि हमारे जल-साधनों की क्षमता का २३% मुश्किल से है। जल-विद्युत-शक्ति के विकास के लिए हमारी वर्तमान योजनाएँ सम्भवतः १६५५ तक वर्तमान क्षमता को लगभग ३० लाख कि० वा० तक बढ़ायेंगी। फिर भी उस क्षमता का प्रतिशत हमारी सम्पूर्ण जल-शक्ति-क्षमता का ७ या ८ प्रतिशत होगा। केन्द्रीय, प्रादेशिक सरकारों के अन्तगत जल-विद्युत-शक्ति के प्रोजेक्ट (आयोजनाएँ) अपने विकास के विभिन्न स्तरों पर हैं। उनकी विद्युत-शक्ति-क्षमता निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है:—

क्रम संख्या	प्रोजेक्ट का नाम	ला० पूँजी रोकड़ रु० में	बांध की क्षमता एकड़ फीट	सिंचाई के लिए क्षेत्र (एकड़ में)	उत्पादित की जाने वाली बिजली (कि०वा०में)
१	दामोदर घाटी योजना	५५	२२.७लाख	७६०,०००	३५०,०००
२	मोर प्रोजेक्ट	७.२	१० ,,	६००,०००	४,०००
३	कोसी ,,	१००	११० ,,	३,०००,०००	१,०००,०००
४	महानदी (पूर्ण योजना)	४७.८	२३० ,,	२,५०० ०००	५००,०००
५	रिहान्ड प्रोजेक्ट	६	६० ,,	६३५,०००	१७०,०००
६	नरबदा प्राजेक्ट	अभी गणना नहीं हुई	२२७.६ ,,	३,७००,०००	१,०००,०००
७	ताप्ती ,,	,,	२६.४ ,,	७०० ०००	४८,०००
८	चम्बल प्रोजेक्ट	,,	५० ,,	२००,०००	२००,०००
९	भाकरा प्रोजेक्ट	७५	३५ ,,	४,५००,०००	१६०,०००
१०	रामपद सागर प्रोजेक्ट	१२५	१२० ,,	१,६००,०००	७५,०००
११	तुंगभद्रा ,,	१०	२६ ,,	३००,०००	७०,०००
१२	गोन्डोकोटा ,, (मद्रास में)	३०		१००,०००	अनुसंधान में
१३	निचला भवानी प्रोजेक्ट	४		२००,०००	—
१४	भद्रा (मैसूर) ,,	८.२८	१५	१८०,०००	१७,०००
१५	जवाई प्रोजेक्ट (जोधपुर)	अप्राप्य	१५	११०,०००	४,५००
१६	नायर प्रोजेक्ट	१५	१४	—	१००,०००

यह निर्देश करना आवश्यक है कि ये अंक हमारे जल-विकास की टेकनिकल सम्भावनाओं को ही परलक्षित करते हैं। सक्रिय वैधानिक नीति का उद्देश्य उन सम्भावनाओं को व्यवहार में कार्यान्वित करने के लिए यत्न करना होगा। वादविवाद में अधिकारीगण यह भूल जाते हैं कि ये प्रोजेक्ट सम्भावना के क्षेत्र में हैं। अतः वे और उनके साथ ही जनता कभी कभी यह सोचने लगती है कि बस अब बड़े बड़े कार्य समाप्त होने ही वाले हैं तथा उन्हें यह भ्रम होता है कि अब एक या दो साल में ही धरती पर घी-दूध की नदी बहने लगेगी, सिंचाई के लिए अत्यधिक पानी मिलेगा, हमारे आयोजित ग्रामीण व्यवसायों

तथा हमारे कृषि को नवीनतम रूप देने के लिए सस्ती विद्युत-शक्ति मिलने लगेगी तथा सर्वसाधारण का जीवन-स्तर सम्पूर्णतया ऊँचा हो जायगा। यह एक भविष्य का आदर्श रूप है जिसका स्वप्न हम सब को देखना चाहिए। परन्तु यह स्वप्न साकार तभी होगा जब कि हमारे इन्जीनियर तथा कला-विशेषज्ञ आधुनिक अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर धीरे-धीरे अपनी दिशा में प्रगति करते जायेंगे और यदि हमारे शासकों में इतनी योग्यता होगी कि वे हमारे साधनों तथा जन-शक्ति को अच्छे प्रयोग में ला सकें तथा उनको महत्ता और प्रमुखता के अनुसार देश की सभी योजनाओं में वितरित कर काम में ला सकें। आर्थिक-यत्न के सभी क्षेत्रों में आधारभूत आर्थिक समस्याएँ एक समान ही होती हैं, यथा, न्यून साधनों को बहुत तथा विभिन्न योजनाओं में वितरित करना। यह अवश्य स्पष्ट करना चाहिए कि हमारे जल तथा बिजली के उपलब्ध साधन के विकास के लिए केवल दीर्घकालीन प्राथमिक अनुसंधानों की ही आवश्यकता नहीं है वरन् अर्थ, प्लान्ट तथा कल-पुर्जे और उचित ऊंचे पद के कला विशेषज्ञ कर्मचारियों की पूर्ति जिनके विषय में हम (इस देश में) बहुत ही पिछड़े हैं, भी आवश्यक हैं। हमें आश्चर्य नहीं होगा कि यदि कुछ साल में ही कुछ योजनाओं को एक या अन्य कारणों से स्थगित, कुछ बन्द तथा कुछ हेर-फेर या सुधार या काट-छाँट किया जाय। साधनों के विकास के लिए कोई भी योजना सदा निम्नांकित स्तरों से गुजरती है:—

(१) क्षेत्र का इसके भौतिक तत्वों तथा विशेषताओं की स्थिति के अनुसार निश्चित करने के लिए अनुसंधान।

(२) अनिवार्य शिल्प-कला-विज्ञान समंक के संचय के लिए खोज जिसके आधार पर ही केवल एक तफसील के साथ विकास-योजना का निर्माण हो सकता है।

(३) योजना की नींव का निर्माण।

(४) रूपरेखाओं का निर्माण।

(५) प्रोजेक्ट का निर्माण।

(६) योजना द्वारा प्रस्तुत अंतिम सेवाओं का प्रयोग।

ये विभिन्न स्तर साधनों के विकास में एक प्रकार से स्वाभाविक गति-हीनता पैदा करते हैं और बाधाएँ लाते हैं। इनको धैर्य्य तथा कठिन परिश्रम द्वारा दूर करना चाहिए। चाहे जितना ही कुशल कर्मचारी क्यों न हो, कोई उनको छलांग मार कर पार नहीं कर सकता तथा केवल प्रचार या प्रकाशन-प्रसार से तो और कम सफलता होगी। साधनों की विकास योजना के लिए ये विभिन्न स्तर और सीढ़ियाँ वैज्ञानिक आधार-शिला का निर्माण करती हैं।

अन्य अ-शिल्प शक्तियां, यथा योजना के कल-पुर्जों की तथा जन-शक्ति की प्राप्ति अतिरिक्त बाधाएं उत्पन्न करती हैं। कम से कम आगामी पाँच वर्षों में शायद वे हमारे सभी विकास-योजनाओं को बहुत देर तक प्रभावित करेंगी और यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमारे विशेषज्ञ या प्रबन्धक ही नहीं वरन् जनता द्वारा भी इन बाधाओं की वास्तविक महत्ता को समझा जाना चाहिए क्योंकि अंत में जनता को ही अपरिपक्व तथा अनार्थिक योजना के फलों को भुगतना पड़ेगा।

ऊपर के पैराग्राफ के तर्क से यह स्पष्ट है हमारे जल तथा विद्युत-शक्ति के साधनों के विकास के लिए एक यथार्थवादी नीति निम्नांकित सामान्य रेखाओं पर अवश्य आधारित होनी चाहिए:—

सर्वप्रथम, प्लान्ट, कल-पुर्जे तथा प्रशिक्षित जन-शक्ति, जो कि विद्युत-जल शक्ति की योजना को सक्रिय रूप देने में कुछ सालों के लिए प्राप्य है, को अंकित करते हुए परिवर्तनशील साधनों की एक बजट तैयार करना चाहिए।[२] इस बजट को बनाते समय हमारे आर्थिक ढाँचे के

---

[२] भारत में १७० बड़े और छोटे प्रोजेक्ट को सक्रिय रूप देने के लिए, यह गणना की गई है कि हमको १२०८ करोड़ रूपये, १६७ करोड़ डालर तथा १०० करोड़ स्टर्लिंग के साथ व्यय करना पड़ेगा। इस तरह अपने देश के ही ६२६ करोड़ रुपये की आवश्यकता पड़ेगी। वस्तुगत हमें १७ लाख टन इस्पात, १४७.८ टन सीमेन्ट, २६ लाख टन डिजेल आयल, तथा २२ लाख टन पेट्रोल की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिए इसके कारण १३-७ लाख रुपये के बराबर डालर तथा ७.२५ लाख रुपये के बराबर स्टर्लिंग की वार्षिक कमी व्यय के बाद होगी। अन्य सामान जो वार्षिक रूप से आवश्यक होंगे वे ये हैं:

अन्य विभागों की आवश्यकताओं को अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा तथा एक कुशल अधिकारी वर्ग द्वारा पहले से ही यह निर्णय कर लेना पड़ेगा कि किन आयतों (items) को प्रथम स्थान दिया जाय। निस्सन्देह यह बजट में समय समय पर हेरफेर करना पड़ेगा परन्तु इस विद्युत-शक्ति के बजट के अन्तर्गत एक दूसरी योजना तफ़सील के साथ वितरण के लिए बनाना पड़ेगा। केवल यह जान लेना पर्याप्त नहीं कि देश में प्लांट, कल-पुर्जे तथा जन-शक्ति कितनी मात्रा में कुछ वर्ष तक प्राप्य होगी। यह भी जानना आवश्यक है कि विशेष विद्युत-शक्ति योजनाओं में इन साधनों को किस तरह वितरित किया जायगा। इस वितरण का स्पष्ट तथा अनिवार्य-प्राय सिद्धांत कुछ साल की अवधि के बाद हमारी लागत पर प्रत्याशित आमदनी पर ही आधारित रहता है। यदि अन्य चीजें स्थायी रहें तो वे योजनाएँ जो भविष्य में ऊँचे दर से अधिक उत्पादन कर सकेंगी अन्य की अपेक्षा प्राथमिकता प्राप्त करेंगी। उदाहरणस्वरूप, एक १ लाख किलोवाट वाली विद्युत-शक्ति योजना को जिसकी पूर्ति के पश्चात् शीघ्र ही १००,००० कि० वा० विद्युत-शक्ति का उपभोग कर सके। (यदि अन्य चीजें स्थायी रहें तो) अन्य ऐसी योजनाओं के अपेक्षा—जो १० लाख कि० वा० की बिजली दे सकेंगी परंतु ऐसे क्षेत्र में हैं जहाँ पर विद्युत-शक्ति के पूर्ण उपभोग में कई वर्ष लग जायँगे—प्रथम स्थान दिया जायगा। यह कुछ ऐसी तफ़सील की चीजें हैं जिनका किसी विद्युत-शक्ति-योजना को सक्रिय रूप देने की स्वीकृति के पहले ठीक निरीक्षण प्रबंधक-अधिकारी वर्ग द्वारा संबंधित बातों के अनुसार सतर्कता के साथ होना चाहिए।

यदि एक बार किसी विशेष जलमार्ग-विकास-योजना को चलाने के लिए ऊपर लिखित नीति के अनुसार निर्णय हो चुका है, तो एक आवश्यक अधिकार रखने वाली स्वतंत्र संस्था के हाथ में इस योजना को क्रियात्मक विधि दे देना चाहिए जैसा कि इस निबंध के प्रारम्भिक भाग में प्रदर्शित किया गया है। भारत-सरकार का १९३५ का कानून (Act) इस तरह के स्वतंत्र (ad hoc) संस्थाओं के निर्माण के पक्ष में नहीं था तथा दामोदर-

---

१,२९ लाख टन इस्पात, ८.२९ लाख टन सीमेन्ट, ३४,००० टन डिजेल आयल तथा २,१६३ टन पेट्रोल।

घाटी कारपोरेशन संबंधित प्रादेशिक सरकारों के साथ इकरार करके ही बनाया जा सका था और उस इकरारनामे को प्राप्त करने में तीन साल लग गए। सौभाग्य से नवीन विधान केन्द्रीय व्यवस्थापक सूचीपत्र में अंतर्प्रादेशिक जल-मार्ग को सम्मलित कर लिया है। अब भारत सरकार के लिये सम्भव होगा कि वह हमारे प्रमुख नदी डेल्टाओं के विकास के लिए एक उचित शासन व्यवस्था के लिए कानून बना सके। यह भी आशा की जा सकती है ऐसे कानून, शीघ्र ही, इस देश में एक विधिवत् तथा रचनात्मक विकास के एक नवीन युग की आधारशिला का रोपण करेंगे।

पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत प्रगति व कठिनाई

अब तो नद-योजनाएं हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत विकसित की जा रही हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के तीन वर्ष पूरे हो गए। दो वर्ष शेष हैं। १४० बड़ी सिंचाई योजनाओं तथा १०० शक्ति-योजनाओं पर ६७० करोड़ रुपए व्यय होना है: बड़ी सिंचाई योजना, ४३० करोड़ रुपए; शक्ति-योजना, १२८ करोड़ रुपए तथा छोटी सिंचाई योजना पर ११२ करोड़ रुपए। योजना लंबी है। १५-२० साल में सिंचाई का क्षेत्र दुगुना अर्थात् २ करोड़ एकड़ अधिक तथा ७० लाख किलोवाट बिजली तैयार करने का ध्येय है। परंतु तीन वर्ष बाद सिंचाई के क्षेत्र में केवल ४० लाख एकड़ की अनुमानित[३] वृद्धि हुई। क्या आगामी दो वर्षों में हम १६० लाख एकड़ अधिक

---

[३] इसके प्रति संदेह पैदा करने वाली एक बात का उल्लेख कर दें। उत्तर प्रदेश में सन् १९५४-५५ के सिंचाई सम्बन्धी बजट की मांग के समय सरकार की ओर से कहा गया था कि सिंचाई की नालियां तो बढ़ गई थीं परन्तु नहरों में पानी नहीं बढ़ा था; अतः किसानों को पर्याप्त पानी न मिल सका। सन् १९४६-५३ के बीच उत्तर प्रदेश में नल-कूपों की संख्या और नहर की लंबाई क्रमशः १८४७ से बढ़ कर २,६११ तथा १७,८४४ मील से बढ़ कर २०,१५१ मील हो गई। अतः ७६४ नल कूप बढ़े और यदि प्रति नल कूप ४०० एकड़ भूमि की सिंचाई करते हों तो अतिरिक्त सिंचाई लगभग ३ लाख एकड़ हुई। प्रदेश में कुल सिंचाई का क्षेत्र ६८ लाख एकड़ से बढ़ कर ८३.५ लाख एकड़ हो गया अर्थात १५.५ लाख की वृद्धि हुई। नल-कूप का क्षेत्र निकाल कर

क्षेत्रों को सिंचाई की सुविधा दे सकेंगे। योजना आयोग मानता है कि अभी तक जो कुछ कार्य पूरा हुआ है वह बहुत कम है।[४] कारण : (१) अधिकारी, इंजीनियर आदि कार्य में तीव्रता और क्षमता की आवश्यकता का महत्व नहीं समझते, (२) जनता का भी उत्साह नहीं है। जो कमजोरी और भ्रष्टाचार है वह सर्वविदित गोपनीय बात है। यदि जनता में उत्साह, क्षमता और सत्यता का जोश नहीं आएगा तो शायद व्यय भी अधिक पड़ेगा, काम धीरे धीरे होगा और समय लगेगा।

अधिक व्यय की चिंता के कारण ही अधिक निधि जुटाने के दृष्टिकोण से प्रगति-कर (Betterment Levy) लगाई जा रहा है।[५]

बांध बन जाने पर खेतों तक पानी पहुँचाने के लिए नहरें, गूल और नालियां चाहिए। यह काम भी पिछड़ा है और इसको आगे बढ़ाने के लिए ग्रामवासियों की श्रमिक-सहकारी समितियों के विकास पर जोर दिया जा रहा है। यह भी सुझाव है कि बिना ठेकेदारों के टेन्डर मंगाए ही स्थानीय गूल व नाली बनाने का काम ऐसी समितियों को सौंप दिया जाय।[६] निस्संदेह ऐसी

१२.५ लाख भूमि बची। सरकारी उल्लेख के अनुसार १.७५ लाख एकड़ क्षेत्र की सिंचाई का जल नगवा, ललितपुर, सपरेरा तथा कबरई बांध से मिलने लगा। अतः ११ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई पिछली नहरों से ही हुई यद्यपि उनमें पानी नहीं बढ़ा था। ऐसी वृद्धि कागजी वृद्धि के समान है और जनता इससे कब तक धोखा खाएगी।

[४] यद्यपि आयोग उससे प्रोत्साहन का अनुभव करता है।

[५] बंबई, पंजाब, हैदराबाद, मैसूर, राजस्थान और पेप्सू में तत्संबंधी एक्ट बनाए जा चुके हैं। आसाम, मद्रास, पश्चिमी बंगाल तथा उत्तर प्रदेश में एक्ट विचाराधीन हैं। बिहार, उड़ीसा, मध्यभारत तथा ट्रे-कोचीन ने अभी ऐसे कर लगाने के सिद्धान्त को वांछनीय स्वीकार किया है।

[६] सन् १९५३ में बंबई में ४२ ऐसी समितियाँ थी। कुछ राजस्थान और पंजाब में भी बनी हैं। मद्रास में लोअर भवानी योजना के लिए समितियाँ तो नहीं परंतु श्रमिक-समूह बनाए गए हैं।

समितियां खुदाई आदि के काम में अधिक सफल हो सकती हैं बशर्ते उनका नेतृत्व करने वाले चरित्रवान हों।

इसी प्रकार जल-विद्युत शक्ति की खपत के संबंध में आशंका हो चली है और एक केन्द्रीय समिति इस समस्या पर विचार करने के लिए नियुक्त हुई है कि कम मांग की परिस्थिति में जल-विद्युत उत्पादन योजना का रूप किस प्रकार बदला जाय।

पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत मुख्यत: दामोदर घाटी योजना (बिहार, बंगाल), भाकरा-नंगल योजना (पंजाब, राजस्थान) और हीराकुंड योजना (उड़ीसा) पर बांध बनाने तथा जल-विद्युत उत्पादन केन्द्र खोलने का कार्य चल रहा है।[७]

इसके अतिरिक्त कोयना (Koyna), रिहंड (उत्तर प्रदेश मिर्जापुर के पास), कृष्णा, चंबल और कोसी नदियों के सम्बन्ध में नद-योजनाएँ पंचवर्षीय योजना के अंतिम चरण में हाथ में ली जाएँगी। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि हम अभी इस काम में नए हैं। दामोदर घाटी योजना के डिजाइन (designs) और ढांचे अब भी[८] बदले जा रहे हैं। और हीराकुंड की नींव में खराब मसाला लग जाने के कारण पुनः उखाड़ पुखाड़ करना पड़ी थी। हमको

---

[७] दामोदर योजना के अंतगत आठ बांध बनेंगे तथा कुछ कोयले से चलने वाले विद्युत उत्पादन स्टेशन। ऐसा एक स्टेशन (बोकारो) और एक बांध (तिलैया) तैयार हुआ है। एक अन्य बांध (मैथन) पर काम जोर से और एक (कोनार) पर साधारण गति से चलू है। भाकरा-नंगल योजना के अंतर्गत दो बांध (भाकरा तथा नंगल) दो जल-विद्युत-शक्ति स्टेशन तथा नहरें आदि बनेंगी। नंगल बांध की पूर्ति १६५४-५५ में होने की आशा है जिसस पश्चिमी पंजब, पेप्सू और राजस्थान में शायद ३८ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधा मिल जाए। महानदी पर तीन बांध बनाने की योजना है। उनमें से प्रथम हीराकुड योजना है। अभी खुदाई का काम चल रहा है।

[८] दो अमरीकी तथा एक भारतीय की एक परामर्शदात्री समिति है। फरवरी, १६५४ में भी इस समिति ने दामोदर घाटी के विकास के डिजाइन योजना को बदला है।

विदेशियों की राय पर चलना पड़ रहा है। कुछ हद तक हम स्वयं ऐसा करना भी चाहते हैं। हमारे अपने लोग कुछ तो अक्षमता में बदनाम हो गए और कुछ अच्छे उनके साथ गेहूँ के घुन की तरह पिस गए। पैसा फूंक कर, पेट काट कर भी ऐसी योजनाएँ ठीक ठीक और शीघ्र तभी बन सकती हैं जब हम धैर्य, साहस और ईमानदारी से काम लें; जब अधिकारी और जनता में राष्ट्र प्रेमवश कुछ कर-गुजरने का जोश हो।

तृतीय परिच्छेद

फसल की आयोजना तथा फसल का उत्पादन

योजनाएं सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त हैं तथा यह आश्चर्य की बात नहीं कि सरकार तथा गैर सरकारी संस्थाएँ 'कृषि-विषयक योजना' तथा 'फसल योजना' के लिए विशेष अधिक ध्यान दे रही हैं। ये दोनों पद अपने अर्थ में भिन्न हैं परन्तु कभी कभी इन दोनों को समान-अर्थी समझा जाता है। इस तरह कभी कभी जब कृषि-योजना पर वाद-विवाद प्रारम्भ होता, बाजार तथा क्रय-विक्रय सम्बन्धी समस्याओं का नाम तक नहीं लिया जाता और न तो सिंचाई, सहायक पेशों तथा कृषकों के व्यय को कम करने की समस्याओं का जिक्र तक होता है। सचमुच ही इन समस्याओं को कृषि-विषयक योजना पर वाद-विवाद में स्थान देना चाहिए।

आधारभूत आवश्यकताएँ

किसी फसल-योजना के लिए चार आधारभूत आवश्यकताएँ होती हैं। प्रथम, आदमियों तथा वांछनीय पशुओं के लिए उचित तथा पौष्टिक तत्वों के साथ खाद्य-सामग्री होनी चाहिए। द्वितीय, उद्योग के लिए कच्चे माल को उन्नत व विकसित करना तथा प्रयोग में लाना चाहिए।[1] कभी कभी यह वांछनीय है कि केवल आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति को गारंटी देने के लिए कच्चे माल का उत्पादन किया जाना चाहिए। तृतीय, यदि देश के हितों को क्षति न पहुँचे तो निर्यात के लिए (यदि बाजार सरलता से प्राप्त हो तो) वस्तुओं का उत्पादन होना चाहिए। चतुर्थ, (और सबसे पहले) एक दीर्घकालीन

---

[1] यदि बड़े और छोटे व्यवसायों का अलग-अलग भेद करें तो हम कह सकते हैं कि गावों में सरलता से संगठित हो सकने वाले छोटी मात्रा तथा कुटीर उद्योगों में आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति पहले होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह होगा कि कपास, गन्ना (मिलों के लिए) तथा तम्बाकू और तिलहन (निर्यात के लिए) का उत्पादन गौण स्थान प्राप्त करेंगे।

आवश्यकता है भूमि की उर्वरता को अक्षुण्ण बनाए रखने तथा, यदि कहीं सम्भव हो तो, उसमें वृद्धि भी करने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह अवश्य स्पष्ट कर देना चाहिए कि यदि भविष्य में इस दिशा में कोई अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग या कदम उठाया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक दशाओं का प्रथम तीन आधारभूत बातों के निर्णय करने में भी ध्यान रखना पड़ेगा। 'राष्ट्रीय आत्म निर्भरता' हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए; 'केवल राष्ट्रीय आत्म निर्भरता' की तो बात ही नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय इकरारनामे जो भी हों भविष्य की अनिश्चितता को ध्यान में रखकर खाद्य सामग्री में आत्म-निर्भरता वांछनीय है। इसके अतिरिक्त फसल आयोजकों को सामान्यतः यह निर्णय नहीं करना पड़ता कि देश में कौन से उद्योग को संचालित किया जाय या किन चीजों का निर्यात किया जाय तथा किस सीमा तक। आवश्यकताओं को जानते हुए वे वस्तुओं के उत्पादन के लिए इस तरह के तरीके निकालेंगे कि उत्पादन-मूल्य आयात की कीमत से अधिक न पड़े।

प्रथम तीन तथा चौथी (आधारभूत) आवश्यकता के बीच, जिस पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए भेद की रेखा अवश्य खींची जानी चाहिए। प्रथम तीन अल्पकालीन अवधि से सम्बन्ध रखती हैं तथा हमको निर्णय करना पड़ेगा कि खाद्य समस्या को हल करने के लिए विभिन्न फसलों का वितरण किस प्रकार किया जाय। हमें यह भी विचार करना पड़ेगा कि आवश्यक परिवर्तनों को सक्रिय रूप कैसे दिया जाय। खाद्य समस्या पर प्रकाश डालने के लिए इस परिच्छेद के अंत में एक परिशिष्ट जोड़ा गया है इसलिए यह उचित है कि इस विषय पर उसी परिशिष्ट में ही विचार किया जाय। अस्तु, उर्वरता के पहलू पर इस परिच्छेद के अंतिम भाग में संकेत किया जायगा।

हमारी खाद्यान्न-विषयक आवश्यकताएं

फसल योजना की आधारभूत आवश्यकताओं में प्रथम तथा चौथी पर विशेष ध्यान की आवश्यकता है। यदि प्रथम को ले लें, तो इस दिशा में कुछ अवांछनीय प्रवृत्तियाँ हमारे खाद्य-फसलों के विषय में, किसान की इस बढ़ती हुई जरूरत से कि शरीर को जीवित रखने के लिए जो कुछ भी सम्भव हो उपार्जित किया जाय, पैदा हो गई हैं। यह प्रवृत्तियाँ प्रमुखतया तीन हैं।

प्रथम, भारतीय भोजन में विटामिन तथा पौष्टिक तत्त्वों की कमी है। द्वितीय, न्यून पौष्टिक तत्त्व वाली फसलों को पैदा करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। कभी कभी यह इंगित किया जाता है कि कुछ भारतीय फसलें जो कि उत्पादित की जा रही हैं अब अधिक पौष्टिक तत्त्व तथा विटामिन वाली हो गई हैं। परन्तु हमारा संबंध केवल इसी से नहीं है कि फसल अधिक प्रोटीन तथा विटामिन वाली हों वरन् उन फसलों से भी है जिनके प्रोटीन तथा विटामिन को मानवीय-प्रणालियों द्वारा अधिक हद तक पचाया जा सके जो शरीर में लग सकें। दूसरे शब्दों में संमिश्रण तथा पाचन-समस्या को भी ध्यान में रखना पड़ेगा। तृतीय, पशुओं के पालन की उपेक्षा कर के दूध उत्पादन तथा दूध की पूर्ति के लिए कम ध्यान दिया गया है।

व्याख्या के लिए मात्रागत-प्रणाली पर अधिक जोर दिया गया है। इसके अन्तर्गत इस बात का पता लगानाचाहिए कि उपलब्ध खाद्यान्न-पूर्ति कितनी है तथा उनसे कितनी उष्णता मिल सकती है। परन्तु दो त्रुटियों के कारण इन गणनाओं पर निभर नहीं किया जा सकता। प्रथम, खाद्यान्न-उत्पादन के समंक सही नहीं हैं।[२] कुछ स्थानों के कुछ फसलों के उत्पादन (यथा जूट, कपास और गन्ना) के समंक की उन्हीं स्थानों के व्यापारिक संस्थाओं से प्राप्त समंक से तुलना की जा सकती है।[३] इस तरह की तुलना से

---

[२] इधर रैंडम सैम्पिल-प्रणाली (Random Sampling) द्वारा कृषि विषयक अंक गणना-तालिका के संचयन को उन्नत तथा शीघ्रगामी करने के लिए यत्न किया गया है। आई० सी० ए० आर० (फरवरी '४९) ने एक पंचवर्षीय योजना फसलों के अनुसंधान तथा फसल-उत्पादन अंक गणना के संचय के लिए स्वीकृत की है।

[३] थामस व शास्त्री लिखित अंग्रेजी पुस्तक "इंडियन एग्रीकलचरल स्टेटिस्टिक्स" में जूट तथा कपास सम्बन्धी अंक मिल जायेंगे। भारतीय विज्ञान काँग्रेस (१९२२) के कृषि सम्बन्धी सभापति-भाषण में श्री क० ल० खन्ना ने इस त्रुटि का उल्लेख किया है कि सरकारी आँकड़ों के आधार पर गंगा के उत्तर में स्थित बिहार की मिलों में ४ करोड़ मन गन्ना पेरा जा सकता था जबकि वहाँ ९.५ करोड़ मन गन्ना पेरा गया।

यह देखा जा चुका है कि सरकारी समंकों में लगभग औसतन २५% तक गलती हो सकती है।

खेती के क्षेत्रों में सही समंक भी प्राप्त नहीं हैं। मोटे अनाज के तथा दालों के सम्बन्ध में जो कि भारतीय ग्राम के भोजन के प्रमुख भाग हैं क्षेत्र और उत्पादन सम्बन्धी समंक अपूर्ण हैं।

द्वितीय, हमको यह भी सही सही नहीं मालूम है कि गरम देशों में वहाँ के मजदूर और श्रमिक को प्रतिदिन कितनी उष्णता (कैलेरी में) मिलनी चाहिए। इसके अनुमान १६०० कैलरी से लेकर ३००० कैलेरी तक लगाए गए हैं।

पौष्टिक तत्त्वों की न्यूनता की गणना का सही अनुमान जीव-वैज्ञानिक प्रणाली के द्वारा, जो कि भोजन के अध्ययन पर आधारित है, लगाया जा सकता है।[४] देश के विभिन्न भागों में इस तरह के अनुसंधान हो चुके हैं तथा वे प्रदर्शित करते हैं कि क्या प्रमुख कमियाँ हैं। यद्यपि किसी निश्चित तथा तफसील पूर्वक सुझाव प्रस्तुत किए जाने के पहले अधिक अनुसंधानों की आवश्यकता है,

---

[४] हमें यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि हम गलत वस्तुयें खा रहे हैं तथा हम उनकी अधिक मात्रा खाते हैं। हमारी आदतों को सुधारने के लिए सन् १९४८ में मैसूर में केंद्रीय सरकार ने एक खाद्य-कला-केन्द्र (Food Technical Institute) की स्थापना की।

उपभोक्ताओं को सफलतापूर्वक शिक्षित करने के लिए हमें केवल भोजन सम्बन्धी आदतों को ही नहीं जानना चाहिए वरन् भोजन तैयार करने की प्रणाली भी। इस तरह यूनान मलिक (Yonan Malek) ने (सं० रा० अ०) डिब्बों में बन्द चावल को सुरक्षित रखने के लिए) एक देशीय आसाम-प्रणाली का अनुकरण किया है। धान को कई दिनों तक भिगोया जाता है, भाप में रखा जाता है, सुखाया जाता है, उबाला तथा उसके छिलके को साफ किया जाता है। उसको भाप में रखने से ६१% थियमिन (Vitamin B) तथा पेन्टाथनिक एसिड का (Pantathenic acid) ९०% भाग धान के आन्तरिक भाग (kernel) में चला जाता है। इस तरह मिल में पालिश करते समय उनकी क्षति नहीं होती। मलिक-प्रणाली से तैयार चावल में एक नया स्वाद रहता है।

जनता के भोजन के ज्ञान के बिना, हम अप्रत्याशित आ जाने वाली

फिर भी जैसा कि पहले अंकित किया जा चुका है नीति की कुछ मोटी रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है।

फसल-योजना अन्य विकास-विभागों के पूर्ण सहयोग के साथ ही तैयार की जानी चाहिए। प्रादेशिक विकास-समितियाँ, जिला-विकास समितियाँ तथा

अवधि में कई देशीय भोजन के आयतों या भागों को उपेक्षित करते हैं। एक उदाहरण देने के लिए महुआ का नाम लिया जा सकता है जिसका प्रयोग शराब बनाने में भी काफी किया जाता है। महुओं को सुखाकर अनाजों के साथ कूट पीस कर जमा दिया जाता है तथा बरसात के दिनों में भोजन के रूप में प्रयोग किया जाता है। यदि मद्यनिषेध आन्दोलन में प्रगति हो तो उपभोग के लिए अधिक महुआ उपलब्ध किया जा सकता है। भारतीय जनता का लगभग ⅕ भाग मछली का भोजन करती है। यदि मत्स्य-भंडारों तथा मछली के पकड़ने के विभागों पर विशेष ध्यान दिया जाय तो खाद्य समस्या काफी हद तक हल की जा सकती है। विभिन्न प्रदेशीय सरकारें तालाब के मत्स्य-भंडारों तथा कुछ हद तक अन्तरदेशीय मछली के शिकार पर ध्यान केन्द्रीभूत कर रही हैं। अब भारत के तीन ओर के महान विस्तृत महासागर, जो स्वाद पूर्ण मछलियों तथा अधिक पौष्टिक तत्वों से भरा है, विस्तृत तथा गहन मछली शिकार की आवश्यकता है। यह प्रदेशीय तथा केन्द्रीय सरकारों की आर्थिक-क्षमता पर निर्भर है कि वे सागर की मछलियों को पकड़ने की योजना संचालित कर सकें। साधन-सुरक्षा संबन्धी विश्व राष्ट्र-संघ वैज्ञानिक-अधिवेशन के (United Nations Scientific Conference on Conservation of Resources) समक्ष प्रस्तुत करने के लिए भारतीय मत्स्य-केन्द्रों के ऊपर लिखी विज्ञप्ति में मल्लाहों की सामाजिक और आर्थिक दशा, आवागमन के साधन तथा बाजार विषयक क्रय-विक्रय की कठिनाई, शिक्षित विशेषज्ञ कर्मचारियों तथा शक्ति चालित नाव (trawlers) और विद्युत (power-crafts) के साथ कल-पुर्जों को उपलब्ध करने की कठिनाई आदि की बाधाओं का नाम लिया गया है। कल-पुर्जों की पूर्ति की समस्या बड़ी कठिन है। परंतु इस हेतु जापानी कुशल विशेषज्ञों को प्राप्त किया जा सकता है तथा समस्या का हल हो सकता है।

केन्द्रीय सरकार अब २०० जापानी कला विशेषज्ञों को तथा कुछ ट्रालरों

ग्राम पंचायतें (या सभाएँ) सब से इस विषय में विशेष सहायता लेनी चाहिए। जहाँ तक प्रयोगशाला तथा खेतों के बीच की दूरी को कम करने का प्रश्न है, मौखिक तथा चित्रगत शिक्षा-प्रसार, दोनों का होना अत्यावश्यक है। प्रदर्शिनी, सिनेमा, रेडियो-प्रसार का प्रयोग किया जा सकता है। प्रदेशीय कृषि विभाग तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के प्रयोगों के परिणामों को जन-साधारण की भाषा में छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित कर सकते हैं। सन् १९३७ में सर जॉन रसल (Sir John Russell) ने कहा था कि प्रयोग-केन्द्रों[५] में कार्यालय-कर्मचारियों को यह जताना चाहिए कि वे

को प्राप्त कर रही है। एक पंच-वर्षीय मत्स्य-विकास-योजना के अन्तर्गत वर्तमान गणना किया हुआ ५,००० टनों का दैनिक उत्पादन दुगुना किया जायगा। कलकत्ता, चाँदबाली, विजगापट्टम, मंडयम (Madras), कोचीन, बम्बई तथा सौराष्ट्र के बन्दरगाहों में तटीय ५ से १० मील के क्षेत्र में मत्स्य केन्द्रों (Pilot Fishing Stations) को खोला जा रहा है। उ० प्र० में मत्स्य-विभाग (१९४९ में) को स्थायी रूप दे दिया गया है।

[५] यह अंकित किया जा सकता है कि सं० रा० अ० में किसी विकास-योजना में २०% उन्नति को एक आश्चर्यजनक सफलता का रूप समझा जाता है। यह न्यून मात्रा कई कारणों से है :—

(१) किसानों का अज्ञान, रूढ़िवादी होना तथा संदेहशील होना।

(२) नवीन खोजों को ठीक-ठीक किसानों को समझाने के लिये योग्य व्यक्तियों की कमी।

(३) दो विभिन्न फसलों के बाह्य रूप से लगभग २०% अन्तर का पता न चलना।

(४) किसी एक विकास सम्बन्धी प्रदर्शन की असफलता के फलस्वरूप अधिक निरुत्साह पैदा करने वाले असर।

(५) जमीन के प्रति जन-उत्तरदायित्व की भावना की कमी।

(६) स्वस्थ तथा बुद्धिमान मनुष्य शहर में जाकर रहने लगे हैं।

(७) गरीबी तथा अस्वास्थ्य का होना।

(८) खेतों का छोटे हिस्सों में विभाजन।

किसानों के प्रति उत्तरदायी हैं; कि उन्हें अपने आप को प्रयोगशाला की दीवारों के बीच इस प्रत्याशा में बांध कर नहीं रखना चाहिए कि किसी न किसी तरह उनके कार्य क्रियात्मक सफलता प्राप्त कर लेंगे। उन्हें अवश्य ही खेतों और किसान द्वारा उपजाई उपज को लेकर ही प्रयोग करना चाहिए जिससे कि उनके अनुसंधान का क्षेत्र तथा अवसर विस्तृत हो सके। उनसे यह आशा की जाती है कि जब तक इसके विरुद्ध अच्छे कारण न उत्पन्न हों तब तक वे किसानों की भूमि पर अपने प्रयोगों को सरल साधारण रूप दें।

जहाँ तक बागवानी का प्रश्न है इसके लिए ग्रामों के स्कूल उत्तम केन्द्र हैं जहाँ पर बागवानी आरम्भ की जा सकती है।

हम लोग मौखिक तथा चित्रगत शिक्षा के विषय में विचार कर चुके हैं तथा साहित्य-प्रकाशन की स्वीकृति दे चुके हैं। परन्तु यदि हम द्रुतगामी उन्नति चाहते हैं तो किसानों से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक संस्था का निर्माण होना चाहिए। सं० रा० अ० में विस्तृत प्रसार कृषि सेवा का आयोजन हो चुका है। यदि कृषि विषयक, सहकारी समितियां या विकास के इन्सपेक्टर काउन्टी एजेन्टों की तरह काम नहीं कर सकते हों तो एक नवीन सेवा-विभाग का संस्थापन हो सकता है।[६] इसके अतिरिक्त सफल किसानों को [७] तथा उनको भी जिन्होंने पिछले साल के उत्पादन के परिणाम सबसे अधिक उन्नति की हो अच्छे पुरस्कार तथा पदवियाँ प्रदान कर विभिन्न प्रकार की फसलों को विकसित तथा उत्पादन को बढ़ाने के लिए किसानों का सहयोग लिया जा

---

[६] वे इन बाधाओं को दूर करने के लिये, किसान के बच्चों को शिक्षित करने के लिये युवक-क्लबों का निर्माण, किसानों के लिये सेवा-कार्यों का विस्तार, खेतों की एक चकबन्दी, ग्रामीण सफाई, कृषि विभाग की विज्ञप्ति में सफल किसानों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुये प्रयत्न करते हैं। भारत में यह तरीके सामुदायिक तथा विकास योजनाओं में अपनाए जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में देखिये अध्याय पंद्रह।

[७] प्रति साल उपाधियाँ केवल एक साल के लिये ही दी जानी चाहिये। आने वाले साल में जो अधिक सफल किसान हों उनको यह उपाधियाँ मिलनी चाहिये। भारत सरकार पुरस्कार तथा उपाधि देकर लौटाती नहीं।

सकता है। उनके नामों का जिला में खूब प्रकाशन तथा वार्षिक-विज्ञप्ति में उल्लेख होना चाहिए। भारत सरकार तथा प्रादेशिक सरकारों ने अंत में इस उपाय को अपना लिया है। विकास के लिए अन्य रास्ते ये हैं: जमीन के कर तथा सिंचाई के मूल्य में छूट देना; जो योजना के अनुसार काम न करें उनको छूट और माफी आदि की सुविधाओं से वंचित रखना; तथा गलती करने वालों पर कड़ा जुरमाना करना। जुरमाने का सिद्धांत यथासम्भव काम में न लाया जाय क्योंकि यह निश्चय होना बहुत कठिन है कि जो कर्मचारी जुर्माना लगाने के लिए नियुक्त होगा ईमानदारी तथा निष्पक्षता के साथ काम करेगा।

मिट्टी की उर्वरता

जहाँ तक मिट्टी की उर्वरता का प्रश्न है, मिट्टी की दशा बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। इसके पहले कि वर्तमान तरीकों के स्थान पर उचित तथा परिवर्तित तरीकों का सुझाव पेश किया जाय, फसलों के क्षेत्र में जितने परिवर्तन हो चुके हैं उनका ध्यान अवश्य दिया जाना चाहिए। प्रारम्भ तथा अंत पर ही विचार करने की प्रवृत्ति का परित्याग होना चाहिए। प्रारम्भ तथा अंत के बीच का सारा क्षेत्र व्याख्या तथा अनुसंधान के अन्तर्गत आना चाहिए। यद्यपि सन् १९२३ में यह इंगित किया जा चुका है कि उदाहरण स्वरूप, हम भारत की प्रमुख भूमि खंडों[८] के ज्ञान से पूर्ण परिचित नहीं हैं क्योंकि उनमें से प्रत्येक

---

[८] वर्तमान मिट्टी विषयक जो समंक हैं उसमें लाल तथा लैटेराइट वाली मिट्टी, दोमट (alluvial soil), बनभूमि, रेगिस्तानी मिट्टी तथा दलदल की मिट्टी का वर्णन है। लाल, लैटेराइट तथा काली मिट्टी-विषयक अध्ययन अधिक हुआ है। दोमट का ठीक विश्लेषण नहीं हो सका है। यथा, उसके अन्तर्गत रेगिस्तानी, झाड़ियों तथा बन की मिट्टियाँ भी अब तक गिनी जाती हैं। बनभूमि तथा पर्वतीय भूमि के विषय में ज्ञान बहुत ही कम है। रेगिस्तानी मिट्टी-विषयक ज्ञान भी अल्प है। एक या कुछ स्थानों के अतिरिक्त दलदली (peaty and marshy) मिट्टी के बनने तथा बनावट के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं है। इन मिट्टियों को अधिकृत तथा ठीक प्रयोग में लाने के लिये अनुसन्धान करना आवश्यक है।

अखिल भारतीय मिट्टी-अनुसन्धान योजना द्वारा संचित समंक की

के आन्तरिक विभिन्न प्रकारों के विषय में हम बहुत कम जानते हैं। स्कोलास्की को (Scholasky) अंतर्राष्ट्रीय भूमि-विज्ञान-सभा (International Society of Soil Science) ने भारत के मिट्टी का मानचित्र बनाने का काम सौंपा तो उसने यह प्रकाश डाला था कि देश में मिट्टी-विषयक जो खोज की सामग्री भारत में हैं वह केवल अपर्याप्त ही नहीं है वरन् वह वैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए लाभप्रद भी नहीं है।

खाद

हावर्ड नामी लेखकद्वय (Howard and Howard) ने यह जोर देकर कहा है कि प्राकृतिक खाद, पर्याप्त नमी तथा हवा (आक्सीजन की पूर्त्ति) मिट्टी की उर्वरा शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए बहुत ही महत्वशाली हैं। अब भी प्राकृतिक खाद (organic manure) के विषय में काफी मतभेद है। कुछ इससे सहमत हैं कि यह खाद बहुत महत्वशाली है। फ्रांसीसी वैज्ञानिक लीबिग (Liebig) ने यह बताकर कि इस खाद की क्षमता (organic matter) प्राकृतिक तत्वों में नहीं वरन् उसकी राख में निहित रहती है एक नए आधार का निर्माण किया। इसलिए कुछ लोगों का एक ऐसा स्कूल बन गया जो इस पक्ष में रहा कि कृत्रिम खादों तथा एमोनियम सलफेट (ammonium sulphate), पोटाश सलफेट (sulphate of potash), केलसियम सुपर-फासफेट (super-phosphate of

---

सहायता से भारतीय प्रदेशों के मिट्टी के मानचित्र को बनाया जा सका है। परन्तु वे एक सामान्य मोटे तौर से मिट्टियों के वितरण को प्रदर्शित करते हैं तथा किसी भूमि-योजना के प्रयोग के लिये प्रर्याप्त नहीं हैं। (*Vide* paper on 'Present Position of Soil Survey in India' in Vol. VI No. 10 (Oct. '47) of the Journal of Scientific and Industrial Research)

हाल में ही उत्तर प्रदेश में एक मिट्टी-अनुसंधान-योजना का निर्माण हुआ है। जिलेवार मिट्टी का मानचित्र बनाया जायगा। चार मिट्टी-अनुसंधान केन्द्र लगभग १.९२ लाख रुपया का व्यय करके बनारस, अलीगढ़, तराई तथा झांसी में खोले जा रहे हैं।

calcium) का प्रयोग किया जाय। परन्तु कीटाणु (Bacteriology) विषयक खोज[१] से सिद्ध हो चुका है कि केवल कृत्रिम खाद का प्रयोग पौध

---

[१]लिविंग स्वायल (Living Soil by Shri E. B. Balfour) में मिट्टी के जीवन का चक्र निम्नांकित मानचित्र में उपस्थित है :--

वनस्पति, कीड़े फंगस	--	जानवर
जानवर तथा --	मिट्टी पौधे का भोजन	
मानव-मलमूत्र आदि	--	आदमी

फंगस तथा पौधों के जड़ के सन्मिश्रण के कारण, प्राप्त खाद अन्य कृत्रिम खादों की अपेक्षा अधिक क्षमता रखती है। इस खाद के समर्थक कहते हैं कि चावल के सामान्य उत्पादन को बढ़ाना खनिज पदार्थों के प्रयोग से सम्भव है। परन्तु साथ ही साथ प्राकृतिक खाद में भी वृद्धि करनी आवश्यक है, अधिक उपज के गुण ऐसे न होने चाहिए कि उपभोक्ता की भूख मिटाने के लिए उपज की अधिक मात्रा काम में लानी पड़े।

पात गोभी (cabbage) का उदाहरण यह दिखलाने के लिए दिया जा चुका है कि कृत्रिम उपायों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का विक्रय सरल नहीं है। यह प्रमाणित हो चुका है कि यदि दीर्घकाल तक खनिज-पदार्थों की खाद से उत्पादित भोजन का प्रयोग किया जाय तथा विशेषकर ऐसे भोजन का, जो वैज्ञानिक ढंग से तैयार हो, इस्तेमाल किया जाय तो यदि वे निश्चित बीमारियां भले ही न पैदा करें, कम से कम उपभोक्ता के स्वास्थ्य को पतनशील बना देते हैं। खनिज पदार्थों के खाद का अधिकतम प्रयोग फंगस और कीटाणु क्रियाओं को प्रभावित करता है तथा कीड़ों की संख्या कम कर देता है। यह ज्ञात है कि ये कीड़े ही भूमि पर गिरी पत्तियों तथा रेशेवाले तत्वों को पचाकर तथा सड़ाकर भूमि के लिए लाभप्रद बनाते हैं। ये कीड़े जमीन की बनावट को सुगठित तथा जमीन की पानी रखने की क्षमता को सुरक्षित रखते हैं यदि हम मिट्टी की बनावट को नष्ट तथा असंतुलित कर देंगे तो उसका परिणाम मिट्टी का कटान होगा। पश्चिमोत्तर अमरीका के रेताच्छादित प्रदेशों का क्षेत्र बढ़ रहा है। यह औद्योगिक क्रान्ति और उसके प्रदत्त सस्ते भोजन का ही फल है। इंगलैन्ड में स्फोक (Suffolk) के प्रयोग-फार्मों में भोजन चक्रों पर अनुसंधान हो रहा है।

की पौष्टिकता को असंतुलित कर देते हैं।[१०]

यदि दूसरे देशों से तुलना की जाय तो भारतीय मिट्टी की उर्वरा शक्ति एक निम्नतर स्तर पर स्थायी हो गयी है। कुछ हद तक इसका कारण चतुर्दिक परिस्थितियाँ (ecological conditions) हो सकती हैं जिसके विषय में आगे विचार किया जायगा। यदि किसानों को कृत्रिम खाद की पूर्त्ति की जाय तो उत्पादन शक्ति बढ़ सकता है। इसलिए ऐसे कृत्रिम खादों[११] के

---

[१०] दृष्टिकोण में मतभेद के कारण भारतीय सरकार ने १९४९ में एक अनुसंधान-समिति का निर्माण किया। उसका कार्य है रासायनिक खादों की उपयोगिता तथा खादों और प्राकृतिक खाद के प्रयोग सम्बन्धी वैज्ञानिक खोज करना। यह समिति रासायनिक खादों के प्रयोग तथा भूमि पर उसके प्रभाव सम्बन्धी वर्तमान् उपलब्ध ज्ञान को संचित करेगी तथा यह प्राकृतिक खाद की विशेषतः कम्पोस्ट (compost) की क्षमता और महत्ता की जाँच करेगी। यह उत्पादित फसल को ध्यान में रखकर मिट्टी की कमी को पूरा करने के लिए कृत्रिम खादों की सर्वोत्तम विधियों का सुझाव देगी। यह विभिन्न मिट्टियों के नाइट्रोजन के प्रकार और बनावट तथा भारतीय फसलों का अनुसंधान करेगी। यह अब तक किए गए कामों पर तथा भविष्य के लिए बनाए गए प्रोग्रामों पर प्रकाश डालेगी। यह यथासम्भव शीघ्र अपनी रिपोर्ट को प्रकाशित करेगी।

[११] केन्द्रीय सरकार ने सिन्धरी (Sindhri in Bihar) में १२ करोड़ रुपये का व्यय कर ३-५ लाख टन एमोनियम सलफेट पैदा करने के लिए एक खाद की फैक्टरी का निर्माण किया है। यह चालू हो गई है। जिप्सम (gypsum) पाकिस्तान खेवरा तथा दन्डवट (Khewra and Dandwat) से प्राप्त किया जाने वाला था। हमारी सरकार कहती है कि अब राजपूताना में जिप्सम की पूर्ति इतनी है कि सिन्धरी फैक्टरी के लिए वह बहुत दिन तक वर्तमान् रहेगी। यदि ऐसा हो भी तो यह अधिक वांछनीय प्रतीत होता है कि चूने के पत्थरों का, जो पर्याप्त मात्रा में भारत में वर्तमान् हैं, प्रयोग कर उत्पादित अमोनिया को अमोनियम नाइट्रेट तथा नाइट्रो चाक (ammonium ritrate and nitro-chalk) के रूप में परिवर्तित किया जाय। इस तरह खाद का विस्तृत क्षेत्र में सस्ता वितरण हो सकेगा।

निर्माण की आवश्यकता है जो कि व्यावहारिक तथा सस्ते पड़ें। परन्तु प्राकृतिक खाद की भारत ऐसे देश में उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि हमारे यहां वर्तमान् समय में उत्पादक साधनों (capital goods) का अभाव है, गोबर की सुरक्षा और प्रयोग,[१२] कम्पोस्ट (compost) के उत्पादन तथा प्रयोग[१३] तथा हरी खाद का प्रयोग आदि ऐसे विषय हैं जिन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उनके प्रयोग में सुविधा तथा कम उत्पादन-व्यय पड़ता है; तथा इसलिए भी कि अल्पकाल में किसानों को प्राकृतिक खाद के प्रयोग में

---

[१२] पशु, भेड़ तथा बकरियों के मल-रूप में प्राप्त ७ लाख टन नाइट्रोजन में से केवल लगभग २.८ लाख टन का ही प्रयोग खेतों में किया जाता है। इसका बाकी भाग सुरक्षा के गलत तरीके तथा गोबर को ईंधन के रूप में प्रयोग करने के कारण नष्ट हो जाता है। गोबर की कंडियों के ईंधन के प्रयोग को कम करने के लिए अल्प काल में शीघ्रगामी झाड़ियां तथा दीर्घकाल में ग्रामीण वनों का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है।

[१३] पहले से ही भारत में कम्पोस्ट (compost) तथा शहरी मलमूत्र के उत्पादन पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। एक केन्द्रीय कम्पोस्ट विकास समिति (१९४८) बनी है। यह प्रदेशों के लिए कम्पोस्ट के उत्पादन की लक्ष्यगत मात्राएँ निर्धारित कर चुकी है। उसने नगरपालिकाओं के ऊपर वैधानिक अनिवार्यता लागू करने की स्वीकृति दी है कि वे शहरी मलमूत्र से खाद का उत्पादन करें। इसने केन्द्र तथा प्रदेश में कम्पोस्ट के उत्पादन तथा प्रयोग के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित खोज-कार्य करने के लिए एक उपसमिति नियुक्त की है।

अफसरों तथा इन्सपेक्टरों को शिक्षित किया गया है तथा किया जा रहा है कि वे शहरी मलमूत्र-खाद के उत्पादन को ठीक तरह करा सकें तथा इसकी प्रणाली को किसानों को समझा सकें। मध्य प्रदेश ने (१९४८) में १८० सरकारी कर्मचारियों के तीन दलों को सिहोर में शिक्षित किया गया था ताकि वे ग्रामों में जाकर किसानों को शिक्षा दें। उ० प्र० सरकार ने अक्टूबर १९४८ में ८०० विकास अंचलों के १ लाख गाँव में प्रति गाँव में २ पिट (८′ × ३′ × ४′)

सहायता दी जाय जिसके विषय में संसार के सभी किसानों की यह धारणा है कि उसके प्रयोग से रासायनिक खादों की अपेक्षा अधिक उत्तम उत्पादन होता है।

वैज्ञानिकों ने मिट्टी के विषय में इस सिद्धान्त को अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि नष्ट होती हुई ह्यूमस के रूप में वनस्पति तथा प्राणितत्व मिट्टी के लिए अनिवार्य हैं। ह्यूमस (humus) के कारण कृषि अच्छी होती है। यह मिट्टी के आंतरिक भाग को विस्तृत करती है जिसमें जल-संचय की शक्ति बढ़ जाती है तथा जो पौधों के पौष्टिक क्षारशील तत्त्वों को प्रस्तुत करती है। मिट्टी के कीटाणु (soil bacteria) के लिए यह आशय तथा भोजन तैयार करता है। संक्षेप में बात यह है कि यह बेजान चट्टानों के राशि-कणों में जानदार पौधों के लिए एक जीवित आश्रय का निर्माण करते हैं। यह भी कहा जाता है कि यह पौधों में बीमारी रोकने की शक्ति को बढ़ाता है तथा उन पौधों को खाने वाले जानवरों को भी शक्ति का भारत में असह्य धूप ह्यूमस humus) को मिट्टी से जलाकर उड़ा देती है इसलिए प्राकृतिक खाद की निरन्तर पूर्ति आवश्यक है।

यदि संतुलित रूप से विचार किया जाय तो प्राकृतिक तथा कृत्रिम खाद के महत्त्व को कम करना गलत है। जीवित तत्वों (organic matter) में नाइट्रोजन थोड़ी मात्रा में रहता है। पहले यह मिट्टी के कीटाणु में उनकी मृत्यु तक

तथा १०,००० गाँवों में प्रति गाँव में ५ पिट बनाने की योजना संचालित किया। इस तरह २.५ लाख पिट तैयार करने की योजना थी जिसमें से प्रत्येक में चकोर और आडूसे की पत्तियों (Chakaur and Arusa) तथा ५% गोबर मिलाकर ६० मन कम्पोस्ट तैयार करते अर्थात कुल एक लाख टन से भी अधिक कम्पोस्ट तैयार होती जिससे लगभग एक लाख टन उत्पादन बढ़ जाता।

परन्तु परिणाम क्या रहा? अधिक योजनाएं तथा कम सफलता—इस कमजोरी के विरुद्ध हमें लड़ना है। आज हमारी ३,००० नगरपालिकाओं में से लगभग ६ लाख टन कम्पोस्ट तैयार करती हैं। तथा ५½ लाख गाँवों का लगभग २½ अंश १२-५ लाख टन कम्पोस्ट तैयार करते हैं। इस तरह अभी हमें लगभग २७० लाख टन कम्पोस्ट के उत्पादक क्षमता को प्राप्त करना है।

बँधा रहता है और कुछ समय बाद ही पौधों को उपलब्ध होता है। कृत्रिम खादों का नाइट्रोजन बहुधा अधिक मात्रा में शीघ्र ही पौधों के लिए प्राप्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप फसल शीघ्र बढ़ती है तथा उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है। इसलिए यह प्रतीत होता है कि उत्पादन में वृद्धि के लिए कृत्रिम खादों का प्रयोग आवश्यक है परन्तु यह भी प्रमाणित है कि पूरा लाभ उठाने के लिए उचित ह्यूमस (humus) की प्राप्ति अनिवार्य है। इस तरह कृत्रिम खादों का प्रयोग केवल जीवित तत्त्वों के खाद प्रयोग में ही वृद्धि तथा अनुपूरक के रूप में किया जा सकता है। सचमुच ही अनुभवों से यह ज्ञात हो चुका है कि कृत्रिम खादों का निरन्तर तथा अकेला प्रयोग केवल मिट्टी की भौतिक-व्यवस्था को ही नहीं बुरे रूप में प्रभावित करता है परन्तु यह उत्पादित भोज्य-पदार्थ के स्वाभाविक गंध, खाद्य संबंधी गुण तथा अन्य तत्त्वों को भी प्रभावित करता है। कृत्रिम खादों में उत्पादित फल तथा तरकारियों की आकृति बड़ी होती है परन्तु उनमें जल की मात्रा अधिक होती है और वे नष्ट जल्द होने लगते हैं। अन्नों तथा चारा की फसलों में विटामिन तथा अन्य विकासोन्मुख तत्त्व कम हो जाते हैं।

फसल आयोजना तथा शास्त्रीय कृषि (Ecology)

केवल मिट्टी की उर्वरता पर ही आधारित सीमित फसल-योजना के स्थान पर अब एक विस्तृत सीमा पर आधारित योजना के लिए जोर दिया जा रहा है। यह दबाव डालकर कहा जाता है कि कोई अन्य तरीका भारतीय किसान को बताने के पहले चतुर्दिक शक्तियों (ecological factors) को ध्यान में रखना पड़ेगा। कई घटनाओं तथा बातों के कारण विश्वास बढ़ता जाता है। उदाहरणार्थ पाया जाता है कि यद्यपि भारत में असंख्य प्रकार के चावलों का उत्पादन होता है, बहुत से इस प्रकार के चावल हैं जो कहीं पैदा होते हैं और कहीं अन्य पैदा नहीं हो सकते चाहे मिट्टी के रासायनिक तत्त्वों को बढ़ाने के लिए जो कुछ भी किया जाय। सिन्ध (पाकिस्तान) नहर सिंचित क्षेत्रों में उन्नत कपास के उत्पादन के प्रयोग किए गए तो यह ज्ञात हुआ कि फसल के विकास के बीच कोई न कोई स्थानीय शक्ति किसी न किसी स्तर पर अपना प्रभाव डालती है तथा उसके फसल का भाग्य निर्णय करती है।

इसलिए यह जानने के लिए उत्सुकता पैदा हो गई है कि शास्त्रीय-कृषि क्या है। इसका 'स्थिति और वातावरण' में क्या संबंध है। शास्त्रीय कृषि में केवल मिट्टी तथा पौधे का ही अध्ययन नहीं किया जाता है परन्तु जलवायु और प्राणि-स्थिति का ध्यान रखना पड़ता है। इसका अवश्य पता लगाना चाहिए कि पौधा कैसे बढ़ता है, किन अवस्थाओं तथा स्थितियों से प्रभावित होता है तथा किन तत्त्वों से निर्मित होता है। यह किस तरह मिट्टी तथा हवा से अपना भोजन प्राप्त करता है? किस तरह मिट्टी के विभिन्न तत्त्वों को पौधा अपने लिए प्राप्त करता है? प्रकृति के नियम-चक्र में हवा, मिट्टी, पौधा तथा जानवर किस तरह आपस में संबंधित हैं तथा सृजन और विनाश की परिवर्तनशील प्रक्रिया में किस तरह जीवित रहते हैं? शास्त्रीय कृषि-विशेषज्ञ (Ecologist) यह विश्वास रखता है कि पौधे के विकास में रासायनिक तत्त्वों के परिवर्तन, उसके विकास तथा उत्पादन को केवल बीच के पैत्रिक तत्त्व नहीं प्रभावित करते हैं वरन् वाह्य कारण भी।

इन कारणों को अब तक पूर्णतः उपेक्षित नहीं किया गया है। हम पहले भी प्रयत्न कर चुके हैं (तथा अब भी करते हैं) कि भौगोलिक तत्त्वों, उर्वरता तथा पौधों के विभिन्न प्रकारों का विचार किया जाय।[१४] पिछले तीन या चार

---

[१४] जलवायु का फसल पर बहुत प्रभाव पड़ता है। किसी क्षेत्र में फसल जलवायु के अनुसार पैदा हो सकती है। फिर भी अल्प काल में कुछ जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन किये जा सकते हैं तथा इस परिवर्तन के साथ जलवायु के अनुसार कृषि विषयक परिवर्तन भी किये जा सकते हैं। इसलिये यह परमावश्यक है कि किसानों को विज्ञप्तियों तथा रेडियो प्रसार द्वारा मौसम विषयक ज्ञान से अवगत किया जाय। केन्द्रीय सरकार इधर विशेष ध्यान दे रही है। फसल के कैलेन्डर भी बनाये जाते हैं। सब बातें वैज्ञानिक आधार पर की जाती हैं। फिर भी अब तक ग्रामीण कृषि विषयक कहावतों तथा किम्वदन्तियों पर ध्यान कम दिया गया है। कुछ कहावतों का शास्त्रीय अध्ययन तथा परीक्षा की गई है और फल स्वरूप उनमें से कुछ ठीक और अधिकांश गलत सिद्ध हुईं। कुछ प्रादेशिक सरकारें ऐसे अध्ययन को आगे बढ़ा रही हैं।

सदियों का इतिहास बतलाता है कि इस दिशा में मानव ने दूरदर्शिता के साथ कदम नहीं बढ़ाया है। हम जानते हैं अमेरिका में झींगा कीड़ों (caterpillars) द्वारा किए गए विनाश को रोकने के लिए गौरैया का पालन प्रारम्भ किया गया तथा आस्ट्रेलिया में खाद्य-सामग्री की वृद्धि को बढ़ाने के लिए खरगोशों का और जमैका में चूहों द्वारा किए गए नुकसानों को रोकने के लिए नेवलों (mongoose) का पालन शुरू हुआ। परन्तु गौरैया, झींगों के साथ पके हुए अनाज को खाने लगी, खरगोशों के कारण भोजन की मात्रा जितनी बढ़ी नहीं उससे अधिक तो वे स्वयम् खाने लगे। जब चूहे समाप्त-से होने लगे तो नेवले भेड़-बकरी के बच्चों को ही कुतरने लगे।

इसी तरह कीड़ों तथा बीमारियों के कारण होने वाले कृषि के विनाश को रोकने का यत्न किया गया है तथा उन कीड़ों को खाने और नष्ट करने वाले कीड़ों और रोगों का उत्पादन किया गया है। यह बाद में ज्ञात हुआ है कि यदि इस तरह कीड़ों को नष्ट कर दिया जायगा तो खेतों को नुकसान पहुँचेगा क्योंकि विनाशात्मक होते हुए भी ये कीड़े एक तीसरे वर्ग की अपेक्षा अधिक नष्टकारी कीड़ों को नियंत्रित करते हैं।

इसी तरह नए प्रकार के पौधों का प्रचलन बाधाएँ उत्पन्न कर सकती है। हम जानते हैं कि अमेरिका में आलू की फसल चालू होने पर कोलोरेडो (Colorado) कीड़ा—जो पहले नाशक-नाइटशेड (Night Shade) को खाकर जीवित रहता था—सारे अमेरिका में आलू के उत्पादन के साथ फैल गया। अब कोलोरेडो कीड़ा आलू की फसल का सबसे बड़ा दुश्मन है। भारत में भी जलकुंभी (Hyacinth) का प्रमाण वर्तमान है। प्रारम्भ में केवल एक जिज्ञासा के साथ ही इसको लाया गया परन्तु अब यह हजारों मील जमीन को आच्छादित कर चुका है तथा कृषि और आवागमन में भी बाधा पैदा करता है।

इसलिए शास्त्रीय-कृषि विशेषज्ञ इंगित करता है कि यदि हम विकास के सी दीर्घकालीन स्थायी परिणाम पर पहुँचना चाहते हैं तो बहुत से कारणों तथा तत्त्वों को ध्यान में रखना पड़ेगा। इसलिए वह जोर देता है कि स्थानों के अक्षांश (latitude) तथा समुद्र तल से ऊँचाई (altitude) जलवायु,

प्राकृतिक भूमि-उर्वरता, जीव के प्रकार तथा जातियाँ, सम्भावित कीड़े तथा रोगों तथा स्थानीय प्राचीन इतिहास विषयक ज्ञान को संचित किया जाय। विशेष ध्यान इस पर देना चाहिए कि आदमी, पशु तथा कीड़े और मिट्टी में एक संतुलित संबंध स्थापित किया जाय। हम प्रकृति को असीम रूप से अपने स्वार्थ के लिए अधिकृत करना चाहते हैं तथा अन्य प्राणियों के हित को भुला देते हैं। अगर हम ऐसा ही करेंगे तो हमें वही भुगतना पड़ेगा जैसा कि उ० प्र०, बिहार, बंगाल में है जहाँ पिछले ५० साल से प्रयत्न करने पर भी मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ी नहीं है और जहाँ अधिक संख्यक होते हुए भी पशु छोटे कद के, कमजोर तथा कम दूध देने वाले बहुतायत से पाए जाते हैं।

शास्त्रीय कृषि का प्रारम्भ तथा सक्रिय प्रयोग एक दीर्घकालीन समस्या है। शायद यह एक अनन्तकालीन स्थायी समस्या है। क्योंकि मानव कदाचित् ही कभी तथ्य जगत् के पूर्ण पहलुओं और स्थितियों को समझने योग्य हो सके। इसलिए विशेष अल्पकालीन दृष्टिकोण से विभिन्न रोगों को रोकने, पौधों के बीमारियों को रोकने की प्रणालियाँ तथा कीड़ों और बीमारियों द्वारा विनाश को घटाने के लिए यत्न किया जाना चाहिए।[१५]

फिर भी यह सम्भव है कि फसलों की उन्नत जातियाँ प्राप्त की जा सकती हैं जिनसे कि उत्पादन की मात्रा तथा गुण में वृद्धि हो सके। भारत में

---

[१५] केन्द्रीय सरकार ने (१९४७ में) एक फसल सुरक्षा, क्वैरेन्टाइन और संचय संस्था (Plant Protection, Quarantine and Storage Organisation) का निर्माण किया। ये ८० लाख खाद्यान्न (cereal) (सम्पूर्ण उत्पादन का लगभग २०% की जो कि कीड़े मकोड़ों, रोगों तथा पौधे की बीमारियों द्वारा नष्ट हो जाती है रक्षा करने में सहायता देगी। इस संस्था के कार्य ये हैं :—(१) पौधों की बीमारियां तथा उड़ने वाली प्राकृतिक व्याधियों यथा टिड्डी दल को नियंत्रित करना, (२) पौधे की सुरक्षा के लिए परामर्श देना तथा कार्य का आयोजन करना, (३) प्रदेशों में कृषि-विकास और विदेशी बीमारियों तथा व्याधियों को रोकने के लिए विशेषज्ञों तथा औषधियों की पूर्त्ति करना, (४) पौधों के रोगों तथा व्याधियां सम्बन्धी ज्ञान का अंत-

इस ओर काफी क्षेत्र है[१६]। अब तक गेहूँ, कपास, गन्ना, जूट पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। इस विषय में यह उल्लेख किया जा सकता है कि प्रादेशिक सरकारों द्वारा अच्छी जाति के बीज की पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। कुछ सीमा तक अच्छा तो यह होगा कि गांवों में ही सहकारी बहुमुखी समितियों के द्वारा गांव के उत्पादन में से ही उत्तम बीज संचित कर लिए जायँ। जहाँ पर फसल

प्रान्तीय विनिमय के लिए काम करना, (५) पौधों के कीड़ों तथा इन कीड़ों पर खोज करना। दो ऐसी बीमारी हैं जो पूरे भारत भर में पाई जाती हैं पहली परदार सुलसुली (flouted scale) तथा गेरुई (wheat-rust) दूसरी है। पहले कीड़ों को खेतों में रोडोलिया (Rodolia) नामक कीड़े छोड़ कर नियंत्रित किया जा सकता है। इस विषय में मद्रास, मैसूर तथा ट्रावनकोर में खोज और प्रयोग हो रहा है। ऐसे प्रकार के गेहूँ को पैदा करने की आवश्यकता है जिसमें गेरुई न लगे। वर्तमान् समय में उ० प्र०, बम्बई, मद्रास, व बंगाल, उड़ीसा, अजमेर तथा कुर्ग में पौधा-सुरक्षा सम्बन्धी प्रयोग हो रहा है तथा उ० प्र० में इसके केन्द्र रानीखेत, मेरठ, लखनऊ और गोरखपुर में हैं।

[१६] 'भारतीय ग्राम-विकास' (Developing Village India, published by the I. C. A. R.) में यह कहा गया है कि सन् १९२२-२७ में कपास का उत्पादन प्रति एकड़ ९६ पौंड तथा सन् १९३७-४२ में १०९ पौंड था। इसका मतलब यह है कि १५ वर्षों में लगभग १३% वृद्धि हुई अर्थात् प्रतिवर्ष १% से कम, परन्तु हमारी जनसंख्या निरन्तर एक प्रतिशत वार्षिक बढ़ी है। जनसंख्या की वृद्धि उत्पादन की वृद्धि से अधिक है। यदि प्रगति की यही गति रही, तथा उत्पादन के क्षेत्र के एकड़ों में वृद्धि नहीं होती है, तब जैसे जैसे हमारी जनसंख्या बढ़ती जायगी हमारा प्रतिजन उत्पादन गिरता जायगा। यदि उत्पादन के विकास की गति को जनसंख्या वृद्धि की गति से बढ़ाना है तो विभिन्न कृषि-विभागों की क्षमता को बढ़ाने का यत्न होना चाहिए।

डा० बर्न्स (Dr. Burns W.) लिखित भारत में कृषि-विकास की टेकनिकल सम्भावनाएँ विषयक रिपोर्ट के आधार पर निम्नांकित अंक तालिका तैयार की गई है :—

की ऐसी जातियों को बनाना हो जो ग्रामीणों को अज्ञात हों तो उनकी पूर्ति ग्रामीण पौधशालाओं (Plant Nurseries) से होनी चाहिए।

प्रादेशिक सरकार द्वारा उनके वर्तमान् बीज गोदामों से बीज सहकारी समितियां के हाथ दिया जाना चाहिए। बीज गोदाम अब तक सुचारु रूप से

	उत्पादन प्रति एकड (पौंड में)	प्रतिशत में वृद्धि इन कारणों से					प्रत्याशित लक्ष्यगत प्रतिएकड़ उत्पादन (पौंड में)
		बीज	सुरक्षा	खाद	सिंचाई	सब से	
चावल	७३८	५	५	२०	—	३०	६५६
गेहूं	६४०	५,१००	—	हां	हां	—	१२०० (६०० असिंचित क्षेत्र के लिए)
ज्वार	४८४	—	हां	हां	हां	२०	—
बाजरा	३२०	—	—	—	२५	२५	४००
मक्का	८००		—	हां	—	२५	१०००
चना	३५६	२०	—	—	—	—	६००
गन्ना	१५ टन	१००	—	—	—	१००	३० टन
मूंगफली	६००	११	—	—	—	११	१०००
रेंडी	२५६	१०	—	--	—	१०	२८५
कपास	६०	संभव है	हां	सकता है	—	—	—
जूट	१६ मन	हां	—	हां	—	२५	२० मन
आलू	?	हां	हां	हां	—	१००	?

आलू, फल तथा तरकारियों के विषय में समंक (data) ठीक ज्ञात नहीं हैं।

रेशेवाली फसलों, अलसी तथा दाल के फसल के विषयों में कम ध्यान दिया गया है। मक्का (maize) की जातियों का प्रचार ठीक नहीं किया गया है।

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि यदि फसलों की अच्छी जातियों का प्रयोग किया जाय तो उत्पादन कितना बढ़ सकता है।

काम नहीं करते रहे हैं। उ० प्र० में सहकारी बीज गोदामों को १६४८ के बाद विकास क्षेत्रों की सहकारी समितियों को हस्तान्तरित कर दिया गया है जिसमें कि लगभग २ करोड़ रुपए की बीज राशि मुफ्त दान के रूप में दी गई है ।

फसल उगाने की प्रणाली

उत्पादन को इस प्रकार बढ़ाने के लिए कि कहीं मिट्टी की बनावट या उसके तत्वों को क्षति न पहुँचे, तीन प्रणालियां सम्भव हैं यथा, फ़सलों का ठीक हेरफेर (rotation), मिश्रित फसल तथा अतिरिक्त फसल (catch cropping)। यदि खेतों में समय समय पर फसलों को बदल कर बोया जाय तो अधिक हद तक खेत की उर्वरा शक्ति सुरक्षित की जा सकती है तथा कीड़े और व्यक्तियों के कुप्रभाव को रोका जा सकता है। इस तरह उ० प्र० में पहले वाली चावल की जाति को, जो प्रादेशिक उत्पादन के ⅓ भाग के बराबर है तथा जिसके कारण बाजरे की खेती नहीं हो पाती है, बरसीम घास के साथ मिलाया जा सकता है। पूर्वी उ० प्र० में ईख की फसल के बाद धान, फलीवाली फसल (legumes) तथा फिर हरा खाद या सौंवा का उत्पादन किया जा सकता है। फसल परिवर्तन की प्रणाली ग्रामीणों में पहले से ही खूब प्रचलित हैं परन्तु इनकी वर्तमान् प्रणाली की जांच होनी चाहिए तथा उसमें सुधार होना चाहिए।

भारत में फसल परिवर्तन के दो अन्य महत्वपूर्ण पहलू भी हैं। प्रथम, भारत में प्रचलित फसल के कई हेरफेर से खेत को परती छोड़ने की प्रथा है। द्वितीय, जिस जमीन में कांस लगी हो (weed-infested) उस पर खेती नहीं की जाती। अल्पकाल में यदि परती में भी मिश्रित खेती की जायगी तब देश में उत्पादन बढ़ेगा।

लगभग ८७० लाख एकड़ भूमि को परती छोड़ा जाता है। उत्तर प्रदेश में कुछ ३६५ लाख एकड़ भूमि, जिसमें कृषि होती है, में से २७५ एकड़ भूमि में प्रति वर्ष एक फसल पैदा की जाती है तथा लगभग १०० लाख एकड़ भूमि को रबी की फसल के बाद परती छोड़ दिया जाता है। परन्तु यह सम्भव होना चाहिए कि खेत में फसल सदैव एक न एक पैदा होती रहे और फिर

भी खेत की जिस उर्वरा शक्ति का व्यय पहले वाली फसल के उत्पादन में हो चुका है बाद में वह फिर खेत को प्राप्त हो जाय। अतः दीर्घकाल के दृष्टिकोण से मिश्रित फसल-प्रणाली का प्रयोग में लाना चाहिए। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (Indian Council of Agricultural Research) ने उ० प्र०,[१७] म० प्र०, तथा सिन्ध और उ० प्र०, सीमांत प्रदेश (पाकिस्तान) में मिश्रित-फसल-प्रणाली संबंधी विशेष सफल प्रयोग किया है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ कि उत्पादन में वृद्धि हुई, आमदनी काफी बढ़ी तथा किसान को अच्छा भोजन मिला।

मिश्रित-फसल-प्रणाली द्वारा खेती प्रारम्भ करने में देर लगती है। किसानों को इसके लाभ से परिचित कराना तथा इसके प्रयोग के पक्ष में लाना होगा। परन्तु अल्पकाल में शीघ्र उगने वाली फलीदार फसल की खेती करना संभव है। इससे मिट्टी में अधिक नाइट्रोजन स्थायित्व प्राप्त करेगा, मिट्टी का कटाव कम हो जायगा तथा चारे और दाल का उत्पादन बढ़ेगा। इस तरह १०० लाख एकड़ परती भूमि उ० प्र० में लगभग २० लाख टन दालों के उत्पादन को बढ़ा सकती है। स्थिति देखते हुए यह वांछनीय है कि क्षेत्र क्षेत्र

---

[१७] उत्तर प्रदेश में पश्चिमी (मेरठ तथा बरेली), मध्य (बाराबंकी तथा लखनऊ) और पूर्व (गोरखपुर) के जिलों में प्रयोग हुआ है। निम्नांकित अंक तालिका प्रयोग के परिणाम को दिखलाती है —

स्थान	खेती की प्रणाली	क्षेत्रफल (एकड़ में)	कुल लाभ (रुपए में)
मेरठ (ग्रामीण)	मिश्रित	११·४	२३००
	नियंत्रित	१०·७	१२.१३
बरेली (,,)	मिश्रित	७·७४	४२४
	नियंत्रित	७·६२	१७८
लखनऊ (,,)	मिश्रित	७·२०	६११
	नियंत्रित	८·००	२८२
गोरखपुर (,,)	मिश्रित	८·०६	१५४१
	नियंत्रित		८·००२.६५

के लिए फलीदार और गैर फलीदार फसलों के नाम और अनुपातादि निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाए।[१८]

भारत में लगभग १०० लाख एकड़ भूमि ऐसी है जो झाड़-झंखाड़ तथा जङ्गली घासों से ढकने के कारण खेती नहीं होने देती। कांस आदि (weeds) को जहां जहां हवा आसपास उड़ा कर ले जाती है वहीं वह उगने लगता है। भारत में काँस तथा हरियाली (Kans and Hariali) दो प्रधान काँस (weeds) हैं। उनकी जड़ें क्रमशः ११"-१४" (कभी कभी ३६") तथा १०"-१२" तक जमीन में चली जाती हैं। उनका विनाश जनवरी तथा मई के बीच मशीन के हलों द्वारा जुताई करके किया जा सकता है जिससे उनकी

---

[१८] मिश्रित फसल में अधिकांश फलीदार तथा गैर फलीदार फसलों को मिला कर अथवा "फसल के हेर फेर" में बोते हैं। इस संबंध में यह ज्ञातव्य है कि फलीदार फसलें मिट्टी में नत्रजन अधिक एकत्र कर देती हैं। एकत्र नत्रजन की मात्रा घट जाती है यदि (i) भूमि में पहले ही से अधिक नत्रजन हो, (ii) प्रकाश तथा तापमान अधिक हो, (iii यदि सिंचाई की सुविधा कम हो, (iv) क्षेत्र सूखा हो, (v) गैर फलीदार फसलों के क्षेत्र का अनुपात अधिक हो तथा यदि (vi) मिट्टी में फ़ास्फोरस तथा कैलशियम अधिक हो या इनकी खाद दी जाय। जहां फलीदार और गैर फलीदार फसल साथ साथ बोई जाती हैं वहां दो अन्य बातों का भी ध्यान रखना चाहिए: (अ) कौनसी फसलें बोई जा रही हैं। यथा, वर्षा सिंचित क्षेत्र में ज्वार (गैर फलीदार) तथा मटर (cowpeas) की मिली फसल अधिक लाभप्रद है परन्तु नहर से सिंचित क्षेत्र में ज्वार तथा वनसेम का उपयोग उत्तम है। (ब) फसलों को किस दिशा में तथा अलग अलग लाइनों में (या मिला-जुला कर) बोया गया है। इन बातों को ध्यान में रख कर यह कहा जा सकता है कि क्षेत्र-क्षेत्र के लिए फलीदार और गैर फलीदार फसलों का नाम और अनुपात निश्चित कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। (देखिए रूरल इंडिया, अप्रेल-मई, १९५३, पृष्ठ १४०)

जड़ भूमि पर खुली हवा में गर्मी से सूखकर मर जायें।[१९] जब कि भारत में कृषि उत्पादन का इतना अभाव है, इस तरह को जमीन को अधिकृत करना चाहिए चाहे यह काम शास्त्रीय कृषि के आधार से बहुत ठीक न हो।

यद्यपि सन् १९३७ में जान रसेल (John Russell) ने इस दिशा में हमारा ध्यान आकर्षित किया था कि (i) मिश्रित-फसल-प्रणाली का अध्ययन विस्तृत क्षेत्रीय-प्रयोग के दृष्टिकोण से होना चाहिए, (ii) कुछ फसलों का मिश्रण अन्य के अतिरिक्त अच्छा हो सकता है; परन्तु इस विषय में बहुत ही कम काम हुआ है। मिश्रित-फसल की खेती सूखे क्षेत्र में विशेषतः सफल होती है जहाँ पर सब प्राप्त नमी को एकत्रित, सुरक्षित तथा प्रयोग में लाने की ही समस्या है। सूखे क्षेत्रों में पैदा करने के लिए कुछ फसलें ये हैं : बाजरा, दाल, तिलहन (यथा, अंडी), कपास तथा तम्बाकू। निम्नांकित मिश्रण एक फसली क्षेत्रों के लिए उचित होंगे—कपास तथा गाजर, कपास तथा मेथी, मूंगफली तथा खाद्यान्न, मक्का तथा अरहर, ज्वार तथा अरहर, गेहूँ तथा चने, चरी तथा मूली, बाजरा और अकरा।[२०]

परन्तु मिश्रित फसल तथा बीच में कुछ फसल तैयार कर लेने वाली प्रणाली का मतलब होगा कि फसल उगाने की एक अवधि के भीतर एक से अधिक फसल पैदा की जायगी। मिश्रित फसल में बीज पहले से ही मिला-कर बोए जाते हैं और आगे पीछे फसलें काटी जाती हैं। दूसरी में मुख्य फसल के अतिरिक्त अलग से अन्य फसलें बोई जाती हैं और मुख्य फसल पकने और कटने के पहले ही काट ली जाती हैं। इस तरह गन्ना की फसल खेत में वर्तमान

[१९] मिश्रित खेती संबंधी प्रयोगों से ज्ञात होता है कि इससे कांस घटती है और परती छोड़ने से कांस अपेक्षाकृत अधिक फैलती है। देखिए भारतीय विज्ञान कांग्रेस उन्तालीसवां अधिवेशन, पुस्तिका भाग ४, कृषि-वर्ग में पढ़े डा० भोलानाथ सिंह के लेख, पृष्ठ ४१।

[२०] देखिए उपर्युक्त, पृष्ठ ४३ गेहूँ-चना, गेहूं-सरसों, गेहूँ-चना-सरसों, गेहूँ-सरसों-परती के हेर-फेर से कांस कम होता है। गेहूँ चने की बोवाई ४:१ के अनुपात में और गेहूँ-मटर को २:३ के अनुपात में मिला कर बोने से क्रमशः ५ तथा ४४% की उपज वृद्धि पाई गई है।

ही रहेगी इसी बीच में तरकारियाँ पैदा की जा सकती हैं तथा अरहर की फसल कटने के बाद ज्वार, बाजरा, मक्का आदि (Sorghum) खेत में उत्पादित किया जा सकता है।[२१]

फसल-आयोजना-खोज

यह समस्या रह जाती है कि खोज विषयक कार्य कौन करेगा, किस तरह खोज-कार्यों का समन्वय किया जायगा ? यदि यह कई लोगों के द्वारा किया जायगा तो प्रयोगशाला तथा खेतों के बीच संबंध किस तरह स्थापित करेंगे ? खोज के कार्य के लिए भारत में भारतीय कृषि खोज-संस्था (Indian Agriculture Research Institute) प्रादेशिक कृषि-विभाग, कुछ विशेष खोज-संस्थाएँ यथा, कपास, शक्कर, तिलहन, लाख; चाय, काफी तथा जूट के लिए; कृषि विद्यालय, कुछ प्राइवेट संस्थाएँ तथा विश्वविद्यालय हैं। उन परिस्थितियों में यह उचित नहीं जान पड़ता कि सारा खोज कार्य भारती कृषि-अनुसंधान परिषद् (इंडियन काउन्सिल आफ एग्रीकलचरल रिसर्च) के ही हाथ में रहना चाहिए। अच्छा तो यह हो कि यह कृषि-खोज को संबद्ध तथा विकसित करे। उक्त परिषद आजकल इसी तरह का कार्य कर रही है। पश्चिमी देशों में जहाँ तक आधारभूत सिद्धान्तों का संबंध है कृषि-कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में खोज-कार्य बहुत हुआ है। भारत में हर प्रदेश में कृषि कालेज नहीं हैं। इसके अतिरिक्त देश में कृषि-स्कूल तथा कालेजों की संख्या बढ़ानी चाहिए। भविष्य में इसका ध्यान रखना चाहिए कि इन्डियन काउन्सिल आफ एग्रीकलचरल रिसर्च तथा विश्वविद्यालयों के बीच पहले की अपेक्षा अधिक सहयोग पैदा हो। सचमुच डा० रसेल का यह विचार ठीक था कि हर प्रकार के अनुसंधान चाहे वैज्ञानिक हों या अर्थशास्त्रीय कालेजों तथा विश्वविद्यालयों

---

[२१] भारत में ज्वार-बाजरा तथा मक्का लगभग एक तिहाई अन्न-क्षेत्र में पैदा किए जाते हैं तथा इनका उत्पादन कुल खाद्यान्न के उत्पादन का लगभग एक चौथाई है। इन फसलों के बाद भूमि को परती छोड़ने की अपेक्षा यदि उसमें फलीदार फसल बोई जाए और तत्पश्चात् गेहूँ तो गेहूँ की उत्पत्ति बढ़ जाती है। इससे मोटे अनाज फलीदार फसल और गेहूँ के हेर-फेर का प्रसार वांछनीय है। (देखिए रूरल इंडिया, मार्च १९५३, पृ० ११२)

के हाथ में दे देना चाहिए ः इससे स्नातकों को खोज करने में तथा खोज-प्रणाली में प्रगति मिलेगी तथा वे शिक्षित भी होंगे।

जितनी संस्थाएँ खोज करती हैं सबके ऊपर उनके खोज को समन्वित तथा संबद्ध करने के लिए भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् ही ठीक है। इसका काम यह भी हो कि वह ध्यान रखे कि किसी योजना के अनुसार खोज कार्य में प्रगति हो तथा खोज द्वारा प्राप्त ज्ञान को खेतों में सक्रिय रूप देने के कार्य को वह प्रोत्साहन देवे। परिषद् द्वारा ऐसी समिति नियुक्त होनी चाहिए जो कि भूमि उर्वरता के पहलू पर जाँच करे। इसका संबंध, मिट्टी का विश्लेषण करने, भारतीय मिट्टी के मानचित्र बनाने, खाद के प्रयोग करने, भूमि का कटाव रोकने, भूमि को पुनः अधिकृत करने तथा खेती योग्य बेकार पड़ी भूमि को प्रयोग में लाने से होगा। एक दूसरी समिति का निर्माण उत्पादन समस्या को हाथ में लेने के लिए होना चाहिए। यह अपना ध्यान खोज, फसल योजनाओं तथा उत्पादन की बाधाओं पर रखेगी। इस तरह ये दोनों समितियाँ (उर्वरता-समिति तथा उत्पादन समिति) परिषद् के सहयोग में काम करते हुई खोज तथा विकास विषयक काम भी करेंगी।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अच्छे मस्तिष्क का ठीक संस्थाओं द्वारा प्रयोग, मितव्ययता तथा विभिन्न फसलों के लिए खोज केन्द्रों के संस्थापन के लिए बहुत ही अवसर तथा सीमा है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है कि फसल संबंधी खोजों का आधारभूत, क्षेत्रीय तथा स्थानीय आधार पर विभाजित करना चाहिए। एक ही कृषि-पदार्थ के संबंध में विभिन्न प्रदेशों द्वारा किए गए खोजों (यथा, चावल, गेहूँ या गन्ना आदि विषयक) से क्या लाभ हैं? इसकी आवश्यकता अभी पूर्ण रूप से नहीं समझी गई है। अभी हाल में सारे देश को जलवायु के आधार पर पाँच भागों में विभाजित किया गया है [२२] :

---

[२२] इन पांच प्रदेशों में भारत के विभिन्न भागों का इस प्रकार क्रमशः वितरण होगा :—

(१) पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उ० प्रदेश, पश्चिमी म० प्र० तथा ग्वालियर।

(२) आसाम, प० बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पू० म० प्र० तथा उ० पू० मद्रास।

(१) सूखा उत्तरी क्षेत्र—प्रमुख उपज गेहूँ

(२) पूर्वी भाग—प्रमुख फसल चावल

(३) दक्षिणी भाग—ज्वार-बाजरा प्रमुख फसल

(४ शीत-हिमालय का भाग

(५) समुद्र-तटीय भाग

सम्भवतः कालांतर में प्रत्येक भाग के लिए प्रादेशिक समिति स्थापित होगी। यह प्रादेशिक कृषि-समस्याओं का अध्ययन करेगी और अपने सुझाव भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के आगे रक्खेगी।

अधिक क्षेत्र में खेती

अभी तक हमने क्षेत्र वृद्धि की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। हमारे यहाँ लगभग २४ करोड़ एकड़ में एक फसल तथा ४ करोड़ एकड़ में दूसरी फसल भी पैदा की जाती है। मिश्रित खेती करके तथा सिंचाई सुविधा द्वारा ११ करोड़ एकड़ में दूसरी फसल पैदा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त लगभग ६ करोड़ एकड़ परती भूमि में से एक चौथाई पर मिश्रित खेती आरंभ की जाय। बेकार पड़ी कृषि-योग्य भूमि में से, जो लगभग ६ करोड़ एकड़ है, आधी को खेती के लिए तोड़ना चाहिए। इस प्रकार लगभग १३ करोड़ एकड़ में भूमि अधिक फसल के लिए उपलब्ध हो जाएगी। सरकार, वैज्ञानिकों, प्रसार कार्य करनेवालों तथा किसान के सहयोग से ही यह कार्य पूरा हो सकता है।

---

(३) झाँसी डिवीजन (उ० प्र०), शेष म० प्र०, पू० हैदराबाद, प० मद्रास, बम्बई, बड़ौदा और मैसूर के कुछ भाग।

(४) आसाम का पहाड़ी भाग, सिक्किम, भूटान, नैपाल, कुमायूँ, गढ़वाल, शिमला, कुल्लू, चम्बा, और काश्मीर।

(५) भारत के दक्षिणी तटीय प्रदेश, मैसूर के शेष भाग, कुर्ग ट्रा-कोचीन।

परिच्छेद तीन के लिए परिशिष्ट

खाद्य-मोर्चा

भारत की जनसंख्या १९५१ में ३६ करोड़ थी। यदि हम अपनी आवश्यकताओं के विषय में यह कल्पना करें कि प्रति दिन प्रति मनुष्य आधा सेर अनाज आवश्यक है तो हमारी वार्षिक आवश्यकता लगभग ६०६ लाख टन होगी। सन् १९४७-४८ में हमारा उत्पादन लगभग ४२६·६ लाख टन था। कमी लगभग १८० लाख टन की है अर्थात् हमारे उत्पादन के ३/७ भाग के बराबर। परन्तु यदि हम ६ छटाँक प्रति मनुष्य प्रतिदिन की कल्पना करें तब हमारी कमी ४५४·५–४२६·६ अर्थात् लगभग ३० लाख टन के बराबर होगा जो कि हमारे १९४८ के उत्पादन के १/१४ के बराबर है। इन दोनों सीमाओं के बीच में ही कहीं वास्तविक दशा है अनुमानतः १०० लाख टन की कमी हो सकती है। इस कमी को पूरा करने के लिए उत्पादन १/४ भाग के बराबर बढ़ाना पड़ेगा।[१]

ऊपर का विश्लेषण अल्पकाल के दृष्टिकोण से किया गया है। दीर्घकाल के लिए हमें अधिक जन-संख्या का ध्यान रखना पड़ेगा। यदि कई वर्षों का

---

[१] १९५२ में मानव पोषण तथा पशु-पोषण संबंधी वार्ता में डा० सेन ने कहा था कि जनसंख्या का ८०% वयस्क-जनसंख्या (Adult-equivalent Population) है। भारत में इसे ३० करोड़ मान लें, तो प्रति व्यक्ति २७०० क्लारी तक स्वीकृत संतुलित भोजन के आधार पर ४·३ करोड़ टन अन्न, ९० लाख टन चावल दाल, ३ करोड़ टन हरी तरकारी, ६० लाख टन गुड़ चीनी, ९० लाख टन फल तथा ३·१ करोड़ टन दूध चाहिए। इस प्रकार से अन्न की कमी नहीं है। क्योंकि आँकड़ों के अनुसार इतना अन्न होता है। फिर भी श्री सेन ने ५० लाख टन अतिरिक्त अनाज की आवश्यकता बतलाई थी और योजना आयोग ने इसे ७५ लाख टन पर आंका है।

ध्यान रखा जाय तो जनसंख्या में अवश्य कुछ वृद्धि होगी। इसलिए अतिरिक्त खाद्य-सामग्री को वर्तमान उत्पादन के तीसरे भाग के बराबर बढ़ाना उचित है।

तालिका नं० १

प्रदेश (i)	प्रादेशिक उत्पादन के खाद्य-सामग्री के आयात का[२] प्रतिशत (ii)	नगर-जनसंख्या का प्रतिशत (iii)	प्रादेशिक उत्पादन जो ग्राम से नगर[३] या (प्रतिशत में) (iii) — $\frac{(ii)\ (100 - iii)}{100}$ = (iv)	सन् १९४७-४८ के प्रादेशिक गल्ला वसूली का प्रतिशत (v)	सन् १९३९-४७ के खाद्य-सामग्री के क्षेत्र की वृद्धि का प्रतिशत (vi)
आसाम	०.५	२·८	२·४	१५	
बिहार	५·८	५·८	—० १	२·६	हाँ
बम्बई	१५·९	२६·०	१४·२	६ ५	७
म० प्र०	—५·८	१२·५	१७·६	८·[illegible]	६
मद्रास	१० ९	१६·०	९·८	२०·८	
उड़ीसा	—८·२	३·७	११·६	६·४	हाँ
उ० प्र०	०·६	१२·५	१२·०	४·८	१·८
पंजाब	—१३·२	१५·३	२६·५		
बंगाल	४·३	९·८	५·९	१४·९	

[२] *Vide* Food Statistics of India. (Published by Manager, Government Publications, Delhi) Statement No. LXXXII, p. 136. ऊपर की गणना इसी विज्ञप्ति के आधार पर बनी है। बीज तथा नष्ट होने वाले अनाज के लिए छूट दी गई है।

[३] यह सिद्धान्त इस अनुमान पर आधारित है कि सारा उपभोग प्रति मनुष्य प्रति दिन ग्रामीण तथा नगर क्षेत्र दोनों के लिए एक समान ही है।

पंचवर्षीय योजना

पंचवर्षीय योजना आयोग ने प्रत्येक कृषि पदार्थ की वृद्धि के ध्येयांक (Target) निर्धारित कर दिए हैं। परंतु गांव-गांव में फसल योजना की कोई व्यवस्था नहीं है। अतः जल, बीज, खाद आदि की सुविधा के बल पर ही बृद्धि होगी। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह सुविधा कहां तक दी जा सकेगी तथा किसान उनका कितना उपयोग करेगा। अतः ध्येयांक इतने सामान्य हैं कि वे सरलता से पूरे हो जायँ। योजना आयोग ने ग्राम को इकाई मानकर भावी व्यवस्था की बात तो सोची है। वह आर्थिक ढांचे और आर्थिक-तरीकों में परिवर्तन का पोषक है। वह ग्रामीणों को समता तथा सम-अवसर की सुविधा का पोषक है। वह शोषण तथा विषम आय-वितरण को दूर करना चाहता है।

गल्ला वसूली से शिक्षा

एक बात याद रखनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय युद्ध काल तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी प्रदेशों में सत्य सूचना तथा पूर्ण प्रयत्न का अभाव दिखाई पड़ता था। जैसा कि तालिका नं० १ से स्पष्ट है, बंबई, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में से शांतिकाल में जितना प्रतिशत गल्ला गांव से नगरों को आता था उसकी अपेक्षा कम गल्ला वसूली की जाती थी।

पैदावार में कमी

क्योंकि सारे प्रादेशिक उत्पादन में कमी हुई थी ऊपर की आलोचना में हेर फेर करना पड़ता :—

(कुल पैदावार लाख टनों में)

समय	बिहार	बम्बई	म० प्र०	उड़ीसा	उ० प्र०
१९३४–३९ (औसत)	४४·२	३५·३	३५·६	१६·३	७९·१
१९४६–४७	३९·२	२७·२	२५·५	१५·६	७७·८

इन पाँचों प्रदेशों में कुल उत्पादन की कमी २५ लाख टन के बराबर थी। बिहार, बम्बई तथा मध्यप्रदेश में यह अधिक थी। इस अवनति के

कारणों का विश्लेषण होना चाहिए तथा जो नियंत्रित हो सकें उनको दूर करना चाहिए।

युद्धकाल के पूर्व ग्रामीण क्षेत्र से प्राप्त खाद्यान्न की मात्रा निम्नांकित थी।

(मात्रा लाख टन में)

	बम्बई	म० प्र०	उड़ीसा	उ० प्र०
(१) युद्ध के पहले की गणना	५·०	६·०	१·६	६·५
(२) गल्ला वसूली, १९४६-४७	१·८	२·२	१·	३·७
(३) कमी	३·२	३·८	०·६	५·८
(४) पैदावार में कमी (१९३९-४७ के बीच)	८·१	१०·१	०·७	१·३

यदि पैदावार की इस सारी कमी को ग्रामीण-क्षेत्र से प्राप्त खाद्यान्न को कम करके ही पूरा किया जाय तो उ० प्र० में खाद्यान्न के लगभग ४·५ लाख टन के अतिरिक्त संचय के लिए अवसर था। अन्य प्रान्तों के विषय में यह तर्क न्याययुक्त नहीं जान पड़ता कि उत्पादन की सारी कमी केवल नगरवासियों के मत्थे मढ़ दी जाय। अनुपात के अनुसार प्रत्येक को भागी होना चाहिए। यदि ऐसा किया जाता तो बम्बई, म० प्र०, उड़ीसा में क्रमशः मोटे तौर पर १, २·५ तथा ०·५ लाख टन खाद्यान्न की अधिक वसूली के लिए अवसर था। इस तरह उचित नियंत्रण के बाद लगभग ८·५ लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न प्राप्त किया जा सकता था। इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रादेशिक सरकारों पर उचित नियंत्रण तथा कड़ी नीति बरती जानी चाहिए तथा प्रादेशिक सरकार द्वारा कर्मचारियों को कड़ी हिदायतें मिलनी चाहिए।

पूर्ति तथा सहायता

यह कहा जा सकता है कि किसान इस प्रत्याशा में कि आगे चलकर वह अपनी पैदावार को महंगे दामों बेचेगा खाद्यान्न को दबा सकता है तथा सरकार इससे भी डरती थी कि यदि गल्ला-वसूली में बल प्रयोग किया गया तो ग्रामीणों से राजनीतिक सहयोग अप्राप्त हो जायगा। कुछ अन्य आधार हैं (यथा, जमींदारी-उन्मूलन तथा लगान की कमी) जिनसे किसानों के राजनैतिक

सहयोग प्राप्त किए जा सकते हैं। परन्तु दबाव पूर्वक अनिवार्यता के स्थान पर ठीक तो यह होगा कि सरकार, कांग्रेसी नेता तथा सक्रिय स्वयंसेवक किसानों के पास पहुँचे तथा उनसे अपील करें कि वे इस अवसर पर उठें तथा खाद्यान्न अधिक मात्रा में बेचें। यह दुर्भाग्य का विषय है—अब तक मैंने इसका अनुभव किया है—कि जैसा कि लाल झंडे वाले (कम्यूनिस्ट) मजदूरों से गहरा सम्बन्ध प्राप्त कर चुके हैं, काँग्रेसी का सम्बन्ध किसानों से उतना समीप का और निरंतर नहीं स्थापित हुआ है। काँग्रेस टिकट पर चुनने अथवा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के अवसर मुख्यतः उन्हीं को दिए जायँ जो कि गाँवों में रहते हैं। काँग्रेस के अध्यक्ष से यह आशा की जाती है कि वह अपने अन्तर्गत कार्यालयों तथा कर्मचारियों में उत्साह पैदा करें।

अन्य उत्पादन के साधन—(१) अधिक क्षेत्र

"अधिक अन्न उपजाओ" के आन्दोलन को सफल बनाने के लिए "किसानों से अपील" का सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण है। फिर भी उत्पादन को बढ़ाने के लिए अन्य साधनों का भी प्रयोग होना चाहिए। क्या अधिक भूमि खेती के लिए जुताई द्वारा अधिकृत की जा सकती है? यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि सन् १९४५-४६ में भारत (वर्तमान् भौगोलिक सीमा के अनुसार) में खाद्यान्न उत्पादक क्षेत्र १७८५ लाख एकड़ था तथा उत्पादन लगभग ४१० लाख टन था। इस तरह मोटे तौर पर प्रति टन खाद्यान्न के उत्पादन के लिए लगभग ४·३ एकड़ भूमि की आवश्यकता थी। अतिरिक्त १०० लाख टन खाद्यान्न के लिए हमें ४३० लाख एकड़ भूमि की आवश्यकता पड़ेगी।

हम जानते हैं कि विभिन्न नद-योजनाओं के कारण जो अनुमानतः १५ साल में पूरा होगी (यदि कार्य सुचारु रूप से चला) लगभग २०० लाख एकड़ भूमि सिंचाई के अन्तगत आएगी। लगभग २६० करोड़ रुपया खर्च करने पर सात सालों में ६५० लाख एकड़ बेकार पड़ी भूमि का $\frac{1}{10}$ भाग अधिकृत किया जा सकेगा। परन्तु अत्यन्त अगर-मगर की नीति के कारण योजना की प्रगति धीमी पड़ जाती है। यदि सभी बाधाएँ पार की जा सकें तो सात लम्बे वर्षों के बाद सफलता प्राप्त कर हमारी गणना के अनुसार १५·१

लाख टन खाद्यान्न उत्पन्न कर सकेंगे। स्पष्ट है कि हमारे वांछित फल को ऐसी योजनाएँ प्रदान नहीं कर सकतीं।

प्रदेशों के कुल क्षेत्र में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सन् १९१०-४९ के बीच नगण्य परिवर्तन हुआ है। इस क्षेत्र का कई मुख्य वर्गों में जो लाख एकड़ में वितरण है उसमें अवश्य परिवर्तन हुआ है। यह नीचे की तालिका में दिखाया गया है :—

	हैदराबाद	मद्रास	बम्बई	म० प्र०	उ० प्र०	पंजाब
जंगल	−४·१	+०४	−१२	−१·६	−३·५	−०·१
परती व अन्य § क्षेत्र जिसमें खेती नहीं होती	+१८·९	+२·३	−४·२	+१·६	−१·३	+७·१
वास्तविक खेत	−२३·०	−०·५	+५	+०·२	+४	+२·२

स्पष्ट है कि हैदराबाद तथा पंजाब में काफी भूमि खेती से निकल गई है। मद्रास तथा मध्य प्रदेश में कुछ हद तक यह स्थिति है। वहाँ की प्रादेशिक सरकारों को इस प्रवाह को तुरंत बदलना चाहिए। प्रयत्न तो ऐसा होना चाहिए कि बम्बई तथा उत्तर प्रदेश की भाँति उस भूमि में जिसमें खेती नहीं होती थी खेती होने लगे।

इसी सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि उत्तम किस्म के गन्ने की खेती होने पर भी गन्ने की प्रति एकड़ पैदावार बढ़ी नहीं है। जबकि कृषि-पुरस्कार पाने की इच्छा से प्रेरित कुछ किसानों ने ८० मन प्रति एकड़ गन्ना पैदा किया है, सामान्यतः औसत पैदावार वहीं है जो देशी गन्ने की होती थी। सन् १९५२ की भारतीय विज्ञान कांग्रेस में इस समस्या पर कुछ प्रकाश डाला गया था[४]। उत्तर प्रदेश के कृषि विद्यालय (कानपुर) में भी अध्ययन हुआ है[५]। ऐसा मालूम पड़ता है कि (१) यदि किसान उतने ही क्षेत्र में गन्ना बोए

---

§ इसमें नगर, राह, पुल, नदी आदि से घिरी जगह नहीं शामिल है।

[४] देखिए भारतीय विज्ञान कांग्रेस (१९५२) का कृषि-विज्ञान-वर्ग के अध्यक्ष का भाषण।

[५] देखिए रूरल इंडिया, अप्रैल-मई, १९५३, पृष्ठ १९२-५८।

जिसकी वह खूब देखभाल कर सके, (२) यदि किसान को रुपए (अर्थात् ऋण) की सुविधा प्राप्त हो ताकि वह वक्त पर खेत पर काम करा सके, पानी व खाद दे सके। (३) यदि वह जुताई, बुवाई, सिंचाई आदि विधिपूर्वक करे तथा (४) कुदाली से गन्ने को नीचे से काटे तो उसे प्रति एकड़ अधिक गन्ना मिलने लगे। फलतः एक अनुमान के अनुसार उत्तर प्रदेश में ही बीस लाख एकड़ में से आधी में अर्थात् लगभग दस एकड़ भूमि में गन्ने की खेती न करनी पड़े।

अधिक अन्न उपजाओ

उत्पादन को बढ़ाने के लिए कुछ आधार निम्नांकित हैं: 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन,' 'बीज का वितरण,' अधिक सिंचाई की सुविधाएँ, खाद की पूर्त्ति, तथा भूमि-कटाव-अवरोधक कार्य।

'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' स्वयम् एक अर्थहीन पद मात्र है। प्रतिवर्ष इसमें कुछ करोड़ रुपये खर्च हो जाते हैं। इस रुपए के व्यय का लक्ष्य होता है या तो सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करना, खाद और बीज देना या किसानों को सीधे प्रोत्साहन देना। क्या इन्हीं उद्देश्यों के लिए पैसा खर्च किया जाता है तथा सरकारी कर्मचारियों ने भत्ता-व्यय में बहुत व्यय नहीं किया है? हम यह जानना चाहते हैं कि यह धन कैसे खर्च किया जाता है। हम चाहते हैं कि इस व्यय पर उचित नियंत्रण रहे तथा प्रत्येक वर्ष व्यय के परिणामों का संचयन तथा प्रकाशन किया जाय। हम यह जोर देकर सिद्ध करना चाहते हैं कि केवल व्यय की मात्रा पर नहीं बल्कि कार्यकुशलता तथा क्षमता[६] पर भी राष्ट्र का हित निर्भर है। सरकार अब ऐसे प्रयत्न सामुदायिक योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा द्वारा करती है जिनके बारे में हम अंतिम अध्याय में लिखेंगे!

---

[६] सरकारी अधिकारियों की कार्यक्षमता बढ़ाने की दृष्टि से ही दिल्ली में इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन नामक संस्था स्थापित की गई है। यह भी संभव है कि ग्रामों में किये गए सुधारों की जांच करने की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में पंचायतों को यह आदेश मिले कि वे अपने क्षेत्र में होने वाले सुधारों, खोदे गए कुओं, बनाए गए मकान आदि का पूर्ण वार्षिक विवरण रखें। यदि ऐसा किया जाए तो समय समय पर सुधारों का लेखा-जोखा लेना सरल होगा।

पोषक पदार्थों पर जोर

पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत खाद्यान्न और अखाद्य पदार्थों के उत्पादन वृद्धि की ओर तो ध्यान दिया गया है[७] परंतु अल्पकाल में आलू, शाक, सब्जी, सस्ते फलादि की पैदावार में भी अधिक वृद्धि की जा सकती है। उनके अधिक उपभोग के कारण जनता को जो पोषक तत्व मिलेंगे वे पेट भराऊ तत्वों (यथा, चावल गेहूँ आदि) से अधिक लाभप्रद होंगे। विकास ब्लाक, सामुदायिक योजना, जिला-नियोजन कार्य तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा के अंतर्गत इस बात पर जोर देना चाहिए कि हम अधिक आलू और हरी तरकारी खाएँ। कम से कम आलू का प्रचार बढ़ाया जा सकता है क्योंकि यह देश भर में *सर्वप्रिय* हो गया है तथा प्रति एकड़ आलू से जितनी उष्णता मिलती है उसकी एक तिहाई ही प्रति एकड़ गेहूँ से मिलती है।

मछली भी पोषक पदार्थ है। पोषण सुझाव समिति ने १९३५-४८ के देश के विभिन्न भागों में भोजन के रूप का अध्ययन किया है। फलतः यह पता चला है कि आसाम, पश्चिमी बंगाल, त्रिवांकुर-कोचीन तथा मद्रास में काफी मांसाहारी भोजन करते हैं। इसमें मछली का स्थान मुख्य है। अतः मछली उत्पादन बढ़ाना चाहिए। अभी हम लोग आखेट युग की भांति समुद्र में उपलब्ध मछलियों का शिकार करते हैं। इस शिकार की वृद्धि करके अधिक मछली उत्पादन कर सकते हैं। दीर्घकालीन दृष्टि से आखेट युग से कृषि युग में आना चाहिए अर्थात् समुद्रों, नदियों और तालों में मछली की नियोजित खेती करना चाहिए।

---

[७] पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत अधिक उपज का कार्यक्रम इस प्रकार है :—

उत्पत्ति (लाख में)	खाद्यान्न (टन)	रूई (गांठ)	जूट (गांठ)	गन्ना (टन)	तेलहन (टन)	चायादि	चारा
१९५०-५१	५४०	२९·७	३६	५६	५१	—	—
१९५५-५६	६१६	४२·२	५३·०	६३	५५	—	—
वृद्धि	७६	१२·६	२०·९	७	४	—	—
प्रतिशत वृद्धि	१४	४२	६३	१२	८	—	—
क्षेत्र (लाख एकड़ में)	२३७३	११९	२०४	११४	२४५	४०	११३

तालाब और झील

सिंचाई के क्षेत्र में बहुधा नहर, कुँआ तथा नलकूप पर ही जोर दिया जाता है। तालाब तथा अन्य साधनों को उपेक्षित कर दिया जाता है। सन् १९३८-३९ में तालाबों द्वारा सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत :—

बंगाल	मद्रास	बिहार	उड़ीसा	उ० प्र०	बम्बई	म० प्र०
५३·६	३५·४	२८·०	२०·६	१६·२	९·२	अधिक

उड़ीसा, बंगाल तथा बिहार में सिंचाई अन्य साधनों (झील आदि) द्वारा सिंचित क्षेत्र के क्रमशः $\frac{१}{२}$ $\frac{३}{४}$ तथा $\frac{१}{७}$ के बराबर होती है। सच है कि कुछ प्रदेशों में तालाब खुदाई का अन्दोलन चला है परन्तु इसमें अभीष्ट क्षमता के साथ काय नहीं हुआ है। उ० प्र० में जहाँ पर तालाब अधिक है सन् १९४८ में केवल १७७० तालाव को गहरा और साफ किया गया। (कहाँ पर यह सब हुआ ?) सीमेन्ट तथा इस्पात की कमी कुँओं तथा नलकूप के निर्माण को सीमित कर सकती है परन्तु प्रादेशिक सरकारें तालाब की खुदाई क्यों नहीं प्रारम्भ करती हैं ? मानसून के प्रारम्भ होने के पहले हजारों तालाबों की खुदाई, उनकी सफाई तथा गहराई बढ़ायी जानी चाहिए। विद्यार्थियों की संस्था ए ग्रामीण क्षेत्र के काँग्रेस सदस्य तथा रक्षक दल के सदस्यों को अवश्य इस दिशा में सक्रिय सहयोग देना चाहिए।

खाद

इसके साथ-साथ इन संस्थाओं मनुष्यों, विकास-कार्यालय तथा कृषि अफसरों का ध्यान खाइयों की खुदाई तथा इन खाइयों में गोबर को सुरक्षित रखने की ओर भी जाना चाहिए जिससे कि सूरज की किरणें गोवर के पौष्टिक तत्त्वों को नष्ट न कर दें। किसानों का प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि रबी फसल के कटने के बाद खेतों में सनई (Hemp) की फसल बोयें तथा उसको जब हरी रहे तभी जाड़े की फसलों को बोने के पहले खेत में हल से जोत दें। कम्पोस्ट (Compost) बनाने के आन्दोलन को भी वहाँ चलाना चाहिए।

रबी के बाद मूंग नं० १ बो कर भी भूमि की उत्पादकता बढ़ाई

जा सकती है। प्रति एकड़ सात-आठ मन मूंग की पैदावार से पैसे भी मिलेंगे।[८]

छीमीदार (Leguminous) फसल की खेती को भी प्रचलित करना चाहिए। यह बीज वितरण को आवश्यक कर सकता है। दूसरी फसलों के लिए भी अच्छे बीज का वितरण होना चाहिए। इसलिए अच्छे बीज के गोदाम और भंडार अवश्य बनाए जाने चाहिए। इन अच्छे बीजों की पूर्ति या तो सरकारी खेतों से या ग्राम की अच्छी पैदावार से होनी चाहिए। परन्तु सरकारी खेतों से प्राप्त बीज की पूर्ति का प्रतिशत बहुत ही कम होगा। इसलिए सरकार द्वारा ग्रामीण फसल से अच्छे बीज का क्रय होना चाहिए तथा उसका वितरण उचित समय पर होना चाहिए। यह अवश्य स्मरण रहना चाहिए कि जो लोग बीज-संचय तथा उसकी रखवाली करते हैं उनको ईमानदारी से काम लेना चाहिए।

जापानी ढंग से धान की खेती

भारतीय किसान प्रति एकड़ २५० पौंड धान का बीज बोता है; आठ से बीस पौधों को मिला कर एक साथ १२-१५ इंच की दूरी से बोते हैं। प्रति एकड़ धान की फसल औसतन ग्यारह मन होती है। जापानी ४-८ पौंड धान का बीज प्रति एकड़ बोता है; ३-६ पौधे मिला कर दस-दस इंच पर बोता है और प्रति एकड़ ४०-१०० मन फसल होती है। देशी धान १५ अगस्त तक बो देना चाहिए और तब वह अक्टूबर के अंत तक तैयार हो जाता है। १५ अगस्त के बाद बोवाई करने से प्रति सप्ताह की देरी पर दो मन प्रति एकड़ फसल कम होती है। पश्चिमी बङ्गाल में किए प्रयोग के आधार पर[९] पौधे को ८-९ इंच की दूरी पर रोपने से लगभग १५% अधिक उत्पादन होता है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित खाद देने से भी निम्नांकित प्रतिशत वृद्धि होती है :—

---

[८] उत्तर प्रदेश में लगभग एक करोड़ एकड़ भूमि रबी के बाद परती छोड़ी जाती है और उसमें मूंग बोने से पर्याप्त लाभ हो सकता है। कृषि विभाग तथा जिला नियोजन अफसरों को इसके प्रचार की ओर ध्यान देना वांछनीय है।

[९] देखिए लीडर १५-३-१९५४, डा० एच. के. नंदी का लेख।

	गोबर	खली	अमोनियम सल्फेट	हरी खाद
प्रति एकड़ खाद	१०० मन	६ मन	१.५-२ मन	६०-१२० मन
,, वृद्धि (मन में)	४-५	४-५	३-४	५-८

गोबर को ईंधन के स्थान पर जलाना, खली व कृत्रिम खाद की महंगाई तथा ५०% खेतों का वार्षिक पट्टा किसानों को इस सुधार को करने से रोकता है। अतः इन रोड़ों को दूर करना चाहिए। जापानी ढंग की खेती में एकड़ पीछे १५-२० गाड़ी कूड़े की खाद, ४०० पौंड अमोनियम सल्फेट तथा ४०० पौंड सुपर फास्फेट की जरूरत होती है। अनुमान लगाया गया है कि प्रति एकड़ ९८ रुपए का अधिक खर्च होने पर ६४.५ रुपए की अतिरिक्त बचत होती है। पौधे का बीज जमीन से तीन इंच ऊँची एक एक फुट की दूरी पर बनाई २५ वर्ग फीट की क्यारियों में बोया जाता है। प्रति क्यारी में एक पौंड कृत्रिम खाद डालते हैं और एक पौंड बीज बोते हैं। नमकीन पानी की बाल्टी में जो बीज नीचे बैठ जाते हैं उन्हीं को बोया जाता है और छठी पत्ती निकलने पर पौधे रोप दिए जाते हैं। सिंचाई वाले क्षेत्रों में लगभग दो लाख एकड़ भूमि में जापानी ढंग से खेती की गई है और २५ लाख एकड़ में पूरे तथा २५ लाख एकड़ में आंशिक रूप से इस नए ढंग से खेती करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस हेतु लगभग दस-पंद्रह लाख टन कृत्रिम खाद की आवश्यकता होगी। यदि हम इस कार्य में सफल हो जाएं तो लगभग ७% धान का खेती इस ढंग से होने लगेगी और लगभग ५० लाख टन चावल की अतिरिक्त उपज होने लगेगी। शेष ९३% धान के खेतों में हरी खाद के लिए ढैंचा बो कर खेत में जोत देना चाहिए जिससे लगभग ३०% अर्थात् सौ लाख टन अधिक चावल मिल सकता है। इस हेतु ऋण-सुविधा, अच्छे बीज व खाद के वितरण केन्द्र, सस्ते दाम पर खाद, प्रदर्शन क्षेत्र तथा किसानों को जापानी ढंग की शिक्षा देने के केन्द्र अति आवश्यक हैं। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकार इस ओर प्रयत्नशील हैं।

भूमि-कटान रोकने का कार्य

• मिट्टी विषयक क्षतियों को रोकने के लिए प्रयत्न होना चाहिए। पश्चिमी उ० प्र० में खेतों की मेड़ें मिटती जा रही हैं क्योंकि किसान में इस प्रवृत्ति की

वृद्धि हो रही है कि वह अपनी मेंड़ को काटकर पड़ोसी किसान से पहले अपनी सीमा को बढ़ाना चाहता है। मेड़ों के कम तथा नीची होने के कारण खेतों में बरसाती पानी रुक नहीं पाता है। यदि किसान फिर से मेड़ें बनाने के लिए तैयार नहीं होता है तो उसको समझाना चाहिए कि कम से कम वह अपने खेत में आड़ा जुताई करें जिससे कि खेत की आड़ा (हराइयों) में पानी अधिक रुक सकेगा तथा पानी का प्रवाह भी नियंत्रित रहेगा।

अखाद्य-फसल की खेती को सीमित करना

अखाद्य-फसलों के लिए जिन क्षेत्रों में खेती होती है उसका भी उचित अध्ययन होना चाहिए। तिलहन तथा गन्ने के महँगे दामों के कारण इन फसलों के अन्तर्गत क्षेत्र काफी रहता है। यदि सरकार अपने को मूल्य-नियंत्रण के लिए अक्षम पाए तो उसे इन फसलों के क्षेत्रफल को घटाना चाहिए। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान में बम्बई की सरकार ने कानूनी रूप से यह अनिवाय करके कि पिछले साल के कपास के क्षेत्र का कुछ भाग खाद्यान्न के अन्तर्गत खेती के लिए छोड़ा जाना चाहिए—काफी क्षेत्र खाद्यान्न की उपज के लिए परिवर्तित कर लिया था।

मद्रास, उ० प्र०, आसाम तथा उड़ीसा में इस तरह भूमि-क्षेत्रों का परिवर्तित किया जाना विशेष महत्वपूर्ण है। निम्नांकित तालिका विशेष सहायक है।[१०]

सन् १९३९-४७ के बीच खाद्यान्न के क्षेत्रीय-परिवर्तन

(लाख एकड़ में)

	वृद्धि	घटाव	अधिकतम वृद्धि	खोई हुई वृद्धि
मद्रास	—	४१·६	५·२	४६·८
उ० प्र०	४·७	—	२४·८	२०·१
आसाम	—	०·३	३·६	३·९
उड़ीसा	०·४	—	०·७	०·३
				७१·१

१० देखिए खाद्यान्न नीति समिति (१९४८) की अंतरिम रिपोर्ट।

तालिका का अंतिम कालम यह प्रदर्शित करता है कि यदि बढ़े हुए क्षेत्रफल को खाद्यान्न की उपज के अन्तर्गत रखा जाता तो इस तरह की खेती के लिए अतिरिक्त ७१ लाख एकड़ भूमि की वृद्धि हुई होती। सन् १९३४-४७ के बीच खाद्यान्न का क्षेत्र प्रति टन अन्न के लिए ३-४५ से ३-८ एकड़ के बीच में था। इसलिए ७१ लाख एकड़ भूमि में मोटे तौर पर लगभग २० लाख टन खाद्यान्न उत्पादित हो सकता था। केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रादेशिक सरकारों के नाम आदेश जारी होना चाहिए कि वे इस स्थिति तक पुनः शीघ्र पहुँचें।[११]

---

[११] दीर्घकालीन दृष्टि से सन् १९२१-२२ से लेकर सन् १९५०-५१ के कृषि खाद्य तथा अखाद्य पदार्थों के उत्पादन के देशनांकों (Index Numbers) के अध्ययन के फलस्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि खाद्य पदार्थों का उत्पादन लगभग स्थायी रहा है जबकि अखाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ा है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भोजन की अति कमी के कारण अखाद्य उत्पादन की अपेक्षा खाद्य उत्पादन को अधिक महत्व दिया गया। अतः सन् १९४८-४९ में अखाद्य उत्पादन कम हो गया। उसके पश्चात् अखाद्य उत्पादन की देश में कमी महसूस हुई और वह पुनः १९३६-३९ के औसत उत्पादन से कुछ अधिक हो गया। कृषि-खाद्य-उत्पादन के सम्बन्ध में यह बात नहीं लागू है :—

खाद्य पदार्थ और अखाद्य-पदार्थ उत्पादन के देशनांक (१९३६-३९ = १००)*

वर्ष	खाद्य प०	अखाद्य प०	वर्ष	खाद्य प०	अखाद्य प०
१९२१-२२	१००·०	६३·५	१९ ३४	९८·९	९४·४
,, २३	१०३·०	७३·१	,, ३५	९८·८	८२·६
,, २४	९२·३	७९·२	,, ३६	९५·५	८९·४
,, २५	९२·५	८८·०	,, ३७	१०६·१	१००·८
,, २६	९२·३	९०·३	,, ३८	१०२·४	१०५·१
,, २७	९२ १	९१·८	,, ३९	९०·९	९४·१
,, २८	८५·६	९७·९	,, ४०	९६·४	९८·८
,, २९	९२·१	१०१·४	,, ४१	९७·३	११२·७
,, ३०	९५·०	९७·६	,, ४२	९१·३	९७·४
,, ३१	९६·०	९९·७	,, ४३	९९·९	९२·३
,, ३२	९९·६	७५·८	,, ४४	१०४·७	१०५·४
,, ३३	९८·२	८९·७	,, ४५	१०२·२	९३·३

उपसंहार

इस तरह हम परती भूमि में खेती करके, जापानी खेती के ढंग से शिक्षा लेकर, अखाद्यान्न के क्षेत्र को नियंत्रित करके खाद्यान्न क्षेत्र के रूप में परिवर्तित कर तथा तालाब खुदाई के आन्दोलन से, खाद के प्रयोग से और आड़ी-जुताई से कुछ लाख टन अन्न प्राप्त कर सकते हैं। सफल कार्य तथा अपील के लिए केन्द्रीय सरकार को कड़ी नीति बरतनी चाहिए, कांग्रेस अध्यक्ष तथा उसके सहयोगियों द्वारा ग्राम-भ्रमण तथा निरीक्षण होना चाहिए, प्रादेशिक रक्षक-दल के सदस्य तथा विकास कार्यालयों के कर्मचारियों द्वारा सक्रिय सहयोग मिलना चाहिए।

नक्षत्रों का भाग्य के अनुसार अध्ययन

अब तक इस अध्याय में नियंत्रित किए जा सकने वाले साधनों और शक्तियों के विषय में कहा गया था। उत्पादन तथा मूल्य के घटाव-बढ़ाव के चक्रों का ओर भी ध्यान ले जाना चाहिए। कौन जान सकता है कि यदि आज हम अच्छी फसल पैदा कर सकें तो उधर मूल्य नहीं गिर सकता है ! हमें योजनाएँ अवश्य बनानी चाहिए पर इन अदृश्य शक्तियों का अध्ययन करना भी आवश्यक है : ज्योतिष के द्वारा नहीं वरन् समय को विभिन्न गतियों के वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा।

वर्ष	खाद्य प०	अखाद्य प०	वर्ष	खाद्य प०	अखाद्य प०
१९४५-४६	९२·६	८९·०	१९५०-५१	९४·९	१०२·८
,, ४७	९४·८	९०·५	,, ५२		
,, ४८	९९·१	९१·४	,, ५३		
,, ४९	९७·२	८४·४	,, ५४		
,, ५०	९९·८	९९·५			

*ये आँकड़े अंतर्राष्ट्रीय सांख्यिक कांफ्रेंस, १९५१ में पढ़े गए श्री० ए० आर० सिन्हा के "गत तीस वर्ष में भारत में कृषि उत्पादन की प्रगति" शीर्षक निबंध से लिए गए हैं।

अध्याय चार

भारत में पशुधन का विकास

हमारे विधान में एक ऐसा पद[१] है कि सरकार कृषि तथा पशु-पालन को आधुनिक तथा वैज्ञानिक प्रणालियों से आयोजित करेगी तथा विशेष रूप से

---

[१] ग्रामीण जनसंख्या तथा नगर-जनसंख्या का अनुपात ८:१ है जो कि ब्रिटेन के अनुपात का दुगुना है। भारत में इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों से दूध, दही, घी आदि की पूर्ति की समस्या महत्त्वपूर्ण है। इसका भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि दिन-प्रतिदिन ग्रामीण क्षेत्र से लोग नगरों में आ रहे हैं इसलिए नगरों में दूध-दही की पूर्ति-समस्या और कठिन हो गयी है। इस समस्या का हल आसपास के क्षेत्रों में पशुपालन की अर्थ-व्यवस्था के योजना को प्रभावित करेगी। इसके लिए एक उचित क्रय-विक्रय-प्रणाली का विकास करना अनिवार्य हो जायगा जो कि सारी पूर्त्ति को संचित करके अच्छे दूध-दही की पूर्ति करेगी।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में पशु का महत्त्व इससे प्रमाणित होता है कि यदि प्रति एकड़ किसानों की संख्या जितनी ही अधिक होगी यथा—खेत का जोत जितना ही छोटा होगा—उतना ही प्रति १०० एकड़ पर पशुओं की जनसंख्या का घनत्व बढ़ जायगा।

प्रदेश	पशुओं का घनत्व	खेत का औसत आकार (एकड़ों में)
बङ्गाल	१०४	२·८
उ० प्र०	४४	३·४
आसाम	८७	३·६
बिहार	६१	२·७
मद्रास	४९	५·८
पंजाब	३७	९·०
बम्बई	२४	१२·४
म० प्र०	३९	१३·२

पशु पालन की सुरक्षा और विकास के लिए कदम बढ़ायेगी, गो हत्या तथा अन्य उपयोगी पशुओं के विनाश को रोकेगी [२]। परन्तु पशु क्यों आवश्यक है ?

भारत के आठ प्रदेशों (अविभाजित पंजाब और बंगाल को लेकर) मनुष्य, गाय, बकरी तथा भैंस संबंधी संख्या प्रति वर्ग मील निम्नांकित अंक-तालिका में है। (*Vide* Dr. Wright's Report, 1941)

प्रदेश	घनत्व				श्रेणियाँ			
	मानव	गाय	बकरी	भैंस	मानव	गाय	बकरी	भैंस
ंगाल	६४६	६१.५	८५	३.४	१	१	१	७
उ० प्र०	५०८	६०.१	७५	४२.६	२	२	२	१
बिहार तथा उड़ीसा	४५४	५६.६	६३	१८.७	३	३	३	३
मद्रास	३२६	३०.०	६३	१६.४	४	५	४	४
पंजाब	२४४	२६.३	३५	२६.७	५	६	६	२
बम्बई	२३३	२३.२	३८	१४.६	६	८	५	५
आसाम	१५७	२३.७	—	२.०	७	७	—	८
म० प्र०	१५५	३२.१	—	८.३	८	४	—	६

यह देखा जा सकता है कि मानव, गाय तथा बकरियों की जनसंख्या के के घनत्व में एक सीधा पारस्परिक संबंध है। भैंस के विषय में विशेषकर बंगाल, आसाम, म० प्र० में नकारात्मक संबंध है। गाय और भैंस का अनुपात २·१ से अधिक है, फिर भी युद्ध पूर्व उनके द्वारा दूध के उत्पादन का अनुपात २३·२१ (देखिए Dr. N. C. Wright's Report, Tables Nos. 32 and 33) था। पंजाब, बिहार, उड़ीसा, बम्बई तथा मद्रास में भैंस द्वारा किए दूध के उत्पादन का प्रतिशत ६४% तथा ५०% के बीच था। इससे भैंस के महत्वपूर्ण स्थान का परिचय मिलता है परन्तु इसके दूध से अधिकांश घी का उत्पादन होता है।

[२]हमारे विधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व भाग ४ की धारा ४८ में लिखा है : "राज्य कृषि और गोपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा संगठित करने का प्रयत्न करेगा तथा विशेषतया नस्लों के परिरक्षण और गोसम्वर्धन तथा गायों, बछड़ों व अन्य दुधार एवं भारवाहक यानी हल, गाड़ी आदि में चलने वाले पशुओं को हत्या के निषेध की ओर कदम उठायेगा"।

उपभोक्ता को घी दूध चाहिए। किसान भी एक उपभोक्ता है परन्तु वह इससे कुछ अधिक भी है। वह एक उत्पादक है जो कि पशुओं की श्रम शक्ति, उनके द्वारा खाद-उत्पादन की क्षमता तथा उनके द्वारा चारे पुआल-भूसे आदि के उपभोग की शक्ति को चाहता है।[३]

किसान कुछ स्वस्थ पशुओं की अपेक्षा अधिक संख्या में बहुत कमज़ोर पशुओं का पालन करना चाहते हैं। इसका कारण है कुछ तो गांव में एकता तथा सहकारिता का अभाव तथा यह विचार कि किसी बीमारी से पशुओं की क्षति कम होगी। फसल की मड़ाई के लिए खलिहान में दो जोड़े कमज़ोर बैल एक बैल से अधिक सहायक होते हैं। इस सुविधा के सामने कमज़ोर जानवर तथा कम दूध वाले पशुओं की असुविधाए उपेक्षित कर दी जाती हैं।

ऊपर अंकित सुविधाएं बहुत दिन से चली आती हुई परिपाटी की शक्ति से बन गई है जिससे कि समान रूप से असुविधाएँ भी बढ़ गई हैं। इस तरह युद्ध के पहले ही दूध का उपयोग प्रति मनुष्य प्रति दिन ५.६ औंस (१९३१-३५) से घटकर (१९४०-४१)[४] में ५.८ औंस तथा अब ५.२ औंस हो गया है

---

[३] दो अधिक कारण जोड़े जा सकते हैं। चारे के अभाव के दिनों में कुछ कमज़ोर पशु थोड़े ही चारे पर हृष्टपुष्ट पशुओं की अपेक्षा अधिक दिन जीवित रह सकते हैं। द्वितीय, छोटे आकार वाले खेतों में जुताई करते समय या हर प्रकार के कृषि कार्य में छोटे जानवरों के मोड़ने और उनसे घुमाकर काम लेने में सुविधा रहती है। ऐसे बेकार पशु अपने रखने का खर्च गोबर आदि के उत्पादन से तथा खाद से पूरा कर देते हैं। इन प्रकार की सुविधाओं के स्थान पर सहकारिता की भावना को किसानों में जगाकर, फसल की मड़ाई करने वाली मशीन (Threshers) का प्रबंध कर तथा जोत के आकार को बढ़ाकर उन्नति की जा सकती है। (See also Article on "Too Many Cattle" in Developing Village India, Special Number of Indian Farming, 1946).

[४] *Vide* Report on the Marketing of Milk, published by the Central Agricultural Marketing

अर्थात् लगभग २० % कम हो गया है। कुछ तो मांस के लिए पशु-हत्या के कारण और कुछ बढ़े मूल्यों पर दूध पीने वालों के वर्ग परिवर्तन के कारण स्थिति अधिक बिगड़ गई है [५]।

मध्यमवर्गीय लोगों में विशेष कर नगर क्षेत्रों में जहाँ पर चाय का उपभोग दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है दूध का उपभोग घट गया है [६]। यह

Department. एक विशेषज्ञ समिति की गणनानुसार ३ करोड़ टन दूध की वार्षिक आवश्यकता है। लगभग १.८ करोड़ टन दूध भारत में होता परन्तु १.१ करोड़ टन दूध का घी, दही, खोवा तैयार कर लेते हैं। अतः लगभग ०.७ करोड़ टन अर्थात् यथार्थतः २ औंस प्रति वयस्क दूध का उपभोग होता है। इस प्रकार पशु-प्रोटीन की पूर्ति की दृष्टि से संसार में हमारा स्थान ४६वां है। जहां न्यूजीलैंड में प्रति दिन प्रति व्यक्ति ६५.१ ग्राम पशु प्रोटीन प्राप्त है हमारे यहाँ यह ५.८ ग्राम है। चीन और इंडोनेशिया ही हमारे बाद आते हैं। (देखिए न्युट्रिशन एक्सट्रेक्ट एन्ड रिव्यूज, खंड २१ (१६५०-५१) पृष्ट २४१, श्री आर. डब्लू फिलिप्स की खोज)

[५] *Vide* Report of the Famine Enquiry Commission, p. 19 : "एक अन्य कारण बतलाया जाता है कि खाद्य के उद्देश्य के लिए विशेषकर सेना के लिए पशु हत्या होना।" इस पशु हत्या के पक्ष में एक बात यह भी कही जाती थी कि भोज्य पदार्थों के मूल्य बढ़ जाने के कारण पशुओं का पालन लाभप्रद नहीं रह गया था। *Ibid*, page 19 : "खतरा यह है कि यदि जानवरों की दशा और खराब हुई तो खेती के खाद्यान्न के क्षेत्र में कमी न हो जाय। यह खतरा उन प्रदेशों में अधिक है जो कि खेती के लिए अन्यत्र से पशुओं का आयात करते हैं। यदि पशुओं की कमी बनी रहती है तो अल्प काल में कोई अन्य साधन ऐसा नहीं जिससे इन पशुओं की कमी पूरी की जा सके।

[६] उ० प्र० में मध्यम वर्गीय परिवार में दूध का उपभोग प्रति इकाई ४.८ औंस है। (देखिए केन्द्रीय सरकार के मध्यम वर्गीय नौकरों के बजट संबंधी रिपोर्ट) (१६४६) अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा प्रकाशित आर्थिक समीक्षा में प्रकाशित सूचना के अनुसार पंजाब में जहाँ दूध-उपभोग सर्वाधिक था चाय ने दूध का स्थान ले लिया है यद्यपि लस्सी का रिवाज चालू है।

बड़ी शोचनीय अवस्था है यदि हम यह स्मरण रखें कि "प्रत्येक शिशु का स्वास्थ्य ही नहीं बल्कि अधिक मात्रा में शिशु की मानसिक शक्ति, इसलिए भारत के लाखों मनुष्यों का शारीरिक स्तर उपलब्ध दूध की मात्रा और गुण पर ही निर्भर करता है" (Lord Linlithgow)। लीग आफ नेशन्स की स्वास्थ्य-समिति (Health Committee) ने दुग्ध-समस्या पर लिखा है[७] कि "यह मनुष्य के लिए सर्वकालीन महत्त्वपूर्ण बात है कि वह प्रतिदिन ऐसे विटामिन का उपभोग करे जिनमें प्रतिदिन के लिए उचित मात्रा के अनुसार केलशियम तथा फासफेट वर्तमान हो। इस दिशा में दूध को नवजवान के लिए उचित पुष्टिकारक वस्तु समझा जाना चाहिए।" प्रति मनुष्य के लिए वांछनीय पौष्टिक तत्त्वों की न्यूनतम मात्रा १६ औंस प्रति दिन है जिसका अर्ध भाग दूध या दूध से उत्पादित वस्तुओं के रूप में अवश्य होना चाहिए। इसके अनुसार भारत में दूध का उत्पादन लगभग ३½ गुना बढ़ाना चाहिए।

गत महायुद्ध के परिणाम स्वरूप दुग्धदायी पशुओं की अवस्था गिरती ही गई। अकाल-जाँच-समिति (Famine Enquiry Commission) ने इसको स्वीकार किया है। आसाम की स्थिति को शोचनीय बतलाया गया तथा यह रिपोर्ट की गई कि बंगाल में आपत्तिजनक कमी है। जहां तक घी का प्रश्न है लगभग आधे से अधिक दूध से घी बनाया जाता है और वर्तमान खोज के अनुसार बनस्पति घी की अपेक्षा अधिक पोषक है[८]। परन्तु अच्छा घी ३·५ छटाक की रुपया भी नहीं मिलता।

पिछले सात वर्षों में हमने खाद्यान्न वृद्धि की ओर तो ध्यान दिया परन्तु पशु-प्रोटीन दायक दूध के उत्पादन वृद्धि के लिए कम प्रयत्नशील रहे हैं। पिछले बहुत दिनों से प्रति १४·६ एकड़ भूमि पर बैल की एक जोड़ी ही है[९]।

---

[७] देखिए लीग ऑफ नेशन्स की स्वास्थ्य समिति की "दुग्ध समस्या" शीर्षक रिपोर्ट।

[८] देखिए साइंस एन्ड कल्चर (कलकत्ता) १२ पृष्ठ ४६४-६७. खंड १३, पृष्ठ ३३ तथा खंड १४, पृष्ठ ४२६ तथा "घी, तेल व बनस्पति घी का पोषक गुण" शीर्षक मोनोग्राफ (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, १६४३-४४)

[९] देखिए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, मिश्रित बुलेटिन न० २२, १६३६।

सन् १९५० की पशुगणना के अनुसार ३ वर्ष से अधिक आयु वाले ६ करोड़ बैल हैं जिनमें दस लाख सांड़ रूप से काम आते हैं और लगभग १०% अर्थात् ५५ लाख वृद्ध और बेकार हैं। शेष ४·३५ करोड़ बैल की जोड़ी १० एकड़ भूमि के हिसाब से लगभग २१·७ करोड़ एकड़ भूमि जोत सकते हैं। अतः हमारे यहां खेती का क्षेत्र तभी बढ़ सकता है जब (*i*) इन बैलों का उचित वितरण हो (*ii*) अधिक बैल तैयार किए जायें अथवा (*iii*) ट्रेक्टरों का प्रयोग किया जाए। ट्रेक्टर के सम्बन्ध में भी यह ज्ञातव्य है कि अब भी संसार की कृषि में उपयुक्त शक्ति का ८५% पशुओं से प्राप्त होता है।[१०] 'ट्रेक्टरों से हम नई जमीन तोड़ने का काम भले ही ले लें, परन्तु यथार्थ में बैलों की संख्या बढ़ानी चाहिए अन्यथा अधिक क्षेत्र में कृषि करने का आंदोलन व्यर्थ सिद्ध होगा। यह अवश्य है कि उत्तम भोजन देकर इन बैलों की कार्य क्षमता में २०% वृद्धि कर सकते हैं। इससे उन्हीं किसानों को लाभ अधिक पहुँचेगा जिनके पास बैल हैं परन्तु (अनुपात में) उनसे अधिक खेत हैं। जिनके पास बैल हैं ही नहीं उन्हें इससे लाभ नहीं पहुँच सकता। उत्तम भोजन के लिए भी चारा आदि की पूर्ति होनी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए किसान के हाथ में क्रय शक्ति। जहां तक चारा और क्रय शक्ति की समस्या अधिक कठिन है, बैलों की संख्या-वृद्धि का प्रश्न प्राथमिक महत्व रखता है। बैलों की मांग है, इस बात का पता इससे चलता है कि पूर्व युद्ध काल की अपेक्षा उनका मूल्य ७-१० गुना बढ़ा हुआ है जब कि खाद्यपदार्थ आदि का मूल्य पांच गुना बढ़ा है।

देश के विभाजन के कारण हमारे हाथ से पशुओं के ऊँची जाति की कुछ नस्लें निकल गई हैं।[११] अब स्थिति यह है कि हमारे पास पुराने तथा

---

[१०] देखिए श्री एकॉक कृति "प्राग्रेस एन्ड इक्नामिक प्राब्लेम्स इन फार्म (संयुक्त राष्ट्र खाद्य तथा कृषि संघ, वाशिंगटन, १९५०)

[११] **पशुओं की अच्छी जातियाँ यथा, सिन्धी, साहीवाल, धन्नी तथा भगनारी पाकिस्तान के क्षेत्र से आती थीं।**

अक्षम,[१२] (दूध देने वाले पशुओं को सम्मिलित कर) पशु रह गए हैं! हमारे पास पशुओं की नीची जातियाँ रह गई हैं। विशेष कर बैलों के विषय में समस्या और बढ़ी है। हमें पुराने, अक्षम तथा नीचे स्तर वाले पशुओं का त्याग अवश्य करना चाहिए तथा शीघ्र ही नवीन पशुधन का निर्माण करना चाहिए।

वृद्ध, अपंग व दूध-हीन पशु

इसके पूर्व कि हम पशु-समस्या सम्बन्धी कुछ सैद्धांतिक समस्याओं की ओर ध्यान दें यह बतलाना अनुचित न होगा कि हमारी सरकार सिद्धान्तों के अतिरिक्त जनभावना, जनमत तथा राजनीतिक परिस्थितियों को देख कर चल रही है। सन् १९४७ में स्थापित पशु-विशेषज्ञ समिति ने पशुओं की अवस्था सुधारने के लिए (१) १४ वर्ष तक की आयु के तथा उपयोगी पशुओं की हत्या एवं (२, बिना आज्ञा तथा बिना लायसेंस के पशुबध तुरन्त बन्द करने तथा (३) वृद्ध, अपंग पशुओं के लिए गोसदन बनाकर दो वर्ष के अन्दर गोहत्या कतई बन्द करने की सिफारिश की। कमेटी ने सब अनुपयोगी पशुओं को रखने तथा नस्ल सुधार द्वारा गोसदन को उन्नत करने के लिए एक बार २४ करोड़ तथा पांच वर्ष तक वार्षिक १२ करोड़ ८ लाख रुपये के खर्च का अनुमान लगाया। भारत सरकार ने २३ मार्च, १९४९ को राज्य सरकारों की सम्मति से इस कमेटी के प्रथम दो सुझाव स्वीकार किये तथा सम्पूर्ण गोवध निषेध[१३] का प्रश्न विचाराधीन रखा। पर पंचवर्षीय योजना में सवा दो

---

[१२] पशु विशेषज्ञ-समिति (Expert Cattle Committee, Bombay, 1940) ने लिखा है: "सब मिलाकर प्रादेशिक पशु की दशा अर्थ व्यवस्था के अनुरूप नहीं है। ८०% से अधिक पशु देश में भार स्वरूप हैं।"

बोर्ड आफ इक्नामिक इन्क्वायरी, पंजाब, १९३९ के प्रकाशन संख्या ४१ में रोहताक (पूर्वी पंजाब) जिले के पशुओं के विषय में कहा गया है कि ७०% गायें अपने पालन पोषण का व्यय भी नहीं पूरा करती हैं।

[१३] उत्तर प्रदेश में डा० सीताराम की अध्यक्षता में गाय तथा अन्य पशुओं की समस्या सुलझाने के लिए एक समिति नियुक्त की गई है (१९५३) जो कार्य कर रही है। परन्तु यह सम्पूर्ण गोवध के निषेध की माँग टालने के लिए अधिक प्रतीत होती है।

लाख अपंग एवं वृद्ध पशुओं के लिये १६० गोसदन खोलने की तजवीज की गई।

गोसदन और गौशाला

गोसदन स्थापित करने का मुख्य ध्येय वहां पर अपंग, वृद्ध तथा दूध न देने वाले जानवरों को रखना है। इनके बिना बुरी नस्ल के ढोरों को हटाना सरल न होगा। इन गोसदन में ढोरों को रखने का व्यय किसी हद तक ढोरों द्वारा प्राप्त गोबर-मूत्र से मिल जायगा। मोटा चारा खाकर अनुमानतः प्रति ढोर साल भर में १६ हजार पौंड गोबर तथा ६ हजार पौंड मूत्र के रूप में महत्वपूर्ण नत्रजन, पोटेशियम तथा ह्यूमस प्राप्त होगा जिसे खाद के रूप में काम ला सकते हैं[१४]।

देश में लगभग ३००० निजी गौशालायें हैं[१५] जिनमें लगभग छः लाख ढोर हैं। इनमें से लगभग दो तिहाई गोसदन के लायक हैं। उन्हें वहां से हटाकर इन गौशालाओं में अच्छी नस्ल के सांड़ तैयार करने का कार्य आरम्भ किया जा सकता है। प्रति गौशाला औसतन दस हजार की पूँजी लगी है। उसका उपयोग करने के लिए यह वांछनीय है कि इन गौशालाओं को चारे के लिए प्रादेशिक तथा स्थानीय सरकार द्वारा भूमि दी जाये। गौशालायें निम्न श्रेणी के बैलों को बधिया करने के काम में भी योग दे सकती हैं। परन्तु इन गौशालाओं की व्यवस्था सम्बन्धी क्षमता बहुत कम है। कुछ खाने पीने वाले व्यक्तियों के कारण गौशालायें बदनाम हो उठी हैं। तब भी बड़ी और प्रसिद्धि प्राप्त गौशालाओं को भूमि प्रदान करने का कार्य तुरन्त होना चाहिए। यथार्थतः प्रत्येक पंचायती अदालत के क्षेत्र में एक गोसदन

---

१४ देखिए चालीसवें भारतीय विज्ञान कांग्रेस में सभापति डा० एन० डी० केहर का भाषण।

१५ उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या १६१ है प्रादेशिक सरकार से वैत्तिक सहायता पाकर मेरठ, पीलीभीत, कानपुर, बरेली, में गौशालाओं ने गोसदन खोले हैं जिनमें पांच हजार वृद्ध भूखे पशु रखे जा सकते हैं। सब प्रथम मथुरा में सूखी गायों आदि के लिए एक गोसदन खोला गया था।

होना चाहिए और पंचायत तथा ग्राम समाज को इसके स्थापन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

सरकार की प्रवृति अपनी व्यवस्था में गोसदन खोलने की अधिक है। केवल सरकार किसी कार्य को पूरा करने में असमर्थ है तथा इसके भरोसे काम पूरा होने में देर लगेगी। इसलिए जन-आन्दोलन तथा जन-उत्साह आवश्यक है। तदर्थ एक अखिल भारतीय गोसम्वर्धन कौंसिल वनी है तथा गोपाष्टमी पर गोसम्वर्धन-सप्ताह मनाये जाने की प्रवृति है। इससे कुछ अधिक जनोत्साह सम्भव है परन्तु "सरकारी" आयोजन के कारण जन-रुचि प्राप्त नहीं होती। सरकार को इसे सहकारी समितियों और पंचायतों के द्वारा आयोजित करवाना चाहिए। अस्तु, जनभावना का ध्यान रखकर सरकार को गोवध कानूनन निषेध कर देना चाहिए और अनाथ ढोरों को जंगलों में रखने का शीघ्र प्रवन्ध करे फिर चाहे वहां वे शीघ्र मर जायें।

नस्ल-सुधार या भोजन

एक सैद्धान्तिक समस्या यह है कि "इनमें से कौन महत्त्वपूर्ण है—पशुओं का चारा या उनकी जाति ?" व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया जाता है हमें अपने जानवरों की जातियों को अवांछनीय घोषित करने का जल्दी नहीं करनी चाहिए। जानवरों की नस्लों का पालन करने वालों ने अतीत काल से जानवरों के विकास के लिए सामान्य-विज्ञान का प्रयोग किया है तथा हमें अवश्य मान लेना चाहिए कि इस कार्य में उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक तथा आर्थिक दशा का अवश्य ध्यान रखा है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि पिछले दो सदियों की 'पर निर्भर अर्थ व्यवस्था' के कारण पूँजी-संचय और आर्थिक विकेन्द्रीकरण तथा प्रसार में कमी हुई है। फलस्वरूप भूमि-भार बढ़ गया तथा पूँजी के अभाव ने किसानों को लाचार कर दिया कि पोषक चारा तथा मिश्रित खेती के स्थान पर केवल खाद्यान्न की खेती ही करने लगे। इस प्रगति को उलट देने का अर्थ होगा अच्छे चारे का उत्पादन तथा वर्तमान पशु जातियों की उन्नति।[१६]

---

[१६] फसल आयोजना पर लिखे गए परिच्छेद में मिश्रित फसल के प्रयोग के परिणामों के कुछ अंक दिए गए हैं।

अविभाजित देश के सात महत्त्वपूर्ण पशु-भागों में दूध देने वाली अवधि में गाय का औसत दूध १·७३ पौंड तथा भैंस का ३·६६ पौंड था।[१७] परन्तु प्रयोगों के परिणामों से यह ज्ञात होता है कि दूध देने वालों पशुओं में क्षमता बहुत है तथा उचित भोजन द्वारा उपर्युक्त मात्रा को तिगुनी की जा सकती है।[१८] आधुनिक ग्रामीण अवस्था में पशुओं का रखना किसान के लिए अनार्थिक है। ऊपर अंकित प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात नहीं हो सकता कि कैसे इस अनार्थिक दशा को घटाया जाय। इसके लिए किसानों के द्वारा ही ग्रामों प्रयोग किए जाने चाहिए।

पशु-भोजन तथा उसकी पूर्त्ति

भारतीय पशु के लिए भोजन की कमी तथा अभाव केवल मात्रागत ही नहीं बल्कि गुणगत भी है। हम ७८% पशुओं के लिए भूसे और पुआल

---

[१७] *Vide* Indian Council of Agricultural Research, Miscellaneous Bulletin No. 22 (1939) दो बार बच्चा देने के बीच का औसत काल गाय के लिए १८.२० मास तथा भैंस के लिए १८·३० मास पाया गया।

[१८] कुछ प्रयोगों का परिणाम निम्नांकित है :—

प्रयोग के केन्द्र	पशु की जाति ग्राम में	दूध का औसत उत्पादन (पौंड में)	अच्छी दशा के अन्तर्गत
नई दिल्ली	साहीवाल	१३४४	४५०० से अधिक
फिरोजपुर व करनाल	हरियाना	६८६	३६०२
मद्रास	औंनगोल	१२३६	३००० से अधिक
छरोदी और सूरत	कान्करेज	६२०	२५०० से अधिक

भोजन की मात्रा, जिसका सुझाव दिया जाता है, प्रथम २½ सेर दूध के लिए १½ सेर है तथा उसके बाद प्रत्येक अतिरिक्त १½ सेर दूध के लिए आधा सेर है। उ० प्रदेश के कृषि विभाग ने ५०% खली, २०% चोकर तथा ३०% जौ के मिश्रित भोजन की स्वीकृति दी है।

की पूर्त्ति रखते हैं तथा पोषक पदार्थ (Concentrates) की पूर्त्ति लगभग २८% के लिए ही होती है।[१९] पौष्टिकता के दृष्टिकोण से पशुओं को उनकी आवश्यकता का ६०% मिलता है। इंडियन काउन्सिल आफ एग्रीकलचरल रिसर्च के अनुसंधानों से ज्ञात हो चुका है कि खली, चोकर, जौ तथा चने की भूसा के मिश्रण से एक पौष्टिक तथा सुरक्षाप्रद भोजन जानवरों के लिए तैयार हो सकता है।[२०] उ० प्र० के कृषि-विभाग की खोजों से यह मालूम हो चुका

[१९] निम्नांकित तालिका डा० बर्न्स द्वारा तैयार भारत में कृषि विकास की शास्त्रीय सम्भावनाएँ विषयक पुस्तक पर आधारित है।

वर्षा (इंचों में)	क्षेत्र	पशु की जन-संख्या (करोड़ में)	आवश्यक चारे की उपलब्धि प्रतिशत		फसल का क्षेत्रफल (लाख एकड़ में)
			भूसा आदि	पोषक तत्व	
०—३०	पंजाब, प० घाट के पूर्वी भाग तथा जिले	१·९५	कुछ अधिक	४०	७०
३०—७०	उ० प्र०, म० प्र०, बिहार उड़ीसा, पूर्वी मद्रास तथा उत्तरी बम्बई	६·१९	७५	२६	३०
७० से अधिक	आसाम, बङ्गाल, प० घाट, मद्रास कुछ भाग)	२·६	६७	२७	५

चारे की कमी को पूरा करने के लिए अंतिम दो क्षेत्र समूहों में चारे की फसल का उत्पादन क्रमशः ६ गुना तथा १८ गुना किया जाय। परन्तु यह सब खाद्यान्न की फसल को घटाकर नहीं करने दिया जा सकता। श्रेष्ठतर तरीका तो यह होगा कि फसलों की हेरफेर में चारे की फसलों को स्थान दिया जाय। मिश्रित कृषि ऐसा करने का एक ढंग है।

[२०] *Vide* Agriculture and Animal Husbandry in the U. P. Research—Vol. III. ऐसा पाया जाता है कि पोषण के लिए प्रत्येक सेर पोषक तत्व के लिए ९ सेर घास खिलाई जा सकती है।

है कि पशुओं की आवश्यकता के भाग का ५०% से ७५% सूखी घास से पूरा किया जा सकता है।

इसका प्रभाव ऐसा बुरा नहीं होगा कि पशुओं का शरीर-विकास या दूध का उत्पादन कम हो जाय। यह पशुओं के पालन-पोषण के व्यय को कम कर देती है। घास के द्वारा शक्तिदायी पोषण भ. पशु को मिलता है।

इसलिए समस्या यह है कि खली,[२१] चने की भूसी, दाल की चूनी तथा खाने योग्य बरसीम घास की पूर्ति की जाय। बरसीम घास को छोड़ अन्य वस्तुओं की पूर्ति लगभग ४० लाख टन है।[२२] यह हमारे वर्तमान दशा के अनुसार पर्याप्त है यदि सुझाव के अनुसार पशुओं को घास खिलाई जाए। जहां तक खली का प्रश्न है यह आवश्यक है तेल पेरने वाले उद्योग को

---

[२१] जहाँ तक खली का संबंध है, देश में लगभग १४½ लाख टन खली वर्तमान है तथा २१ लाख टन तिलहन से १८ लाख टन अधिक खली प्राप्त की जा सकती है। यदि हम मान लें कि प्रति पशु का प्रति दिन दूध उत्पादन २½ सेर है तथा पशु चारे के स्थान पर अच्छी घास की पूर्ति करें तब उ० प्र० की खली लगभग ५ करोड़ दूध उत्पादक पशुओं के लिए पर्याप्त होगी।

युद्ध के पूर्व हमारी ⅓ गायों का दूध उत्पादन प्रतिदिन १ पौंड से भी कम था, अन्य ५८% का एक से दो पौंड तक था, तथा शेष गायों का ४ पौंड से भी कम था। ५३% भैंसे २ पौंड से कम, लगभग २६% भैंसें २ से ५ पौंड के बीच तथा शेष लगभग ७ पौंड से भी कम दूध देती थीं। दुधारी भैंसों की संख्या गायों से २¼ गुनी थी। इस दशा में २½ सेर दूध प्रति पशु प्रतिदिन अति-अनुमान हो सकता है, न्यून-अनुमान नहीं।

[२२] श्री जाल कोथवाला (Jal Kothawalla) के अनुसार पशुओं के लिए पोषक चारे Concentrates) का वार्षिक उत्पादन लगभग २२.५ लाख टन है तथा भूसा आदि का १४० लाख टन है तथा उचित पशु-पोषण के लिए पोषक चारे में २० गुनी, हरी घास में ६गुनी तथा सूखे चारे में ३ गुनी वृद्धि होनी चाहिए।

शीघ्र विकसित करना चाहिए। इसके कारण तिलहनों के व्यापार का विदेशी बाजार पर निर्भर होना भी कम हो जायगा।[२३]

पशु के लिए बरसीम तथा अन्य पुष्टिदायी घासों की उपज लगभग १२०० लाख एकड़ कृषि-योग्य बेकार भूमिपर, ५०० लाख एकड़ परती भूमि पर[२४] तथा १०० लाख एकड़ जंगली भूमि पर हो सकती है। यह बहुत ही वांछनीय है कि चरागाहों के लिए भूमि छोड़ी जाय तथा उनकी सुरक्षा भी की जाय।[२५] विभिन्न प्रकार के प्रबंध, पशुओं का संचय, पशुओं के ठहराने तथा परिवर्तनशील चराई आदि की प्रणालियों का प्रयोग पशुओं की जन-संख्या तथा वैक्ट्रियल फ्लोरा के आधार पर होना चाहिए। इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात है। यह सुझाव दिया गया है कि पशुओं को स्थान पर ही खिलाया जाय। परन्तु यह एक अल्पकालीन उपाय होना चाहिए। पशुओं के लिए कर्म तथा व्यायाम उतना ही आवश्यक है जितना कि मनुष्य के लिए। इसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। पश्चिमी विशेषज्ञ भी उसे जानते हैं। श्री मिलर

---

[२३] भूतकाल में हमने अपने तिलहनों का निर्यात किया है जिनसे कि इंगलैन्ड तथा अन्य देशों में कृत्रिम भोजन वहाँ के गोशालाओं के लिए तैयार किया जाता था। (*Vide* Pepperall Report)

[२४] भारतीय कृषि गवेषणा इंस्टीट्यूट द्वारा की गई खोज के फल स्वरूप पता चलता है कि गेहूं के खेत में भूमि को परती न छोड़ कर बरसीम घास पैदा करने के बाद में गेहूं की प्रति एकड़ उपज दुगुनी (१२०० पौंड) हो जाती है। इस प्रकार किसान को ४० हजार पौंड बरसीम घास भी मिल जाती है और गेहूँ की उपज के साथ भूसा भी दुगुना तैयार होता है।

[२५] चरागाहों की सुरक्षा तथा प्रबंध के लिए निम्नांकित तरीके हैं:--

(१) उत्तम नियंत्रित चराई प्रणाली जिसमें कुछ काल के लिए चरागाह बन्द कर दिया जाय जिससे नई घास उग सके।

(२) किसी विशेष क्षेत्र में चरने वाले पशुओं की संख्या पर नियंत्रण।

(३) चरागाहों में बिभिन्न जाति के पशुओं को बारी बारी से चराना। इसके लिए बिभिन्न जातियों के चरने के स्वभाव का अध्ययन करना पड़ेगा।

(Wm. C.) (Royal Veterinary College, London) का विचार यह था कि पशुओं को चाहे कितना भी अच्छा कृत्रिम भोजन घर के अन्दर क्यों न दिया जाय उसका उतना अच्छा परिणाम नहीं हो सकता जितना कि उचित ढंग से घर के बाहर चराई द्वारा भोजन पाने पर हो सकता है।

यह आवश्यक है कि मिश्रित-कृषि की प्रणाली को काम में लाया जाय तथा ऊसर और बेकार जमीन को अधिकृत किया जाय। उ० प्र०, म० प्र०, उ० प० सीमा प्रदेश तथा सिन्ध में जो मिश्रित कृषि के प्रयोग हो चुके हैं उनकी सफलता से यह प्रेरणा मिलती है[२६] कि इस तरह सभी प्रदेशों में विस्तृत प्रयोग किए जाने चाहिए। चारे की फसल को विकसित करने, शीघ्र उगाने, अधिक उत्पादक बनाने तथा पौष्टिक तत्त्व सम्पन्न बनाने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। जहाँ पर सम्भव हो दोहरी फसल, यथा, ज्वार, बाजरा अगहनी तथा दाल की फसलों को बोना चाहिए। सूखे भागों में जहाँ जानवरों से उत्पादन अधिक होता है तथा उनको तिलहन मिल सकता है, इस तरह के फसलों से जानवरों के लिए अतिरिक्त चारा मिल जाता है।

चावल-उत्पादक क्षेत्रों की दशा शोचनीय है। जब कि युद्ध के पूर्व का दूध के तथा दूध द्वारा बने माल के उत्पादन तथा उपभोग की मात्रा

---

(४) बची हुई घास को काटकर सुरक्षित रखना जो कि सूखे मौसमों में काम दे सके।

(५) झाड़ झंखाड़ों को चरागाह से उखाड़ना। इनसे कम्पोस्ट की खाद (Compost-manufacture) बनाई जा सकती है।

(६) उन चरागाहों पर जो पशुओं के लिए है बकरियों के चराने की स्वीकृति देने में विशेष सतर्कता बरतनी चाहिए क्योंकि यह पाया गया है कि जिन चरागाहों में बकरियाँ चरती हैं उसकी भूमि का कटान होने लगता है। ऐसा इटावा जिले (उत्तर प्रदेश) में पाया गया है।

यह गलत है कि नई घासों को पैदा करने पर जोर दिया जाय क्योंकि ऐसा करने पर चरागाहों को कुछ सालों के लिए बन्द करना पड़ेगा।

[२६] देखिए फसल योजना शीर्षक अध्याय में दी एक पद-टिप्पणी।

प्रति मनुष्य क्रमशः १८·३ औंस तथा १५·२ औंस पंजाब में; ४·७ तथा ५·५ औंस बम्बई में; ४·७ औंस और ७·० औंस उत्तर प्रदेश में; ३·१ औंस तथा २·८ औंस बंगाल में; १·४ औंस तथा १·३ औंस आसाम में तथा ३·६ औंस और ३·७ औंस मद्रास में थी। नम भागों में सामान्यतः जानवर धान के डंठल को ही खाकर जीवित रहते हैं। श्री वेयर (C.F.) के अनुसार धान के डंठल और पुआल की क्षमता को क्षार-तत्त्वों में मिलाकर २५% बढ़ाया जा सकता है। इन सुझावों पर प्रादेशिक सरकारों को चलना चाहिए। यह प्रबंध करना चाहिए कि किसानों को खली और चूना आसानी से प्राप्त हो सकें।

यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि केवल चारे के उत्पादन में वृद्धि लाने से हमारी समस्या का हल नहीं होगा। सूखे मौसमों के चार महीने होते हैं इसलिए हमें इस अवधि के लिए चारे की सुरक्षा अवश्य करनी चाहिए। घास का संचय तथा साइलेज (ensiling) बनाने के सफल ढंग ज्ञात हो चुके हैं। इन तरीकों को काम में विस्तृत रूप से लाना चाहिए। ८'×५'×४' के गड्ढे में १०० मन चारे की साइलेज तैयार की जा सकती है[२७] जिससे सूखे दिनों में एक बैल को चार महीने भोजन मिल सकता है। साइलेज के लिए न केवल घास वरन् ज्वारादि के डंठल भी काम में लाए जा सकते हैं परन्तु इसके लिए कुट्टी काटने की मशीन बहुत मदद करती है।

यह भी भूलना नहीं चाहिए कि चाहे कितना भी चारे के लिए स्थानीय आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त पर क्यों न चला जाय, वर्षों तक कुछ प्रदेशों में चारे की कमी रहेगी तथा उसकी अन्य प्रदेशों द्वारा पूर्ति करनी पड़ेगी। इसलिए कुछ प्रदेशों को अपने पशुओं की आवश्यकताओं से कहीं अधिक चारा का उत्पादन करना पड़ेगा।

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने घास के क्षेत्रों की खोज करने की योजना बनाई है। उत्तर प्रदेश की सरकार भी इस ओर प्रायः ऐसी खोज करने का विचार रखती है। परिषद इस संबंध में भी अब खोज करेगी कि चारों को

---

[२७] देखिए भारतीय पशु चिकित्सा गवेषणा इंस्टीट्यूट की रिपोर्ट, १९५२, पशु पोषण अंश।

कहाँ कहाँ किस प्रकार सुरक्षित किया जाय तथा कैसे उन्हें कर्मा के क्षेत्रों में पहुँचाया जाय।

अच्छी जातियों का पालन

भारत में बहुत पशु हैं।[२८] फिर भी हमें अधिक पशुओं की आवश्यकता है। हम दूध और श्रम-शक्ति दोनों उद्देश्यों के लिए अच्छी जाति के अधिक पशु चाहते हैं। हमें पशुओं की संख्या को बढ़ाने के लिए अधिक साँड़ों की जरूरत है।[२९] हमें इस दिशा में यह ध्यान रखना पड़ेगा कि अवांछनीय तथा अधम जातियां न बढ़ सकें। इसके तीन मुख्य रास्ते हैं। प्रथम पशुओं की अच्छी जातियों का जनता में प्रसार करना। अखिल भारतीय पशु प्रदर्शक समिति ने पशु-प्रदर्शिनियों द्वारा जो भी कार्य किया है वह समुद्र में एक बूँद

---

[२८] निम्नांकित तालिका में पशुओं का संख्या प्रति वर्ग मील तथा प्रति १०० मनुष्यों पर दिखलाई गई है :—

पशुओं की संख्या प्रति

देश	वर्गमील	१०० मनुष्य	देश	वर्गमील	१०० मनुष्य
डेनमार्क	१६५	८६	फ्रान्स	७३	६७
भारत	१३५	५५	न्यूज़ीलैन्ड	४४	२८१
इंगलैन्ड	११७	१७	अर्जेनटाइना	३१	२५१
जर्मनी	११०	२६	सं० रा० अ०	४	१६१
आस्ट्रिया	८०	३८	कनाडा	२	७७

डेनमार्क या ब्रिटेन ऐसे देश एक उचित पशु-व्यवसाय-संस्था द्वारा प्रबंध करते हैं। परन्तु न्यूज़ीलैन्ड, अर्जेन्टायना, सं० रा० अ० आदि में बड़े बड़े चरागाह हैं। पहले दो देशों ने सुविधाओं का निर्माण किया जब कि अन्य तीन उल्लिखित देशों ने इस संबंध में प्राकृतिक सुविधाओं से लाभ उठाया है। भारत में पशु-व्यवसाय को सुचारु रूप से व्यवस्थित करना चाहिए। प्रति १०० मनुष्यों पर पशु का घनत्व अन्य स्थानों की तुलना में बराबर है। तथा भारत में उचित संख्या के प्रबंध और संचालन के लिए श्रम का अभाव नहीं होगा।

[२९] अच्छी नस्ल के लगभग १६००० साँड़ हमारे यहाँ हैं और आवश्यकता लगभग दस लाख साँड़ों की है।

के समान है। क्षेत्रीय पशु-प्रदर्शिनियां[३०] का तो आयोजन करना ही चाहिए। हम तो यह चाहते हैं कि प्रत्येक तहसील या ताल्लुके में प्रदर्शिनी का आयोजन हो। अच्छी जाति के जानवरों के मालिकों को कई प्रकार के पुरस्कार मिलना चाहिए और इनके विषय में प्रकाशन द्वारा प्रचार किया जाना चाहिए। देश के विभिन्न भागों में लगने वाले अनेक परम्परागत पशुओं के मेलों से लाभ उठाया जा सकता है। उन जातियों और सम्प्रदायों का, जिनका काम भूतकाल में अच्छी जातियों के पशुओं का पालन और विकास रहा है, अवश्य प्रोत्साहन देना चाहिए। ऐसे सम्प्रदायों के अनुभवों तथा श्रम का उपयोग हमें अवश्य करना चाहिए। इसके लिए चराई संबंधी सुविधाओं के अतिरिक्त पशु-आंदोलन के लिए भी सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। प्रौढ़-शिक्षा प्रसार के लिए स्वयंसेवकों, ग्रामों में रेडियो द्वारा प्रसारक समितियों, प्रकाशक संस्थाओं तथा गृह-पालित पशु रोग-चिकित्सा संबंधी कर्मचारियों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग अवश्य दिया जाना चाहिए।

द्वितीय अच्छी जाति के सांड़ों की पूर्ति के लिए प्रबंध होना चाहिए जिससे कि पशुओं की संतान हृष्ट पुष्ट हो। इस तरह के सौंड़ों के केन्द्र ग्रामीण क्षेत्रों में बनाये जाने चाहिए।[३१] इस दिशा में उन्नति शीघ्र हो सकती है,

---

[३०] सितम्बर, १९५१ को कृषि-मन्त्रियों की कांफ्रेंस ने भी इनकी आवश्यकता को महसूस किया था।

[३१] भारत सरकार, योजना आयोग तथा कृषि मंत्रियों की कांफ्रेंस (१९५३) केन्द्र-ग्राम योजना के पक्ष में हैं। सन् १९५६ तक ३ करोड़ रु० लगा कर ६०० ऐसे केन्द्र तथा १५० कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित किए जाएंगे। १९५३ तक ३४० केन्द्र ग्राम तथा १०९ कृ० ग० केन्द्र की स्वीकृति दी जा चुकी थी। केन्द्र ग्राम योजना ५०० गाय-भैंस वाले इलाके में चालू की जाती है। वहां अच्छी नस्ल के सांड़ रखे जाते हैं तथा बुरे सांड़ हटा देते हैं। पशुओं की बिक्री के लिए हाट व्यवस्था तथा सहकारी संगठन बनाए जाते हैं। यह आशा है कि प्रत्येक केन्द्र साल में १०० सांड़ तैयार करेगा। उनका व्यय केन्द्रीय वा प्रादेशिक सरकार आधा आधा देंगी।

यदि पंचायतें, धनी लोग तथा सेवा की भावना वाले मनुष्य, संस्थाएँ, पशु समितियाँ तथा गोशालाएँ मदद कर सकती हैं। पहले लोग अच्छी जाति के ब्राह्मणी सांड़ छोड़ते थे जिसे शंकर जी का नंदी समझते थे। वह भली प्रकार रखा जाता था और उसके कारण अच्छी नस्ल के गाय बैल पैदा होते थे। हम ऐसा न करें तो कम से कम कुछ लोग अच्छी जाति के कुछ सौंड़ रख सकते हैं[३२] तथा जनता पशुओं के मालिक से कुछ फीस पर ये सौंड़ प्राप्त कर सकती है।

---

[३२] केवल इसी पर जोर नहीं दिया जाना चाहिए कि सरकारी केन्द्रों में पले साड़ों की पूर्ति की माँग की जाय। यह कठिन है कि आवश्यकतानुसार इन सांड़ों को बढ़ाया जाय। इनकी वार्षिक माँग तो दस लाख है परन्तु इनकी वास्तविक पूर्ति कुल १६ हजार से अधिक नहीं है। इसके अतिरिक्त सौंड़ों का सरकारी केन्द्रों में पालन-व्यय, गांव में उनके पालन-व्यय से दुगुना या तिगुने के बराबर है। इसीलिए साँड़ों को स्वीकृति प्रदान कर गाँव वालों को सांड़ों को रखने तथा बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि देश के ३,००० तथा कुछ अव्यवस्थित से गोशालाओं और पिंजरापोलों में, जिनके २०% (लगभम १'२ लाख) पशु प्रयोगार्ह हैं, ५०,००० सौंड़ खेतों तथा जनन के लिए ठीक हैं। इनमें प्रति वर्ष ७ करोड़ रुपया खर्च होता है। केन्द्रीय गो-संवर्धन परिषद् ने इनके यहाँ से बेकार पशु हटाकर इनको नस्ल सुधार व दुग्ध प्रसार हेतु संगठित करना तय किया है।

उ० प्र० में सरकार लगभग १५ लाख रुपया की हरियाना गायें खरीद कर १६१ गोशालाओं में से प्रत्येक को २० गाय देने वाली थी बशर्ते कि उनके बछड़े सरकार को बाजार के मूल्य के $\frac{२}{३}$ पर ही बेचे जायँ। परन्तु केवल ११ गोशालाओं को २४६ ऐसी गायें देने की सूचना प्राप्त है तथा केवल ३० रु० के हिसाब से कुछ सांड़ भी बांटे गए हैं। गोशालाओं के उचित प्रबंध के लिए २०० कुशल आदमियों की अनुमानित आवश्यकता है और इस उद्देश्य के लिए मथुरा में एक प्रशिक्षण-केन्द्र खुला (१९४९-५०) है और ४० व्यक्तियों को प्रशिक्षित किया जा चुका है।

कृत्रिम गर्भाधान प्रणालियों (Insemination) द्वारा गाय को गर्भिणी बनाने तथा बच्चा उत्पन्न करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इसके लिए केन्द्र खुल रहे हैं। अल्पकाल में इससे पर्याप्त लाभ हो सकता है, परन्तु जहाँ तक दीर्घकाल का संबंध है हमारी भावना यह है कि स्वाभाविक जनन-प्रणाली को ही प्रयोग में लाना चाहिए। प्रादेशिक सरकार द्वारा ग्राम-पंचायतों को कुछ काल के लिए सांड़ों की पूर्त्ति करनी चाहिए बशर्ते कि उनको अच्छी तरह खिलाया-पिलाया जाय तथा सुरक्षित रखा जाय।

इस संबंध में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। मादा पशुओं की अपेक्षा नर पशुओं के विषय में अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है[३३] तथा यही कारण है कि जवान पशुओं में नर पशुओं का अनुपात लगभग $\frac{३}{५}$ है। इस प्रवृत्ति में सुधार होना चाहिए। द्वितीय, इस विषय में मतभेद है कि दूध तथा जुताई के लिए अलग अलग पशुओं का पालन किया जाय या नहीं। विशेषज्ञों की राय द्वि-उपयोगी पशु-पालन के पक्ष में है। हमें एक बार और पशु-पालन की प्रणालियों में देशी सिद्धान्तों पर चलना चाहिए।

जिस तरह भी सम्भव हो अवांछनीय पशु विशेषकर निम्न नस्ल के साँड़ों को गाँव में गायों के सम्पर्क में आने से रोकना चाहिए। उत्तर प्रदेश में बैलों को बधिया करने (castration) की योजना प्रयोग में आ चुकी है। सरकारी कर्मचारी (stockmen) साँड़ों को बधिया करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में नियुक्त किए गए थे। योजना सफल न हो सकी क्योंकि ग्रामीणों ने धार्मिक तथा भावात्मक आधार पर सहयोग प्रदान नहीं किया। एक अन्य अच्छी योजना यह होगी कि गांव के बुरे सांड़ों के बदले अच्छे साँड़ दिए जायँ और केन्द्र-ग्राम योजना में यही किया जा रहा है इसमें खर्च अवश्य अधिक पड़ेगा। बुरे सांड़ों को या तो गोसदन में भेजा जा सकता है या उनसे कुछ परिश्रम कार्य लिया जाय। नये साँड़ की प्राप्ति में होने वाले व्यय को

---

[३३] १९५१ के पशु गणना के अनुसार भारतीय पशुओं में जवान बैलों की संख्या ६०० लाख, जवान गायों की ४८५ लाख तथा ३ वर्ष से छोटी आयु वाले ४१० लाख बधिया बछवे थी। परंतु नर-भैंसे केवल ६८ लाख, जवान भैंसे २१० लाख तथा ३ वर्ष से छोटे भैंस-भैंसा १४५ लाख थे।

कम करने के लिए किसानों से कुछ रुपया जमा करने को कहा जा सकता है। यथा, एक या दो रुपया प्रति किसान तहसील में लगान देते समय लिया जा सकता है।

उत्तम नस्ल के पशुओं का वध बंद करने के लिए तथा जन भावना का ध्यान रख कर सरकार को गोवध [३४] अवैध कर देना चाहिए तथा अलाभकर ढोरों को बारहमासी जंगलों में रखने का प्रबंध करना चाहिए। उन दूर स्थित जंगलों में रखे ढोर कितनी जल्दी और कैसे मरते हैं इसकी जनता परवाह नहीं कर सकती है।

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा उचित प्रयोग हो चुका है कि विभिन्न क्षेत्रों के पशुओं की उपयुक्त जातियाँ क्या हों।[३५] इनमें से कुछ जातियों

---

[३४] पशु विशेषज्ञ समिति (१९४७) ने अपनी ६-११-१९४८ की रिपोर्ट में लिखा था कि "भारत में किसी भी हालत में गोहत्या जारी रखना अभिलसित नहीं है और कानून द्वारा निषेध' अत्यंत आवश्यक है"।

[३५] निम्नांकित तालिका पशुओं की जातियों को क्षेत्रानुसार प्रस्तुत करती है:

क्षेत्र		जातियाँ का नाम
१. मद्रास	—	आलमबादी, बरगुर, ओन्गोल; कंगायम्
२. हैदराबाद	—	देउनी, एलिचपुरी या नागपुरी भैंस, कृष्णा वाटी।
३. बम्बई	—	गीर, किल्लारी, कन्करेज, जाफरा भैंस, मेहशान
४. मैसूर	—	हालीकार
५. राजस्थान	—	माल्वी, मेवाती (कोसी), नागौर, रथ, थारपरकर
६. म० प्र० और बरार	—	ग्वालाउ, निमाड़ी
७. पंजाब	—	हरियाना, हिसार, साहीवाल, मान्टगमौरी
८. उ० प्र०	—	केनवारिया (केनकथा), खेरीगढ़ी (मुर्रा) भैंस
९. बंगाल	—	सीरी

भारतीय कृषि अनुसंधान द्वारा 'लालसिंधी' नामक सिंध की जाति के गाय बैल का भी प्रजनन किया जाता है।

को अन्य क्षेत्रों में प्रयोग के लिए भी स्वीकृति मिल चुकी है। इस हेतु अन्तर-प्रादेशिक पशु आन्दोलनों को विकसित करना अत्यावश्यक है। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि छूत की बीमारियाँ न फैल सकें। पशुओं के मुख्य मार्गों में क्वैरैन्टाइन स्टेशन (Quarantine Stations) स्थापित होना चाहिए जैसा कि म० प्र० में (Rinderpest Act) के अन्तर्गत हो चुका है। आने वाले पशुओं को इन केन्द्रों में कुछ दिनों तक रोककर यह परीक्षा की जाती है कि उनमें छूत की बीमारियाँ तो नहीं हैं और प्रथम बीमारी दूर की जाती है। अन्य प्रदेशों द्वारा इस योजना का अध्ययन तथा संचालन होना चाहिए। इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि जब किसी प्रदेश में कोई छूत की बीमारी फैले तो इसकी सूचना अन्य पड़ोसी देशों को भी भेज दी जाय।

किसानों द्वारा अधिक संख्या में चौपायों को रखने का एक कारण यह है कि रोगों तथा मृत्यु से पशु अधिक संख्या में नष्ट हो जाते हैं।[३६] पशु की चिकित्सा के लिए बहुत से अस्पतालों को बढ़ाने की आवश्यकता तो है ही, परन्तु अधिक आवश्यकता इसकी है कि औषधियों की मात्रा बढ़ाई जाय[३७] तथा अस्पतालों में कर्मचारियों की क्षमता और संलग्नता को विकसित किया जाय। सुझाव यह है कि देशी जड़ी बूटियों तथा पौधों से सस्ती दवाएँ तैयार की जायँ तथा इसके लिए खोज और प्रयोग प्रारम्भ हों। इन्डियन मेडिकल सर्विस के डाईरेक्टर जनरल इस दिशा में अधिक सीमा तक सहयोग दे सकते हैं। परन्तु निवारण की अपेक्षा किसी रोग का अवरोध अधिक कल्याणप्रद है।

---

[३६] प्रचलित मुख्य पशु-रोग ये हैं:— रिंडरपेस्ट, सेप्टीसिमिया, तथा खुर-पका।

[३७] सन् १९४३ में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के चालीसवें अधिवेशन में डा० केहर ने कहा था कि प्रति साठ लाख ढोरों पर केवल एक प्रतिशत पशु चिकित्सा विशेषज्ञ है तथा यद्यपि ढोरों से लगभग १३०० करोड़ रुपए की राष्ट्रीय आय होती है, पशु-विभाग पर प्रति पशु १९ पाई व्यय की जाती। इसी प्रकार खुर पका का इलाज है परन्तु वह अति महंगा है। रिंडरपेस्ट की दवा भी कम मात्रा में है और सस्ती नहीं पड़ती।

अवरोधक कार्यों में सर्व प्रधान यह है कि जहाँ पर पशु रखे जाते हैं उनकी सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाय। पशुओं के मूत्र-मिश्रित भूमि तथा गोबर को प्रतिदिन खेतों में या खाद के लिए तैयार गढ्ढ़ों में डालना चाहिए। पशुस्वास्थ्य-विभाग के इन्सपेक्टरों को चाहिए कि वे निरन्तर निरीक्षण कार्य करते रहें। बीमार पशुओं को अलग रखने की प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिए शिक्षाप्रद प्रचार किया जाना चाहिए।

अंत में यह जोर के साथ कहा जा सकता है कि इसकी प्रतीक्षा किए बिना कि केन्द्रीय या प्रादेशिक सरकारें देश के पशुधन के विकास और सुरक्षा के लिए क्या करती हैं जनता के योग्य आदमियों, संस्थाओं, पशु समितियों तथा डेअरियों द्वारा इस दिशा में विशेष प्रयत्न होना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों से आए शिक्षित वर्ग द्वारा ग्रामीण समस्याओं में विशेष रुचि ली जानी चाहिए। उन्हें ग्रामीणों को केवल परामर्श ही नहीं देना चाहिए बल्कि उन्हें स्वयं सिद्धान्तों का आदर्श प्रतीक बन जाना चाहिए।

परिच्छेद पाँच

भारतीय घरेलू धन्धे

हमारे काम करने, परिश्रम करने तथा जीवित रहने का उद्देश्य क्या है ? यह आत्मा की मुक्ति है या धन और सम्पत्ति का संचयन अथवा असंख्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों का आयोजन ? क्या मृत्यु तक हम स्वस्थ, सक्रिय तथा चैतन्य रहना चाहते हैं या हम दम की आहें भरना तथा काहिल की तरह आजीवन चारपाई पर पड़ा रहना चाहते हैं। क्या यह वांछनीय है कि आज शरीर से अत्यधिक काम लिया जाय तथा उसके पश्चात् एक दीर्घकालीन विश्राम किया जाय या प्रतिदिन काम किया जाय ? क्या यह वांछनीय है कि ऐसा काम हाथ में लिया जाय जिसके करने से शरीर की कुछ शक्तियों तथा कुछ अंगों का अधिक सक्रिय प्रयोग हो या ऐसे काम प्रारम्भ किए जायँ जिनमें सब इन्द्रिय-शक्तियों का प्रयोग हो ? (१) सब लोग अपने लिए (२) सब लोग सब के लिए या (३) प्रत्येक सब के लिए तथा सब लोग प्रत्येक के लिए—हमको इनमें से किस सिद्धांत पर काम करना है ?

ये कुछ ऐसे आधारभूत प्रश्न हैं जिनके उत्तर हमारी आर्थिक-व्यवस्था तथा उत्पादन की मात्रा की प्रणाली को निश्चित करेंगे। यदि हम इसके पक्ष में निर्णय करते हैं कि (१) आवश्यकताओं की वृद्धि हो (२) जीवन भर की आवश्यकताओं के लिए साधनों का उपार्जन एक छोटी अवधि में ही कर लिया जाय तथा (३) यह ध्यान न दिया जाय कि परिणाम स्वरूप शरीर की शक्तियों का अत्यधिक व्यय तथा अन्य लोगों के लिए क्षति और अभाव की वृद्धि होगी, तब हम विचित्र कार्यों के पक्ष में होंगे, उनको न्याययुक्त सिद्ध करेंगे तथा उनका विरोध करने में असफल होंगे। हमारे ऐसे निर्णय के बाद एक मनुष्य पैसे के लिए हत्या कर सकता है, मनुष्यों का एक समूह किसी बैंक को लूट सकता है, मजदूरों को कम मजदूरी पर काम करने के लिए दबाव डाल कर लाचार किया जा सकता है। एक हैट बनाने वाली महिला श्रमिक मशीन पर आठ घंटे प्रतिदिन स्टूल पर बैठी बैठी काम कर सकती है।

एक उत्पादक माता के शरीर के सुगठन को अक्षुण्ण रखने के नाम पर दूध के पाउडर का विज्ञापन कर सकता है, यद्यपि वह दूध-पाउडर निश्चयात्मक रूप से शिशुओं के लिए हानिप्रद हो। एक डाक्टर किसी मरीज़ को देखने जाने से इनकार कर सकता है यदि मरीज़ उसकी फीस देने में असमर्थ हो। जनता सफेद चीनी, सफेद रोटी तथा विद्युत-शक्ति द्वारा तैयार तेल का, इस बात पर ध्यान न दे कर कि इसका उपभोग राष्ट्रीय स्वास्थ्य तथा विकास को बनाएगा या नष्ट करेगा, उपभोग कर सकती है। मजदूर मंद गति से काम कर सकते हैं। सीमा प्रान्त के मुर्गी-पालन करने वाले किसान अपने बच्चों को खाने के लिए अंडे नहीं देते, ट्रावनकोर निवासी मधु-मक्खी पालक बच्चों को शहद नहीं देते और ग्वाले बच्चों को दूध नहीं पिलाते, परन्तु हमारे निर्णय के पश्चात् इनसे कुछ नहीं कहा जा सकता।

संयुक्त राज्य अमरीका स्थित कैंटकी के खजानों (Kentucky coffer) में भरा स्वर्ण तथा हमारे देश के शरणार्थी और कष्ट भोक्ता हमें यह याद दिलाते हैं कि सम्पत्ति तथा जायदाद का संचय से हमारा उतना कल्याण नहीं होता है जितना कि शिक्षा, सेवा-भाव तथा मानव के व्यक्तित्व का विकास से होता है। व्यक्तिगत रूप से यह अनुभव होता है कि आत्मा को मुक्त करना अंतिम लक्ष्य है; कि हमारे कामों द्वारा हमारी सभी ऐन्द्रिक-शक्तियों का प्रयोग ऐसा होना चाहिए कि वे आजीवन चैतन्य तथा सक्रिय रहें। तथापि हमें 'प्रत्येक सब के लिए तथा सब प्रत्येक के लिए' के सिद्धान्त पर काम करना चाहिए। मशीन के प्रयोग का विरोध नहीं होना चाहिए यदि[1] उसका

---

[1] सामान्यतः ऐसी धारणा बना ली जाती है कि सब उद्योगों को बड़ी मात्रा के आधार पर आयोजित किया जाय। फिर उसके बाद छोटी मात्रा के उद्योग तथा घरेलू धंधों के उत्पादन के लिए सीमित छोटे क्षेत्रों को निर्धारित किया जाता है। किसी स्थायी अर्थ-व्यवस्था के लिए इस प्रणाली के विपरीत सिद्धान्त पर ही चलना चाहिए। महात्मा गाँधी की यह राय थी कि यदि गाँव वाले अपने व्यवसायों को बिना कठिनाई के स्वतंत्र रूप से विकसित कर सकें तो उन्हें पूर्ण अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। यदि अंत में क्षेत्र बचे तो बड़ी मात्रा के व्यवसायों को अवसर दिया जाना चाहिए। फिर भी वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में

प्रयोग ऐसे उत्पादनों के लिए किया जाय जो हाथ से न हो सके तथा रोजगार देने वाले साधनों की कमी न हो। हम लोग पाश्चात्य देशों के औद्योगीकरण का अंधाधुंध अनुकरण न करें। उनके वहाँ मशीन का प्रयोग इसीलिए इतना हो सका क्योंकि अधिक उत्पादन के विक्रय के लिए बाजार[२] उनके अधिकार में थे या उनके यहाँ श्रम की कमी हुई तथा कार्य्य क्षेत्र की सीमा अधिक विस्तृत हो उठी[३]। हमारा जीवन-दर्शन विदेशियों को अधिकृत करने या शोषण की स्वीकृति नहीं देता है तथा हमारे यहाँ श्रम, कच्चे माल और बाजार का अभाव नहीं है। इसलिए हमारे देश में एक बड़ी अच्छी आत्म-निर्भर अर्थ-व्यवस्था तथा छोटी मात्रा और घरेलू उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रित उत्पादन के आयोजन के लिए वांछनीय अवसर है। इससे रोजगार बढ़ेगा,[४] विस्तृत रूप से तितरे-बितरे गाँवों में अधिक व्यवसायों के कारण काम मिलेगा; स्थानीय कच्चे माल का ठीक प्रयोग होगा;

यह सम्भव है कि करघे का व्यवसाय (Handloom Industry) मोटी किनारदारी साड़ी, करघे द्वारा कशीदा तथा बेल बूटे काढ़ने, लुंगी तथा हाथ के रूमाल के क्षेत्र में सुचारू रूप से फल-फूल सकता है। मलाबार में जहाँ पर साड़ी घर-घर में तैयार होती है, तथा तेहरी गढ़वाल या देहरादून में जहाँ बिरोजा और तारपीन के तेल का काम छोटी मात्रा में अति मितव्ययता के साथ होता है। वहां किसी पूँजीपति ने वहाँ बड़े पैमाने पर कारखाना खोलने का अभी तक साहस नहीं किया है *Vide* Small Chemical Industries by Shri K. G. Mathur.)

[२] उदाहरण स्वरूप, अंग्रेज।

[३] उदाहरण स्वरूप, अमेरिकन।

[४] जनता के लिए ग्रामीण व्यवसाय भोजन है तथा बड़ी मात्रा के व्यवसाय कभी कभी मादक वस्तुओं के समान विषैले हैं। प्रत्येक मनुष्य एक इंजन के समान है जिसके लिए काम होना आवश्यक है तथा उसको भोजन प्रदान कर जीवित रखना है। इन दोनों में से कौन-सी अच्छी अर्थ व्यवस्था है—वह जो इंजन को प्रयोग में लाती है या वह इसको बेकार रखने के साथ साथ विदेशों से मशीनों की आयात करती है? (J. C. Kumarappa)

तथा लोगों में द्रुतगति से जागृति और ज्ञान बढ़ेगा। इससे हमारी स्वतंत्रता को शक्ति मिलेगी तथा देश में अकाल नहीं पड़ेंगे।

सामाजिक दृष्टिकोण

किसी देश या प्रदेश की आर्थिक उन्नति और प्रगति के संबंध में विचार करते समय केवल आर्थिक शक्तियों का ही ध्यान नहीं रखना चाहिए। उसके अन्य सामाजिक पहलुओं का भी ध्यान रखना चाहिए। उदाहरणार्थ संयुक्त परिवार की प्रथा तथा ग्राम में आर्थिक विशिष्टीकरण ने हमारे भाइयों को जो जीवन स्तर प्रदान किया था उसमें न केवल बालक का अधिक सहानुभूति पूर्ण तथा अनुभवी वातावरण में पालन पोषण होता है वरन् जिम्मेदारी तथा नेतृत्व गुण भी मिलते हैं। ग्राम में अधिक विशिष्टीकरण का अर्थ है ग्राम में ही अकृषि संबंधी क्रियाओं की उन्नति करना। अन्य शब्दों में गांवों में उद्योगों का विकास करना हमारी सभ्यता को दृढ़ नींव का एक अंग है। इसके अतिरिक्त हमारे और आपके पास पड़ोस के कारीगरों द्वारा बनाए वस्तुओं को श्रेष्ठता देने से ही एकता वृद्धि होगी। अन्यथा आज श्याम बेकार और ग्रस्त है, कल हमारे आपके घर के जन इस बीमारी के शिकार बन जाएंगे। जब पड़ोसी के प्रति आप ऐसा नाता न निबाहेंगे तो कालांतर में राष्ट्रीय एकता कहां रहेगी और आपको पड़ोसी से सद्भावनामय बर्ताव कैसे मिलेगा।

'आत्म-निर्भर-अर्थ-व्यवस्था' के सिद्धान्त पर बहुत मतभेद है। क्या इसका यह अर्थ है कि ग्रामीण-आवश्यकताओं का पूर्ण उत्पादन वहीं होना चाहिए और इसका ध्यान न रखा जाए कि कौन-सी वस्तु की माँग की जाती है तथा क्या उपभोग किया जाता है? क्या इसका यह अर्थ है कि उत्पादन के हर प्रकार की इकाइयाँ, चाहे बड़ी मात्रा की हों या छोटी, ग्रामीण क्षेत्र में संस्थापित की जा सकती हैं? कदापि नहीं, यह आवश्यक नहीं है। 'आर्थिक उत्पादन-मूल्य' के आदर्श पर ही हो किसी भी प्रकार का छोटा-बड़ा व्यवसाय संचालित करना चाहिए। यदि उद्योगों का आकार पूर्ण-वृत्ति की प्राप्ति तथा जीवन-स्तर को ऊँचा करने में बाधक सिद्ध होता है तो हमें उपभोक्ताओं को शिक्षित करना पड़ेगा जिससे कि वे अपनी माँगों तथा रुचि के मापदंड को बदल

सकें। कुछ उद्योगों तथा आयातों का अवरोध करना पड़ेगा तथा ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन देना पड़ेगा जिनका ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थापन मितव्ययी हो।

क्या इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक उत्पादन की इकाई अपनी पूँजी तथा कर्मचारियों को ग्रामीण क्षेत्र से ही अवश्य ले? नहीं, यह आवश्यक नहीं कि व्यवसाय का स्वामित्व, नियंत्रण तथा कर्मचारियों को ग्रामीण क्षेत्र से ही लिया जाय। यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये सब ग्रामीण क्षेत्रों में प्राप्त हो सकेंगे। और न यही कि कुछ समय बाद भी वहाँ इनकी पूर्ति नहीं हो सकती। यदि एक उत्पादन की इकाई ग्रामीण क्षेत्र में संस्थापित की जाती है तो यह अपनी पूँजी, नियंत्रण या प्रबन्ध तथा विशेष कर्मचारी को नगर से प्राप्त कर सकती है। इसी तरह नगर में संचालित व्यवसायों को विस्तृत जन-आधारित होना चाहिए।

क्या अल्प-काल में गाँव से शहर की ओर बड़ी मात्रा में प्रवास को प्रोत्साहन मिलना चाहिए? नहीं। यह सच है कि जब हम औद्योगीकरण करेंगे तो कुछ सीमा तक नगर और शहर बढ़ेंगे और विस्तृत होंगे। जितना ही बड़ा शहर होगा उतना ही विस्तृत आर्थिक-कार्य तथा व्यवसाय उसके आसपास में संचालित होंगे। यदि अन्य किसी कारण से न सही तो भी, शहरों में बढ़ती घनी बस्ती को रोकने के लिए हमें आवागमन की सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए तथा नगर और शहर के क्षेत्रों के बाहर (अन्यत्र) उद्योगों को संचालित करने में सहायता देनी चाहिए। आर्थिक तर्क यह माँग करता है कि उद्योगों को उन क्षेत्रों में संचालित करना चाहिए जहाँ—पिगू (Pigou) के शब्दों में—राष्ट्र में अधिकतम सामाजिक वास्तविक उत्पादन हो सके। यह सामाजिक 'वास्तविक उत्पादन' का माप आज की स्थिति पर नहीं होना चाहिए, परन्तु इससे कि किसी एक विशेष अवधि के बाद उत्पादन कितना बढ़ता है। बड़ी मात्रा के उद्योगों के लिए कोई विकासोन्मुख अवसर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतीत भले ही न हो, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि वहाँ कुछ भी अवसर नहीं है। क्या रिहन्ड बांध (Rihand Dam) तथा अन्य नद योजनाओं के चारों ओर क्षेत्रों में उद्योग संचालित नहीं किए जायेंगे!

ग्राम और नगर के अंतर के अधिकतर चार पहलू हैं :—(१) नगर में

सकें। कुछ उद्योगों तथा आयातों का अवरोध करना पड़ेगा तथा ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन देना पड़ेगा जिनका ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थापन मितव्ययी हो।

क्या इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक उत्पादन की इकाई अपनी पूँजी तथा कर्मचारियों को ग्रामीण क्षेत्र से ही अवश्य ले? नहीं, यह आवश्यक नहीं कि व्यवसाय का स्वामित्व, नियंत्रण तथा कर्मचारियों को ग्रामीण क्षेत्र से ही लिया जाय। यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये सब ग्रामीण क्षेत्रों में प्राप्त हो सकेंगे। और न यही कि कुछ समय बाद भी वहाँ इनकी पूर्ति नहीं हो सकती। यदि एक उत्पादन की इकाई ग्रामीण क्षेत्र में संस्थापित की जाती है तो यह अपनी पूँजी, नियंत्रण या प्रबन्ध तथा विशेष कर्मचारी को नगर से प्राप्त कर सकती है। इसी तरह नगर में संचालित व्यवसायों को विस्तृत जन-आधारित होना चाहिए।

क्या अल्प-काल में गाँव से शहर की ओर बड़ी मात्रा में प्रवास को प्रोत्साहन मिलना चाहिए? नहीं। यह सच है कि जब हम औद्योगीकरण करेंगे तो कुछ सीमा तक नगर और शहर बढ़ेंगे और विस्तृत होंगे। जितना ही बड़ा शहर होगा उतना ही विस्तृत आर्थिक-कार्य तथा व्यवसाय उसके आसपास में संचालित होंगे। यदि अन्य किसी कारण से न सही तो भी, शहरों में बढ़ती घनी बस्ती को रोकने के लिए हमें आवागमन की सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए तथा नगर और शहर के क्षेत्रों के बाहर (अन्यत्र) उद्योगों को संचालित करने में सहायता देनी चाहिए। आर्थिक तर्क यह माँग करता है कि उद्योगों को उन क्षेत्रों में संचालित करना चाहिए जहाँ—पिगू (Pigou) के शब्दों में—राष्ट्र में अधिकतम सामाजिक वास्तविक उत्पादन हो सके। यह सामाजिक 'वास्तविक उत्पादन' का माप आज की स्थिति पर नहीं होना चाहिए, परन्तु इससे कि किसी एक विशेष अवधि के बाद उत्पादन कितना बढ़ता है। बड़ी मात्रा के उद्योगों के लिए कोई विकासोन्मुख अवसर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतीत भले ही न हो, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ कुछ भी अवसर नहीं है। क्या रिहन्ड बांध (Rihand Dam) तथा अन्य नद योजनाओं के चारों ओर क्षेत्रों में उद्योग संचालित नहीं किए जायेंगे!

ग्राम और नगर के अंतर के अधिकतर चार पहलू हैं :—(१) नगर में

सरकारी व्यवस्था का केन्द्र हो (२) नगर व्यापारिक केन्द्र हो (३) नगर में आधुनिक जीवन की सुविधाएं हों, यथा अट्टालिकाएं, सड़क, मोटर, विद्युत, सिनेमा तथा उपभोग के लिए अधिक विविध वस्तुओं में से चुनाव करना (४) नगर में उद्योग-धंधे हों, कृषि न हो। कृषि वातावरण होते हुए भी ग्रामों में तीसरे पहलू को स्थान दिया जा सकता है तथा एक सीमा तक चौथे पहलू को भी। यह संभव है कि नगरों के धंधों के लिए उनके आसपास कृषि पदार्थों के उत्पादन की व्यवस्था की जाए और सारा अतिरिक्त (surplus) कृषि उत्पादन उद्योग धंधे से संबंधित लोगों द्वारा खरीद लिया जाए। व्यवस्था और व्यापार के केन्द्रों को विकेन्द्रित भी किया जा सकता है। इनको नगरों में केन्द्रित करने का औचित्य यही तो रहना चाहिए कि ऐसा करने से व्यवस्था और वितरण व्यय कम पड़ेगा तथा व्यापार कार्य करने वाले को कुछ लाभ मिल सकेगा। परंतु इस हेतु नगर आवश्यक नहीं है। उपभोग की विविधता भी ऐसा पहलू है जो ग्रामों में उपलब्ध किया जा सकता है और उसका एक मात्र उपाय यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने उपभोग की वस्तुएं स्वयं अपनी या साथियों की कला, प्रवीणता, चतुराई के आधार पर बनाए।

बड़ी मात्रा के उत्पादन में अपने व्यक्तित्व के पूर्ण प्रकाशन के लिए इतना अवसर नहीं है जितना कुटीर उद्योग धंधों में। हमारे ग्रामों में कुटीर उद्योग धंधे थे और इसलिए विविधता भी थी। पूर्ण विविधता तो पूर्ण आत्म-निर्भरता पर ही आ सकती है। इससे दूसरा स्तर ग्रामीण आत्म-निर्भरता का है जहाँ विविध उपभोग वस्तुओं के उत्पादन-कार्य में कुटीर उद्योग के आधार पर श्रम-विभाजन रहता है। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों का लाभ उठाकर कार्य करने का निश्चय ग्रामीण आत्म-निर्भरता के रूप पर कुछ प्रभाव अवश्य डालेगा। इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि ग्रामों के स्थान पर नगर स्थापित किए जाएँ। इन आविष्कारों को काफी हद तक ग्रामों में भी उपलब्ध किया जा सकता है।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है उस पर काफी मतभेद है। जो लोग बड़ी मात्रा पर उत्पादन करने के पक्ष में हैं वे शायद इस विश्लेषण को स्वीकार नहीं कर सकते। तथापि आज वे भी छोटी मात्रा तथा घरेलू-उद्योगधंधों को विकसित करने के पक्ष में हैं। इसके तीन कारण हैं।

पहला, उत्पादन के ढंग और एक हद तक उत्पादन व्यय का ध्यान छोड़ कर देश में उत्पादन की वृद्धि करनी चाहिए। दूसरा, यदि हम अपने औद्योगिक विकास के दौरान में केवल बड़ी मात्रा की ताक में ही बैठे रहेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के दृष्टिकोण से हमारी प्रगति, पूँजी, उत्पादन-यत्र तथा साधन, कुशल विशेषज्ञ और गमनागमन के साधनों के अभाव के कारण अत्यधिक धीमी पड़ जायगी। तृतीय, देश के विभाजन के कारण लाखों मनुष्यों का स्थानान्तर हुआ है। यदि ये लोग रोजगार नहीं पाते हैं तथा काम कर देश की राष्ट्रीय आमदनी में वृद्धि नहीं लाते हैं तो हमारे कोष भी समाप्त हो जायेंगे। उन लोगों को छोटी- मात्रा के तथा घरेलू-उद्योग धन्धों में आसानी से रोजगार दिया जा सकता है। साथ- साथ पहले से ही जो शक्तियाँ वर्तमान हैं वे इन व्यवसायों के विकास में सहायक होंगी। कांग्रेस की अर्थ-योजना-समिति ने (Economic Programme Committee) ने इसको स्वीकार कर लिया है। भारतीय सरकार ने भी व्यावसायिक नीति में छोटी मात्रा के तथा घरेलू उद्योग धन्धों के विकास के पक्ष में अपनी घोषणा की है।

सक्रिय तथा वैधानिक विकास के दृष्टिकोण से हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि घरेलू-उद्योग धंधों, छोटी मात्रा तथा बड़ी मात्रा के व्यवसायों के बीच सीमा निर्धारण कैसे हो परन्तु यह है कि वर्तमान देश में उपलब्ध व्यावसायिक साधनों के द्वारा उत्पादन में वृद्धि लाना। देश की वर्तमान क्षमता घरेलू-उद्योग-धंधों के रूप में प्रर्याप्त मात्रा में है। १९३१ की जन गणना के अनुसार व्यवसाय में काम करने वाले कुल १०५ लाख मजदूरों में से ८२ लाख मजदूर घरेलू-धंधों में लगे थे तथा ३ लाख छोटी मात्रा के व्यवसाय में। घरेलू-धंधे अभी तक प्रथम स्थान पर हैं और हमारा काम उनका ठीक प्रयोग करना है।

फिर भी व्यवसायों के वर्गीकरण तथा परिभाषा के विषय में बहुत मतभेद वर्तमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि घरेलू-धंधों तथा छोटी मात्रा के व्यवसायों के बीच कोई भेद नहीं समझा जाता। भारतीय कारखाने का कानून (Indian Factories Act) उत्पादन के उन्हीं इकाइयों पर लागू होता है

जो कि कम से कम १० मजदूरों को नौकर रखती हैं। पर घरेलू-धंधों में मजदूरों की अधिकतम संख्या ६ ही रखी जाती है। ऐसे मजदूरों की संख्या बहुत ही थोड़ी है जिनको मजदूरी दी जाती हो। उनके विशेष उल्लेख की आवश्यकता मैं नहीं समझता। मजदूर या तो अपने घर में ही काम करते हैं या छोटे-छोटे कारखाने में। अर्थ योजना-समिति ने घरेलू उद्योग-धंधों तथा घर के व्यवसायों में भेद माना है। उसके अनुसार पहले में दिन भर काम किया जाता है तथा दूसरे में दिन के कुछ हिस्सों में कुछ घन्टों के लिए ही परिवार के सदस्य काम करते हैं। व्यक्तिगत रूप से हम स्वयं इस प्रकार का कोई विभेद नहीं करेंगे। एक कुटीर धंधा (i) दिन के कुछ घन्टों या पूरे दिन का उद्योग हो सकता है या (ii) मौसमी या इसके विपरीत (iii) घर में, कुटीर में या छोटे कारखाने में चलाया जा सकता है। एक किसान और एक कुटीर उद्योगी के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये, यह कहा जा सकता है कि एक किसान की जीविका का मुख्य साधन उसकी खेती होती है।

पूँजी और पूँजी से सम्बन्धित वस्तुओं के सम्बन्ध से अर्थ योजना समिति ने कहा है कि कुटीर धधा किसी बड़ी या विशिष्ट योजना और यन्त्र के आधार पर कारखाने की बड़ी इमारत की अपेक्षा नहीं करता। उद्योग को चलाने की शक्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया गया यद्यपि ग्रामीण उद्योगों के बारे में उन्होंने कहा है कि वह मानव अथवा पशु शक्ति के द्वारा संचालित होने चाहिये। जहाँ तक एक कुटीर उद्योग एक ग्राम उद्योग है वहाँ तक वह इस कथन से निर्णीत होंगे। दूसरे शब्दों में ग्रामों में संगठिन किये गये कुटीर उद्योग केवल मानव या पशुशक्ति का प्रयोग करेंगे। हम इस प्रतिबन्ध (सीमा) को स्वीकार नही करते। यदि विद्युत शक्ति प्राप्य हो जाती है तो कुटीर उद्योगों को जहाँ तक सम्भव हो इसका प्रयोग करना चाहिये। निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि साधारणतः एक कुटीर उद्योग में क्रियाशील पूँजी ५,००० रुपये से अधिक नहीं होना चाहिये। अस्तु, एक उत्पादक इकाई 'कुटीर उद्योग' की श्रेणी में तभी रक्खी जायगी जब कि काम करने वाले श्रमिकों की संख्या कुल मिलाकर (यदि आवश्यक हो तो कुछ

वैतनिक श्रमिकों को भी जोड़कर) ६ से अधिक नहीं हो और यदि क्रिया शील पूँजी ५,००० रुपये से अधिक नहीं हो।

कुटीर उद्योगों से सम्बद्ध एक अन्य विवाद भी है। क्या उत्पादन राष्ट्रीय-कृत हो या 'वैयक्तिक ? बम्बई कुटीर उद्योग समिति (Bombay Cottage Industries Committee) ने सर्व प्रथम विशिष्ट चुने हुये ग्रामों में राज्य द्वारा नियंत्रित ग्राम उद्योग केन्द्र स्थापित करने की सिफारिश की है। यह प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु जहाँ तक और जितना शीघ्र सम्भव हो सके, उत्पादन, प्रबन्ध और विक्रय के संचालन के लिये औद्योगिक सहकारी समितियों का संगठन होना चाहिये। औद्योगिक सहकारिता कई कारणों से विशेष स्थान पाने का अधिकारी है[५]। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से, यह मध्यस्थ व्यक्तियों के लाभ को समाप्त करती है, अचल व्यय को कम करती है और प्रायः उत्पादन-मूल्य और विनियुक्त पूँजी में एक उच्च अनुपात स्थापित करती है। इसका अर्थ हुआ उत्पादन 'उपयोग के लिये' और 'लाभ के लिये नहीं' राजनैतिक दृष्टि से यह प्रत्येक को समान मतदान शक्ति प्रदान करता है। सामजिक दृष्टि से इसमें श्रमिक और मालिक के बीच के अन्तर को कम करने की प्रवृत्ति है क्योंकि प्रायः मालिक स्वयं श्रमिक हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यह जीवन मूल्यों का एक नवीन माप दण्ड स्थापित करती है जिसमें मनुष्य को उत्पादन और लाभ से अधिक ऊँचा स्थान दिया गया है।

---

[५] यह कहा जा सकता है कि अब तक हम कुटीर उद्योग सम्बन्धी तीन समस्याओं पर विचार कर चुके हैं यथा :—

(i) उत्पादन की इकाई का आकार।

(ii) उत्पादन की इकाई का स्थान निर्धारण।

(iii) उत्पादन की इकाई का प्रबन्ध।

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जो कुछ ग्राम उत्पन्न कर सकते हैं वह बड़ी मात्रा में नहीं उत्पन्न किया जाना चाहिये; जहाँ तक सम्भव हो सके विकेन्द्रित उत्पादन होना चाहिये, उत्पादन इकाई अन्ततः सहकारिता के आधार पर प्रबन्धित होनी चाहिये जिसके लिये संघात्मक संगठन आवश्यक है।

पर्यवेक्षण

कुटीर उद्योगों का विकास दो दिशाओं में सम्भव है। प्रथम, प्रस्तुत उद्योगों का सुधार और विस्तार करना और द्वितीय, विभिन्न क्षेत्र (या प्रान्त) के लिए उचित नए उद्योगों का स्थापन और विकास किया जा सकता है। यह ज्ञात करना आवश्यक है कि प्रदेश के विभिन्न भागों में कौन से कुटीर उद्योग हैं तथा उनकी अवस्था और कठिनाइयाँ क्या हैं। हमें यह भी पता लगाना चाहिए कि विभिन्न भागों में कच्चे माल का उत्पादन कितना है तथा इसके आधार पर किन कुटीर-उद्योगों का विकास किया जा सकता है। इस विषय की सूचना तहसीलवार (या ताल्लुकेवार) प्राप्त करनी चाहिए[६]। बम्बई आर्थिक तथा व्यवसायिक जाँच समिति (१९३८-४०) (Bombay Economic and Industrial Survey Commit-

---

[६] यह उल्लेख किया जा सकता है कि राष्ट्रीय आयोजना समिति (National Planning Committee) द्वारा ग्रामीण बाजार तथा अर्थ विषयक प्रस्ताव में यह इंगित किया गया कि उपभोग व्यवसायों यथा फलों का रस, टमाटर सॉस, चटनी आदि बंद डिब्बों में तैयार करना तथा परिवर्तन-उद्योग (Processing Industries) यथा धान को साफ करना और कूटना, गेहूं की पिसाई, तम्बाकू बनाना, के कारण विभिन्न कृषि पदार्थ के बाजार विस्तृत होंगे तथा बहुधा किसान को इससे अधिक मूल्य मिलेंगे। सारे देश में ऐसे व्यवसायों के विकास के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिये। हम यह भी कह सकते हैं कि उपरोक्त उपभोग-पदार्थों की माँग नगरों में तथा मध्यम वर्गीय परिवारों में आगामी कई वर्षों तक रहेगी। शास्त्रीय ज्ञान तथा विशेषकर गमनागमन विषयक कठिनाइयाँ बाधक हो सकती हैं। राष्ट्रीय आयोजना समिति के प्रस्ताव में इन व्यवसायों के संस्थापन के आधार के विषय में कुछ नही कहा गया है। उसकी उपसमितियाँ केवल कारखानों के दृष्टिकोण से ही सोचती थीं। परन्तु हम यह अनुभव करते हैं कि कुटीर-उद्योगों तथा छोटी मात्रा के व्यवसायों के रूप में इन का संस्थापन हो सकता है।

(देखिए : Rural Marketing And Finance, National Planning Committee Series, pp, 111 and 159-)

tee) ने जिलेवार इस प्रकार के पर्यवेक्षण का प्रयत्न किया था। उत्तर प्रदेश कुटीर उद्योग उपसमिति (U.P. Cottage Industries Sub-Committee) ने तो इतना भी नहीं किया (१६४६)। समिति ने सामान्य रूप से उ० प्र० के कुटीर उद्योगों की अवस्था तथा कठिनाइयों का परीक्षण मात्र किया। जहाँ तक नवीन व्यवसायों का प्रश्न है बहुत कम खोज कार्य हुआ है। उ० प्र० में द्वितीय विश्व युद्ध के बीच तत्कालीन उद्योग डाइरेक्टर ने प्रादेशिक औद्योगिक विकास के लिए एक योजना का निर्माण किया था तथा कुछ नवीन कुटीर उद्योगों के लिए सुझाव पेश किया था। इधर १५० जापानी कुटीर उत्पादित पदार्थों की प्रदर्शिनी से नए उद्योगों की सम्भावनाओं को समझा गया है।

योजना अयोग और कुटीर उद्योग

कुटीर और छोटी मात्रा के उद्योगों के संबंध में एक अन्य चिंता योजना आयोग को सता रही है। हम इन उद्योगों की बात तो करते हैं परन्तु हमको अभी तक इनके संबन्ध में निम्नांकित ज्ञान प्राप्त नहीं है: (१) किस गांव में कौन कौन गृह उद्योग हैं; (२) जिलों में गृह उद्योग का स्थानीय करण तथा बितरण किस प्रकार है; (३) किस उद्योग धंधे का माल कहाँ जाता है (४) विशेष उद्योगों के धन्धी किस किस किस्म का हस्त-शिल्प तैयार करते हैं और उनमें से किसको प्रोत्साहन मिलना चाहिए; (५) ये उद्योग-धंधी किस प्रकार निम्न दशा को प्राप्त होकर अपने पेशी के प्रति उदासीन होते जा रहे हैं; (६) इन उद्योगों की क्या कठिनाइयां हैं; (७) गांव गांव में कौन कौन से अव्यवहृत कच्चे माल प्राप्त हैं और उनसे कौन से कुटीर या छोटी मात्रा के उद्योग विकसित किए जा सकते हैं। वर्धा स्थित ग्रामोद्योग संस्था ने प्रमुख कुटीर उद्योगों के संबंध में अध्ययन तथा खोज कार्य अवश्य किया है परन्तु उससे गांव गांव या जिले के कुटीर उद्योगों का आयोजन नहीं किया जा सकता है। अतः दिल्ली प्रदेश तथा अन्य प्रदेशों में कुटीर तथा छोटी मात्रा के उद्योगों का आर्थिक अध्ययन (Economic Survey) करने के लिए योजना आयोग वैत्तिक सहायता दे रहा है। दिल्ली, सलेम, नासिक तथा मुरादाबाद के कुटीर उद्योगों के अध्ययन की स्कीम स्वीकृत की जा चुकी है।

कुटीर उद्योग संबंधी अध्ययन

कुटीर तथा छोटी मात्रा के उद्योग प्रादेशिक सरकार के विषय हैं। प्रादेशिक सरकार इस ओर शून्य प्रायः प्रगति कर रही हैं। उत्तर प्रदेश के प्रयाग जिले में जिला आयोजन योजना के अंतर्गत ऐसे उद्योगों के अध्ययन का कार्य कुटीर उद्योगों के अफसर की देखरेख में किए जा रहे थे। कुछ काल पहले लगभग ११५२ ग्रामसभाओं से तत्संबंधी कुछ प्रश्नों के उत्तर आए थे। वे प्रश्न उपयुक्त और पर्याप्त नहीं थे। मजा यह है कि जो उत्तर आए हैं उनका भी अध्ययन अभी तक कुटीर उद्योग अधिकारी अथवा नियोजन अधिकारी द्वारा नहीं किया गया है। प्रयाग में तो विश्वविद्यालय की सहायता से यह कार्य आगे बढ़ाया जा सकता है परन्तु अधिकतर इस संबंध में यातायात, कागज और घर से बाहर जाने के अनिवार्य व्यय का प्रबंध करने का कोई प्रबंधन जिला आयोजन अफसर या जिला बोर्ड की ओर से होता है और न विश्वविद्यालय हो वैत्तिक सहायता देता है। प्रादेशिक सरकार कुछ किस्मांकन कार्य करने का दम भरती है और केन्द्रीय सरकार की सहायता से कुछ विदेशी विशेषज्ञों को प्रदेश में घुमा कर अपनी तात्कालिक प्रतिक्रियाओं के अनुसार राय और सुझाव लिए जा रहे हैं। यह संदेहात्मक है कि तीव्र-पर्यटन के फलस्वरूप ऐसे विशेषज्ञ कुटीर उद्योगों का आमूल अध्ययन करके राय दे सकेंगे। वे जो कुछ बताएंगे वह शायद हम भी बता सकते हैं परन्तु विदेशियों के मुख से उन्हीं बातों को सुनकर हमारे अधिकारी और उद्योगधंधी शायद अधिक कान देंगे।

हमने ऊपर कहा है कि विश्वविद्यालय कुटीर उद्योगों सम्बन्धी अध्ययन में योग दे सकते हैं। किस विश्वविद्यालय में, किस कुटीर उद्योग के संबंध में कैसा अध्ययन हुआ है इसका भी समन्वय नहीं किया गया है। तब भी प्रयाग विश्वविद्यालय मे उत्तर प्रदेशीय कुटीर उद्योग सम्बन्धी एक थीसिस कुछ वर्ष पहले डी० फिल० की उपाधि के लिए स्वीकृत की गई थी और हाल में ही कुटीर उद्योग के स्थानीयकरण संबंधी समस्या पर एक अन्य रिसर्च-विद्यार्थी अध्ययन कर रहा है। ऐसे अध्ययन प्रत्येक जिले के लिए करना चाहिए।

कुटीर-उद्योग-बोर्ड

इसके अतिरिक्त सरकार-द्वारा कुटीर-उद्योगों के विकास के लिए अवश्य प्रोत्साहन मिलना चाहिए तथा इनका समन्वीकरण बड़ी मात्रा के व्यवसायों के साथ होना चाहिए। इसलिए तथा आयोजन के विकास के लिए केन्द्रों तथा प्रदेशों में कुटीर-उद्योग-बोर्डों की स्थापना हो रही है। भारतीय सरकार ने एक अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामीण उद्योग बोर्ड स्थापित किया है।[७] उत्तर प्रदेश में कुटीर-उद्योगों का एक अलग डाइरेक्टर है। एक कुटीर

---

[७] यह बोर्ड प्रादेशिक योजनाओं का निरीक्षण करेगा तथा उनके समपदस्थ विकास में सहायक होगा। यह सरकार को उत्पादन के भारत और विदेशों में विक्रय सम्बन्धी प्रश्नों पर परामर्श देगा। इसमें केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के प्रतिनिधि तथा प्रमुख छोटी मात्रा के और कुटीर उद्योग धंधों के संस्थाओं के प्रतिनिधि होते हैं।

उक्त बोर्ड के प्रयत्न के कारण भारत सरकार ने सूती उद्योग द्वारा विरोध होते हुए भी खादी तथा करघा वस्त्र उद्योग को सहायता दी है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। पंचवर्षीय योजना आयोग तथा उक्त बोर्ड ने धान कूटने की मशीनों (Huller तथा Sheller) पर रोक लगाने की राय दी है। अनिवार्य पूर्ति एक्ट (Essential Supplies Act) के अन्तर्गत सरकार ऐसा कर सकती है। ऐसी मशीनों के कारण ७-१२% साबित चावल कम प्राप्त होता है, वह टूट जाता है। ऐसा चावल कम पोषक भी होता है। उसके भूसे में बालू मिले होने के कारण जो पशु उसे खाते हैं उन्हें भी हानि पहुँचती है। युद्ध से पूर्व ७५% चावल हाथ से कूटा जाता था परन्तु युद्ध-काल में धान कूटने की मिलें ४०% धान कूटने की सुविधा पा गईं। इस सुविधा को अब वापस लेने की आवाज़ उठाई जा रही है। हाथ से धान कूटने वाले श्रमिकों को चावल ही मजदूरी में दिया जा सकता है। इस प्रकार नकद मजदूरी का कुप्रभाव बच जायगा।

गत वर्ष भारत सरकार ने बोर्ड को खादी विकास के लिए २·०८ करोड़ रुपये तथा अन्य उद्योगों के विकास के लिए १४ लाख रुपये दिये थे परन्तु बोर्ड क्रमशः केवल ५० लाख तथा ५६ हजार रुपयों का उपयोग कर सका। इसका कारण प्रगति की कठिनाई है।

उद्योग बोर्ड[८] है। अन्य प्रदेश भी इसी तरह के प्रयत्न कर रहे हैं। बोर्ड के सुझाव पर भारतीय सरकार ने एक केन्द्रीय राजकीय प्रदर्शनगृह (Central State Emporium) की स्थापना की है। यह आवश्यक है कि प्रत्येक

---

[८]यह बोर्ड कुटीर उद्योगों की दशा सुधारने के लिए निम्नलिखित कार्य करती हैं। (१) औद्योगिक शिक्षा व अनुसंधान; (२) व्यापार संबंधी सूचना देना; (३) कुटीर पदार्थों का प्रचार; (४) कुटीर धंधियों को वैत्तिक सहायता व ऋण; (५) कुटीर पदार्थों की सरकारी विभाग द्वारा खरीद; (६) औद्योगिक सहकारिता विकास। प्रदेश में लाखों कुटीर धंधी हैं परन्तु सन् १९५१-५२ में केवल एक हजार से अधिक लोगों को वैत्तिक सहायता दी गई। लगभग १२ लाख रुपए व्यय हुए अर्थात् प्रति व्यक्ति १२०० रुपए। वहीं से उत्तर प्रदेशीय हैन्डीक्राफ्ट कुटीर पदार्थों की बिक्री में योग देता है। कुटीर विभाग सरकारी विभाग के लिए कुटीर पदार्थ भी खरीदता है तथा कुछ लाख रुपयों की मशीनें कुटीर उद्योगों के लिए विदेशों से मंगा कर दी है। सन् १९५२-५३ में ४५ लाख रुपए के ३० लाख बोरे खरीदे और बीज स्टोरों की शिकायत थी कि एकदम रद्दी बोरे गांठ के गांठ बाजार भाव से ऊँचा दर पर उन्हें दिए गए। खादी, करघा, कसीदा करने, ऊन, गुड़, बर्तन तथा हाथ के बने कागज ये सात विकास योजनाएं चालू हैं। २३ लाख रुपए व्यय करके खादी शिक्षा संबंधी पांच शिक्षा केन्द्र तथा ४७ अन्य केन्द्र खोले गए हैं। चरखा बनाने का केन्द्र भी खोला गया है। १३·५ लाख रुपए की एक पंचवर्षीय योजना है। गुड़ तैयार करने के लिए उत्तम भट्ठियों का निर्माण किया जाता है। ७ लाख रुपए की उत्तम कड़ाह, कोल्हू, भट्ठी, निखारादि की योजना है। यह सब कुछ है परन्तु क्षेत्रीय आधार पर सुनियोजित कुटीर उद्योग विकास कार्य बहुत होता है। जिलों में जो कुटीर उद्योग अधिकारी हैं वे पोस्ट आफिस सदृश काम करते हैं और वे अपने इस पार्ट को पसंद करते हैं परंतु समाज की दृष्टि से यह अति अवांछनीय है। उन्हें जिले में कुटीर उद्योग विकास कार्य में अधिक सक्रिय भाग लेना चाहिए।

विदेश-स्थित भारतीय राजदूत के कार्यालय[९] में हमारे कुटीर-उद्योग के उत्पादनों के लिए एक प्रदर्शनगृह होना चाहिए। इनको अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनियों में भेजना चाहिए[१०] तथा इस विषय में रुचि लेने वाली पार्टियों को कुटीर-मजदूरों के सम्पर्क में लाना चाहिए। प्रदेश भी प्रादेशिक राजधानियों में प्रदर्शनगृह (Central Emporium) का निर्माण कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तिकाओं तथा पैम्फलेट और अंग्रेजी तथा हिन्दी की पत्रिकाओं द्वारा सूचना प्रसार करने के लिए व्यापारिक विभागों की स्थापना होनी चाहिए।

खोज

सरकार द्वारा उत्पादन को उचित स्तर का रूप देने, नई डिजाइन[११] तथा छोटे छोटे मशीन-यंत्रों के विकास के लिए और विदेशों से प्राप्त मशीनों

---

[९] पहले से ही २५ वाणिज्य-अफसर विदेशों में हैं। भारत सरकार ने कलकत्ता, रंगून, सिंगापुर, चटगांव, बंगलोर, कराची तथा अदन में प्रदर्शन गृह खोले हैं। कोलम्बो, रंगून, सिंगापुर तथा मध्यपूर्व में तो करघा-वस्त्र के एजेन्ट रखे गए हैं।

[१०] इधर कनाडा, इटली, इंगलैंड तथा बेलजियम की प्रदर्शिनियों में सरकार ने भाग लिया है। वाणिज्य मंत्रालय में एक केन्द्रीय प्रदर्शिनी डाइरेक्टर भी हैं।

[११] उत्तर प्रदेशीय हस्तशिल्प पुनर्संगठन समिति (१९४८) ने कहा था कि हस्तशिल्प के लिए स्वीकृत अनुदान का अर्धांश प्रसार कार्य तथा नई डिजाइन खोज करने पर लगाना चाहिए। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि २५ हजार रुपये प्रति वर्ष विदेशों से भिन्न भिन्न डिजाइन तथा रंग भरने के नमूने मंगाने के लिए व्यय करना चाहिए। सरकार को बड़े बड़े शहरों में हस्तशिल्प की वस्तुओं के प्रदर्शन व बिक्री के लिए दूकानें खोलनी चाहिए तथा अपने दूतावासों द्वारा विदेशी हस्तशिल्प बाजार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। समिति ने किस्मांकन कार्य को अति महत्त्वपूर्ण समझा।

समिति के अन्य सुझावों में से उल्लेखनीय सुझाव ये हैं:—

हस्तशिल्प के विकास का कार्य सरकारी अनुदान प्राप्त संस्थाओं द्वारा किया जाना चाहिए और हस्तशिल्प केन्द्रों पर करघे के अतिरिक्त चित्रित

के प्रयोग विषयक खोज तथा प्रयोग की प्रणालियों के लिए व्यवस्था होनी चाहिए। उत्तर प्रदेश में जहाँ तक हैन्डलूम (करघां) का संबंध है केन्द्रीय बुनाई इन्स्टीस्यूट (Central Weaving Institute) बनारस तथा मऊ, नाथ भंजन और आजमगढ़ के हैन्डलूम के कारखानों में प्रयोग तथा खोज संबंधी प्रयत्न होने चाहिए। व्यक्तिगत पूंजी को व्यवसाय में लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए आविष्कारकों को तथा विशेष उद्देश्य के लिए नई डिजाइन बनाने वालों को पुरस्कृत करना चाहिए। इस तरह भारतीय तिलहन समिति द्वारा ऐसी सर्वोत्तम घानी को बनाने वाले, जिसकी क्षमता १० सेर हो तथा जो एक बैल द्वारा चालित हो और कम से कम तिलहन से ९०% तेल निकाल सकती हो—५००० रुपए पुरस्कार स्वरूप दिया गया।

शिक्षा

यह आवश्यक है कि भ्रमण करने वाले परामर्शदाता तथा शिक्षक पुराने तथा नए दोनों प्रकार के लोगों को—पुराने लोगों को नए की अपेक्षा अधिक—सहायता दें। ये लोग किसानों तथा ग्रामीण दस्तकारों को शिक्षा देने के लिए गाँव-गाँव घूमें।[१२] मास्टर दस्तकारों को कुशल बनाने के लिए प्रशिक्षण संस्थाओं का निर्माण करना पड़ेगा।

पीतल-पदार्थ, काष्ठ-पदार्थ, टोकरी, मिट्टी के बर्तन, मठर-माला, छपाई, दरी, बुनाई आदि के सम्बन्ध में भी ट्रेनिंग व्यवस्था करनी चाहिए। चमड़ा कमाई तथा मिट्टी के बर्तन सम्बन्धी प्रशिक्षण केन्द्रों की भांति अन्य प्रशिक्षण केन्द्र वहीं खोलने चाहिए जहां हस्तशिल्पी ट्रेनिंग प्राप्त करने के लिए उत्सुक हों। प्रशिक्षण केन्द्रों को सम्बन्धित उत्पादन कार्य के लिए सहकारी उत्पादन समिति की स्थापना करनी चाहिए जैसा कि करघा प्रशिक्षण केन्द्रों ने किया है।

[१२] ग्रामीण औद्योगिक ब्यूरो (Rural Industries Bureau) द्वारा इंगलैण्ड में ग्रामीण व्यवसायों को आधुनिक रूप देने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। परामर्श देते हैं; शिक्षक ग्रामीण क्षेत्रों में भ्रमण करते हैं; तथा लुहार, बढ़ई, गाड़ी बनाने वालों, छोटी मात्रा पर ईंट बनाने वालों को आधुनिकतम ज्ञान और सिद्धान्तों से अवगत करते हैं। दस्तकारों को ऐसे यंत्रों

इस तरह उत्तर प्रदेश में बिना विटामिन के तत्वों को खोए ही गुड़ निर्माण के लिए शिक्षकों को तैयार किया जा रहा है। खादी विकास समिति की स्वीकृति प्राप्त कर उत्तर प्रदेश के २५ जिलों में सूत की कताई के लिए मास्टरों को शिक्षा दी जा रही है। उनको स्थानीय लोगों के लिए खोले गए प्रशिक्षण शिविरों में आयोजन और निरीक्षण कार्य के लिए भेजा जायगा। चमड़ा पकाने की योजना (Hide Flaying Scheme) के अन्तर्गत प्रमुख केन्द्रों (आगरा, कानपुर, ज्वालापुर, मेरठ) आदि में पेशेवर लोगों को शिक्षित किया जायगा; आधुनिक चमड़ा पकाने के यंत्र उन्हें दिए जायँगे तथा ग्रामीण क्षेत्रों में चमारों के समक्ष चमड़े और खाल को साफ करने, पकाने, सुरक्षित करने की विकसित प्रणालियों का प्रदर्शन किया जाने वाला है। दोनों ग्रामीण और नगर क्षेत्रों के लिए उन्नत प्रकार के चमड़े पकाने के यंत्रों की पूर्ति की जायगी। एक केन्द्र पर चुने हुए बढ़इयों तथ अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं को शिक्षा दी जा रही है जिससे कि वे यंत्रों, कोल्हू को फिट करने, तेल पेरने, रेह से साबुन बनाने और गन्ने और खजूर के रस से गुड़ बनाने के काम को उन्नत कर सकें। ऑक्यूपेशनल इंस्टीट्यूट लखनऊ तथा राजकीय टेक्सटाइल इंस्टीट्यूट कानपुर में कुल पांच सौ दर्जियों को २५ रु० मासिक छात्र वृत्ति देकर ५०० छात्रों को प्रशिक्षण देंगे। इस हेतु सन् १६५४-५५ में उत्तर प्रदेश सरकार दस लाख रुपया व्यय करेगी।

झाड़ियां तथा अन्य यंत्रों के उत्पादन के लिए नवीन उद्योगों को संचालित करने के लिए उत्तर प्रदेश की सरकार कुछ विदेशी विशेषज्ञ तथा कुशल व्यक्तियों को प्राप्त करना चाहती है। परन्तु यह भी बहुत वांछनीय है कि कुछ भारतीय विदेशों में—विशेषकर जापान—भेजे जांय जहाँ से

के प्रयोग और चुनाव में सलाह दी जाती है जिससे कि वे अपने काम की बाधाओं और नीरसता को कम कर सकें। बहुत से पहिए तथा गाड़ी बनाने वाले दस्तकारों ने अपनी दुकानों में आधुनिक काष्ठ-शिल्प के यंत्रों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है तथा नवीन व्यापारिक विचारों के अनुसार चलना सीख लिया है। बहुत से लुहारों ने अपने स्वयं के जुड़ाई के यंत्र रख लिए हैं तथा उनके प्रयोग के नियमों की शिक्षा प्राप्त कर ली है।

शिक्षित होकर वे लौटकर ग्रामीण उद्योगों के विभिन्न योजनाओं को विकसित करा सकें।

कर और यातायात

अतः यह स्पष्ट है कि सरकार द्वारा योजनाओं, कला विषयक परामर्श तथा शिक्षा और प्रकाशन आदि के कामों को प्रारम्भ और प्रोत्साहित करना पड़ेगा। अन्त में यह सब कार्य विकास-संघों द्वारा संचालित किए जाने पड़ेंगे। एक दिशाओं है जिसमें सरकार को प्रयत्नशील होना पड़ेगा। इसका सम्बन्ध कर-प्रणाली तथा गमनागमन के साधन से है। सरकार कर द्वारा बड़ी मात्रा के उद्योगों को सुरक्षा प्रदान करती और प्रोत्साहित करती है। सरकार शायद ही कभी यह ध्यान में रखती है कि इस नीति का प्रभाव स्वदेशी कुटीर-उद्योगों पर कैसा पड़ेगा। स्थानीय सरकार तथा संस्थाएँ भी चुंगी आदि वसूल करती है जिससे कि कुटीर-उत्पादनों का स्वतन्त्र प्रवाह बाजार तक नहीं जा पाता। परंतु अब तो सरकार ने सब से महत्वपूर्ण भारतीय कुटीर उद्योग अर्थात करघा उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिए मिल के कपड़े पर एक पैसा रुपया की चुंगी लगा दी है (देखिए खादी तथा अन्य करघा उद्योग विकास एक्ट १९५३) तथा रंगीन साड़ियों का मिल-उत्पादन बंद कर दिया है। सन् १९५४ में अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग बोर्ड ने त्रि वर्षीय योजना बना कर मिल के बने तेल पर सवा रुपए फी मन की चुंगी लगाने तथा घानी के तेल पर अढ़ाई रुपए फी मन की सहायता देने की सिफारिश की है। सरकार को कुटीर-माल पर न चुंगी लेनी चाहिए न बिक्री कर। इसी प्रकार रेलवे की नीति ऐसी कभी नहीं रही है कि वह कुटीर उद्योगों के उत्पादन को गमनागमन के लिए वैसी सुविधाएँ दे सके जैसा कि वह बड़ी मात्रा के व्यवसायों के लिए देती रही है। इन कमियों का सुधार होना चाहिए। सरकार द्वारा कुटीर-उद्योगों के लिए आवश्यक माल तथा कुटीर-उत्पादन के लिए कम दर की स्वीकृति मिलनी चाहिए तथा तत्संबंधी माल के यातायात को प्राथमिकता दी जाय।

क्रय-विक्रय तथा अर्थ-समस्या

क्रय-विक्रय तथा अर्थ-समस्या के सम्बन्ध में कुछ भ विचार नहीं किया

गया है। इसका हल सहकारिता के आधार पर ही हो सकता है। औद्योगिक सहकारी समितियाँ स्वतन्त्र व्यक्तिगत रूप से तथा सम्मिलित रूप से भी कार्य करेंगी। इस तरह उत्पादक समितियाँ कच्चे माल, यंत्र तथा गमनागमन सम्बन्धी सुविधाओं के प्रबन्ध के लिए बनायीं जायं। उपभोक्ता-समितियाँ तथा उत्पादक समितियाँ (उत्पादन के आगे वाले सभी स्तरों को नियंत्रित कर) किसी एक औद्योगिक सहकारी समिति द्वारा तैयार उत्पादन का क्रय कर सकती हैं या उत्पादकों का विक्रय-संघ भी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार स्थानीय साख-समितियों, केन्द्रीय सहकारी बैङ्क और प्रादेशिक सहकारी बैङ्क की सहायता से साख-समस्या भी हल की जा सकती है। जहाँ पर प्रादेशिक वित्त निगम (Provincial Finance Corporations) बन गये हैं उनका अर्थ और कला-विशेषज्ञों द्वारा औद्योगिक सहकारी समितियों को भी सहायता प्रदान की जानी चाहिए। औद्योगिक सहकारी समितियों को पर्याप्त कोष- निर्माण तथा आर्थिक सुदृढ़ अवस्था प्राप्त करना चाहिए।

सरकारी क्रय

जब तक कुटीर उद्योगों के माल को खरीदने और काम में लाने की हवा न फैलेगी इन उद्योगों का पनपना कठिन है। सरकारी काम करने वाले उच्च पदाधिकारी तथा सरकार अपने विभागों के लिए कुटीर उद्योग के माल खरीद सकती है। उत्तर प्रदेश में एकसा माल होने पर कुटीर उद्योग के माल को १५% अधिक मूल्य तक क्रय करने का निश्चय किया गया है।

उपभोक्ता आदत बदलें

कुटीर उद्योगों के माल की मांग बढ़ाने में ही भारत जैसे आंतरिक बाजार (Internal Market) वाले देश का हित है। परंतु उपभोक्ताओं की इच्छा और आवश्यकता को बदलना अति कठिन है। यथासभव उसको बदलने की चेष्टा भी नहीं करनी चाहिए। यह भी कहा जाता है कि कुटीर उद्योग का माल घटिया और महंगा होता है। कभी कभी और कहीं कहीं यह भी सुनने में आता है कि खद्दर पहिनने से बदन में फफोले पड़ जाएंगे। तथा हम इतना आगे बढ़ गए हैं कि कोट, पैन्ट, टाई और तत्सदृश वेशभूषा का त्याग नहीं कर सकते। यह विचार मानव की मानसिक दासता के परिचायक हैं। मनुष्य

अपने विचारों को मनोबल द्वारा सूर्योदय होते होते बदल सकता है यदि मानव समाज के नेता—राजनैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक—जो कुल जनसंख्या के शायद हजारहवें भाग भी नहीं हैं जनता के समक्ष ऐसे परिवर्तन के जीते जागते उदाहरण न बन सकेंगे तो फिर कौन जन-अशांति और हिंसावृति व विप्लव की प्रबल लहरों को रोक सकेगा। राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए इन्हीं नेताओं ने त्याग किया था और उनको देख कर जनसमुदाय ने उनसे भी अधिक कष्ट उठाए थे और बलिदान किए थे। अब फिर वैसे ही त्याग की आवश्यकता है। यदि गुणी कहे जाने वाले ऊँचे पदों पर आसीन अधिकारी, शिक्षक, प्रोफेसर, महंत, धर्म पंडित ऐसे त्यागमय जीवन को अपनाएंगे तो अर्धविकसित देशों की जनता शीघ्र ही आर्थिक, सामाजिक ही नहीं वरन् सांस्कृतिक क्षेत्र में विकसित कहे जाने वाले देशों से आगे निकल जाएगी, आज की विकसित जनता अपने को अविकसित समझने लगेगी और स्वयं भी सादे जीवन व विकेन्द्रित व्यवस्था की राह पर चलेगी।

विकास

ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए सर विश्वेश्वरैया ने यह सुझाव पेश किया था कि ग्रामीण जनता द्वारा ग्रामों के समूहगत क्षेत्र के लिए १०-१२ स्थानीय सदस्यों का चुनाव करके एक विकास समिति का निर्माण हो। समिति प्रति परिवार ४ से ८ आना इकट्ठा करे तथा इसके अतिरिक्त सरकारी अनुदान भी प्राप्त कर सके। यह समिति ऐसे उद्योगों के विकास तथा आवश्यकताओं की उन्नति के लिए कार्य करेगी जिसके लिए सामूहिक प्रयत्न आवश्यक है तथा जिनके संचालन और नियंत्रण के लिए वर्तमान समय में कोई विशेष सरकारी एजेन्सी न हो। यह समिति जनता को प्रोत्साहित करेगी कि वह व्यक्तिगत प्रयत्न या सामूहिक हिस्सेदार प्रणाली पर छोटी मात्रा के उद्योगों को संचालित करे। यह उत्तम और योग्य उद्योगों को संचालित करने के लिए चुनाव में की गई प्रगति का रिकार्ड रखने में, तथा जनता को विद्युत-शक्ति, मशीन-यंत्र तथा अन्य समय बचाने वाले नियमों और साधनों के प्रयोग में जनता का पथ-प्रदर्शन करेगी। हम सुझाव देंगे कि ग्रामों में स्थापित पंचायतों की कार्य-प्रणाली को सुधार कर प्रोत्साहन दिया जाय। ग्रामीण

जनता द्वारा विकास-समिति के सदस्यों का चुनाव न करें वरन् उपयुक्त क्षेत्रों के ग्राम पंचायत के हाथ में सदस्यों का चुनाव देना चाहिए। अनिवार्य रूप से चार आना शुल्क को एकत्र करना भी पंचायत के हाथ में आना चाहिए। इसके अतिरिक्त जनसंख्या के आधार पर पंचायत द्वारा ही विकास-समिति को अर्थ सहायता मिलनी चाहिए। यह सम्भव होना चाहिए कि समिति विकास की प्रगति का विवरण रखे। परन्तु जहाँ तक समय की बचत करने की प्रणालियों और साधनों का सम्बन्ध है, कम से कम इस प्रारम्भिक अवस्था में यह आशा की जानी चाहिए कि जनता को शिक्षित करने के लिए सहायता दी जाय। अल्पकाल में इन समितियों के निर्माण के पूर्व यह आवश्यक होगा कि ग्रामीण उद्योगों तथा औद्योगिक वर्तमान क्षमताओं के विषय में पूर्ण रूप से पर्यवेक्षण किया जाय।

अध्याय पाँच का परिशिष्ट

उत्तर प्रदेश के कुटीर-उद्योगों की सूची

नीचे उत्तर प्रदेश कुटीर-उद्योग उपसमिति (१६४५) द्वारा तैयार रिपोर्ट में वर्गीकृत उद्योगों को दिया गया है। हमारे सिद्धान्तों के अनुसार उद्योगों के दोनों समूह अंत में कुटीर-उद्योगों की एक ही श्रेणी में आते हैं।

वे उद्योग जो यांत्रिक और शक्ति के प्रयोग के बिना ही दस्तकार के घरों में संचालित हैं :—

१—सूती, ऊनी और सिल्क के कपड़ा को तैयार करना
२—लाख बनाना (Shellac Making)
३ - दरी बनाना
४—दरी का बुनना
५—रेशमी सूती और सुनहले तार (Gold wire)
६—सुनहले सूत का निर्माण
७—धातु के बर्त्तन
८—तेल निकालना
६ – शोरा साफ करना (Saltpetre refining
१०—पीतल पर पच्चीकारी (Art Brassware)
११—कोड़े बनाना
१२—काष्ठ-कला तथा नक्काशी
१३—सरेस बनाना (Glue Making)
१४—सूती तथा सिल्क की छपाई
१५—कैंची निर्माण
१६—चमड़े का काम
१७—टाट की पट्टियों की बुनाई
१८—संगमरमर और पत्थर का काम
१६—सिल्क बनाना
२०—शीशे का काम
२१—क्रिकेट के गेंद बनाना
२२—काठी या ज़ीन बनाना
२३—रँगाई (Dyeing)
२४—ताला बनाना
२५—इस्पात के बक्स तथा तिजोरी बनाना
२६—छुरी काँटा बनाना
२७ – मिट्टी के बर्त्तन बनाना
२८—मोजा आदि की बुनाई
२६—खाने और धूम्रपान के लिए तम्बाकू
३०—तारकशी
३१—कशीदे के लिए स्वर्ण-तार बनाना

३२—लकड़ी तथा सींग की कंघी बनाना
३३—खिलौने बनाना
३४—बीड़ी बनाना
३५—तम्बू बनाना
३६—लकड़ी पर तारकशी
३७—नमदा बनाना
३८—सुगंधित वस्तुएँ इत्यादि बनाना
३९—हाथी के दाँत का काम
४०—गोटा बनाना
४१— घी बनाना
४२—आभूषण बनाना
४३—सोने तथा सिलवर के गहने बनाना
४४—लाख की वस्तुएँ बनाना
४५—सिरका बनाना (Vinegar)
४६—पतङ्ग की डोर बनाना
४७—ताँबे की पत्तियाँ बनाना
४८—सोने और चाँदी के पत्र बनाना
४९—अचार, चटनी
५०—सुरमा
५१—तबला तथा अन्य भारतीय वाद्ययंत्र
५२—ब्रुश बनाना
५३—आबनूस का काम
५४—डलियाँ बनाना
५५—रस्सी बनाना
५६—मिट्टी की मूर्त्तियाँ
५७—कागज के लुगदी के खिलौना (Papier Mache)
५८—काँच के दानों और सलाइयों के परदे
५९—रथ और बैलगाड़ी बनाना
६०—मिठाई
६१—टिन बनाना
६२—खाल भरना
६३—कत्था बनाना
६४—बीदार का काम (Bidar Work)
६५—बनावटी फूल बनाना
६६—मूँज की चटाई रस्सी आदि बनना
६७—माँस पत्थर का काम
६८—आतिशबाजी बनाना
६९—बेत और बाँस का काम
७०—दले पातल के बर्तन बनाना
७१—किताब की जिल्द बनाना
७२—कार्ड बोर्ड और बक्स बनाना
७३—तस्वीरों के फ्रेम बनाना
७४—लैम्पशेड बनाना

छोटे-मोटे-उद्योग

इस सूची में ऐसे उद्योग आते हैं जो छोटे कारखानों के रूप में चलते हैं। इनमें यंत्र शक्ति लगाई जाय चाहे न लगाई जाय परन्तु इनमें मजदूर मजदूरी के आधार पर रोजी कमाते हैं तथा किसी मशीन पर या किसी मिस्त्री या मालिक के अंतर्गत काम करते हैं। इस तरह इस सूची में सब प्रकार के

छोटी मात्रा वाले शक्ति चालित कारखाने तथा करघे की बुनाई, दरी बनाने, शीशा आदि के लिए अशक्ति-चालित कारखाने आते हैं :—

१—लोहा तथा इंजीनियरिंग का काम (बिजली के काम के साथ)
२—चमड़ा कमाना (Tanning)
३—साबुन
४—स्याही
५—सिगरेट तथा बीड़ी
६—पेंसिल
७—कार्ड बोर्ड बाक्स बनाना
८—चबाने तथा धूम्रपान के लिए तम्बाकू
९—काष्ठकला नक्काशी की मशीन
१०—प्रकाशन प्रेस
११—ताला बनाना
१२—लोहे का काम (छोटा कारखाना)
१३—काँच की चूड़ियाँ
१४—पीतल ढालना
१५—जूता बनाना
१६—इत्र आदि
१७—प्राणि जगत सम्बन्धी नमूने और स्लाइड बनाना
१८—लाख बनाना
१९—फीते बनाना
२०—बिजली के पंखे
२१—मसाला
२२—पीतल के बर्तन पर पच्चीकारी
२३—दवाई बनाना
२४—चूना
२५—कत्था बनाना
२६—खपड़ा और टाइल (Tile)
२७—फेनायल आदि बनाना
२८—मिठाई
२९—कसीदा करना
३०—क्रिकेट की गेंद बनाना
३१—शक्कर बनाना
३२—करघे की बुनाई के कारखाने
३३—फरशपोश तथा दरी बनाना
३४—शोरा
३५—रसायन पदार्थ (एसिड) बनाना
३६—वैज्ञानिक यन्त्र बनाना
३७—फाउन्टेनपेन बनाना
३८—सेन्ट तथा बाल के लिए तेल बनाना
३९—बिजली से पालिश करना
४०—तारकशी
४१—पालिश करना
४२—इस्पात से ट्रंक बनाना
४३—मोजा बनियाइन बुनना
४४—बटन बनाना
४५—छुरीकाँटे बनाना
४६—कैंची बनाना
४७—संगमरमर का काम
४८—जूते का फीते बनाना

४६—ताँबे के पत्तर बनाना
५०—काठी या जीन बनाना
५१—बर्तन बनाना
५२—रँगाई
५३—बीजगणित तथा रेखागणित आदि के यन्त्र बनाना
५४—तम्बू बनाना
५५—खाल भरना
५६—अचार बनाना
५७—बिस्कुट बनाना
५८—चावल कूटना
५९—सिरका बनाना (Vinegar making)
६०—दाल छाँटना
६१—धातु को पिघलाना और पीटना
६२—सोने के तार बनाना
६३—ऊन की बुनाई
६४—सोने और चाँदी के सामान बनाना
६५—गोटे की बुनाई
६६—टिन बनाना
६७—धातु से बर्तन बनाना

छठवाँ विच्छेद

कृषि-गत-साख

कृषिसाख तथा सहकारी साख सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेन्स (१९५२)[१] ने आर्थिक विधान में उक्त साख का महत्व समझा था और तत्सम्बन्धी सुविधाओं के लिए सुझाव दिया था। भारतीय योजना आयोग ने भी अपनी योजना में यह कहा है कि स्थानीय बचत एकत्र की जाये; विवेकपूर्ण रूप से समय से पूर्व आवश्यक कृषि साख की व्यवस्था की जाये जिससे कृषि और सम्बन्धित कुटीर तथा छोटी मात्रा के उद्योग पनपें, विश्वास व उमंग बढ़े; और सर्वमुखी ग्रामीण विकास हो। परन्तु यह विकास व व्यवस्था कैसे हो ?[२]

कृषि सम्बन्धी उधार की समस्या के भारत में (और अन्यत्र भी) दो पहलू हैं। प्रथम, यह समस्या उस उधार से सम्बन्धित है जो गत वर्षों में लिया गया था और वह रकम जो उसके लिये वापस करना है। द्वितीय यह समस्या भविष्य के लिये सुधरे हुये उधार की सुविधाओं की दिशा में संकेत करती है।

उधार खेती के लिये भी वैसा ही आवश्यक है जैसा व्यापार अथवा उद्योग के लिये। किसान उधार इसलिये चाहता है कि उसे अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं, औजारों और खाद को खरीदने के लिये, भूमि सुधार के लिये, नित्य के काम के साधारण खर्च के लिये, बुरे सालों में उत्पादन के लिये, अच्छे वर्षों में विक्रय स्थगित करने के लिये और कभी-कभी सरकारी नियमों से, जो खेती की उपज और उसको बाजार के बारे में रहते हैं, बचाव के लिये रुपये की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे शब्दों में किसान उद्योगपतियों की तरह उधार अपनी आय बढ़ाने, अपनी कर्ज चुकाने की शक्ति में सुधार करने और अपना रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के लिये चाहता है।

---

[१] देखिए इंडियन जरनल ऑफ एग्रीकलचरल इकनामिक्स, खन्ड ८ अंक २, पृष्ठ ६२-६३।

[२] योजना आयोग के अनुमानानुसार पंचवर्षीय योजना में कृषि हेतु १०० करोड़ रुपया अल्पकालीन ऋण, २५ करोड़ रुपया मध्यमकालीन ऋण तथा ५ करोड़ का दीर्घकालीन ऋण चाहिए।

मुख्य विशेषतायें

ग्रामीण-उधार की कुछ अपनी विशेषतायें होती हैं क्यों कि खेती और व्यापार एवं उद्योग में बड़ा अन्तर रहता है। खेती अन्य उद्योग आदि से इन दो अर्थों में भिन्न है (१) प्रकृति और अवधि तथा (२) विनियुक्त पूँजी पर औसत लाभ। खेती बहुत अंशों में मानसून की अस्त-व्यस्तता पर आधारित है। अन्य उद्योगों की भाँति केवल यंत्रवत कच्चे माल को एक सुनिश्चित गति से तैयार माल के रूप में बदलने का सवाल नहीं रहता वस्तुयें बहुत अधिक नष्ट[३] होने वाली हैं और यह व्यवस्था सरलता और शीघ्रता से नहीं बदली जा सकती। इस सत्य का भी ध्यान में रखना है कि कुछ तो स्वभाव और कुछ अनिश्चितताओं के कारण किसान अपनी उधार सम्बन्धी आवश्यकताओं का समय से पहले अनुमान नहीं लगा पाता।

कृषि-गत ऋण तीन प्रकार के होने चाहिए (१) चालू व्यय[४] हेतु फसल तैयार होने तक के लिए; (२) बैल और औजार के खरीदने से सम्बन्धित कुछ वर्ष के लिए; और (३) भूमि खरीदने, भूमि में दीर्घकालीन सुधार और कुआँ खोदने आदि से सम्बन्धित लम्बी अवधि के लिए। इसके अतिरिक्त, आदर्श कृषि-गत-साख संस्था की विशेषताएँ निम्नांकित होनी चाहिये :—

(१) उधार किसी भी समय अविलम्ब मिल सके;

(२) फसल की असफलता पर उधार के समय को बढ़ाया जा सकता है;

(३) उधार देने वाली संस्था में पर्याप्त धन की व्यवस्था हो;

---

[३] सभी कृषि की वस्तुयें अत्यधिक नष्टशील नहीं होती। कुछ खाद्य पदार्थ भी नितांत क्षयशील नहीं कहे जा सकते। यह तर्क करना सम्भव है कि कुछ प्राचीन कोठारों में जौ और अन्य अन्न सुरक्षित रक्खे जाते रहे हैं। किन्तु वे उपाय साधारण कृषक को प्राप्य नहीं हैं। यह भी कहा जा सकता है कि किसान नई फसल आने पर पुराना अन्न नहीं रखता क्योंकि उसकी संचयन शक्ति सीमित है।

[४] चालू व्यय में न केवल फसल उगाने वरन् किसान-परिवार के पालन पोषण का भी व्यय गिना जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण से कतिपय कथित अनुत्पादक उपभोगार्थ लिया ऋण अल्पकालीन कृषि-उत्पादन सम्बन्धी ऋण बन जायगा।

(४) उधार देने वाली संस्था में उधार लेने वाले के विषय में पूर्ण तथ्यों का शीघ्र जान लेने की क्षमता हो;

(५) उधार के उचित उपयोग के लिये पर्याप्त नियन्त्रण रखा जा सके;

(६) सारे रुपयों को कड़ाई के साथ उधार लेने वाले की उत्पत्ति को बेच कर या जब रुपये उसके हाथ में हों, वसूल करना;

(७) ऋण के उचित स्वरूप और मात्रा के संबंध में राय दे सके। किसान को यह बताया जा सके कि वह कितना ऋण दीर्घकालीन ले, कितना मध्यमकालीन तथा कितना अल्पकालीन : वह कौनसी वस्तु ऋण लेकर नकद खरीदे और कौनसी किस्त पर तथा वह बढ़ते मूल्यों के समय कितना ऋण ले और गिरते भाव के समय कितना ऋण पाए।

व्यापारिक बैंक ऐसे उधार देने की व्यवस्था नहीं करते। वे अपने रुपयों को अन्य औद्योगिक और व्यापारिक दिशाओं में लगाने में समर्थ होते हैं। यही नहीं, उनके कार्य करने का ढंग व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के अनुरूप बन गया। उनके असहयोग की भावना के मुख्य कारण हैं : उधार लेने वालों की सामर्थ्य के अनुमान की कठिनाई, उधार लेने वाले की किसी प्रकार का बन्धक या अमानत और जमानत देने में असमर्थता, व्याज और पूंजी का समय से वापस करने की अनिश्चित अवस्था, और यह भय कि अन्त में सारा उधार कभी न प्राप्त हो सकने वाले धन में परिवर्तित हो जायगा।[४]

---

[४] ग्रामीण बैंक खोज समिति (१९५०) ने यह कहा था कि गांवों के पास व्यापारिक बैंक खोली जाएं। उसकी राय में अधिक व्यय, अधिक नकद कोष रखने की आवश्यकता, निधि को एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने की कठिनाई तथा सुरक्षा हेतु विशेष प्रबंध की आवश्यकता के कारण व्यापारिक बैंक अपनी शाखाएं नहीं खोलतीं। अतः पोस्ट आफिस बढ़ाए जायं तथा इंपीरियल बैंक द्वारा अधिक शाखाएं खुलवाई जायं। एक सुझाव अनुसार सरकार सहकारी समितियों को प्राप्त सहूलियतें व्यापारिक बैंक को दे; श्रमिक संबंधी कानून में छूट दे दे तथा निधि भेजने की सुविधा, तो कुछ प्रगति हो सकती है।

कृषिगत वैत्तिक योग तीन प्रकार के हो सकते हैं। कुछ मामलों में किसान की पूर्ण आर्थिक असमर्थता के कारण सहायता के वापस होने की आशा बिलकुल नहीं की जा सकती। अन्य मामलों में एक अंश के वापसी की आशा की जा सकती है और वह भी यह सोच कर कि इस व्यवस्था द्वारा कर्जदार की वापस करने की शक्ति बढ़ेगी ही। अन्य मामलों में ऋण उपयुक्त ब्याज की रकम के साथ वापस होने की आशा रहती है।

तीसरे प्रकार के उधार की व्यवस्था की ओर अधिकाधिक जोर दिया जाता है। ऐसा केवल भारत में ही नहीं वरन अन्य देशों में भी है। किन्तु यह एक ध्रुव सत्य है कि अधिकांश कृपकों की स्थिति सुधारने के लिए प्रथम दो प्रकार की उधार व्यवस्था की भी अत्यन्त आवश्यकता है। प्रथम प्रकार के ऋण का एक उदाहरण वह ऋण है जो उत्तम बीज के लिये मिलता है। यदि वह बीज को अपने खेतों में प्रयोग करना स्वीकार कर ले। कृषकों को नवीन उत्तम बीज निःशुल्क दिया जा सकता है। बीजों के संग्रह के लिये गोदामों का निर्माण, उत्पादन और खाद के लिये दिया गया ऋण दूसरे प्रकार के ऋणों का उदाहरण है। इसके साथ ही साथ ऐसे ऋणों के एक अंश को वापस नहीं लेना चाहिये! शेप भाग कई वर्षों में किश्त-बन्दी के रूप में अदा किया जा सकता है! ग्रामीण क्षेत्रों तथा मुख्य बाजारों में संग्रह की सुविधाओं का प्राप्त होना, किसान की पूर्ति को मांग के अनुरूप संतुलित करने और इस प्रकार एक ऊँचा मूल्य प्राप्त करने में सहायक होता है। इस प्रकार आय बढ़ती है और कर्ज चुकाने की शक्ति भी बढ़ती है।

प्रथम दो प्रकार के उधारों को देने की व्यवस्था प्रायः सरकार की ओर से होनी चाहिये। साधारणतः 'साख' (ऋण) शब्द इस प्रकार के कर्ज की ओर इंगित करने वाला नहीं समझा जाता। जिसे ऋण समझा जाता है उसे कुछ ब्याज के साथ चुकाया जाता है। इस पाठ में अब ऋण ग्रामीण-उधार का इस अर्थ में ही प्रयोग होगा। अस्तु, इस प्रकार के ग्रामीण कर्ज देने के लिये कुछ विशेष प्रकार की उधार-संस्थाओं की आवश्यकता है। यह यथा संभव स्थानीय होनी चाहिये।

उधार के साधन

ग्रामीण-उधार प्रदान करने वाली संस्थायें निम्नांकित हैं:—

(१) ग्रामीण महाजन जिनमें जमींदार, किसान और पठान[६] भी सम्मिलित हैं।

(२ सहकारी समितियाँ जिनमें उधार-समितियाँ, भूमि बन्धक बैङ्क, बाजार समितियाँ और उत्पादक समितियाँ भी सम्मिलित हैं।

(३) बैङ्क।

(४) सरकार द्वारा प्रबन्धित और संचालित उधार-संस्थायें जिनमें भारतीय रिजर्व बैङ्क भी सम्मिलित है।

(५) राज्य।

ये समस्त साधन आलोचना के विषय बन चुके हैं। फिर भी ये सभी पुनः सुधारे या पुनः निर्माण किये जाने चाहिये जिससे भविष्य में कृषि-साख सुलभ हो सके। यह नहीं कहा जा सकता कि कितना कृषि-गत-उधार प्रदान करने की आवश्यकता है। विभिन्न प्रकार के साख की सीमाएं अनिश्चित हैं। इसके दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम, उत्पादन-व्यय के बजट प्राप्य नहीं है। द्वितीय, किसानों की ऋण की मात्रा का पता नहीं है।

यह आशा की जाती है कि किसानों के ऋण द्वितीय महायुद्ध और बाद के ऊँचे भावों के कारण कम हो गए हैं। यह सत्य है कि आँकड़ों के अभाव में वर्तमान ग्रामीण-कर्ज के सम्बन्ध में कोई पूर्ण उत्तर सम्भव नहीं है। मद्रास में इस प्रकार की एक खोज हुई थी जिससे ऐसा पता चलता है

---

[६] पठान केवल ग्रामीण क्षेत्रों में ही नहीं वरन् शहरी क्षेत्रों में भी एक बढ़ती हुई आफत हैं और उनकी कठोरता से उच्च पदाधिकारी भी परिचित हैं। वे महाजन और साहूकार की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से उधार देने को प्रस्तुत रहते हैं। जब वे रुपये वसूल करने आते हैं उस समय को छोड़ कर वे बहुत विनम्र और मिलनसार होते हैं। यह सत्य है कि उनके ब्याज की दर २ आना प्र० रु० प्रति मास के अनुसार पहले ही काट ली जाती है। इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना है कि उनको पूरे रुपये वापस नहीं मिलते। शायद आधे रुपये ही वसूल होते हैं।

कि जहाँ तक किसानों और भूमिहीन श्रमिकों का सम्बन्ध है, कर्ज-भार बढ़ गया है। जमीन्दारों और बड़े-बड़े किसानों और उन लोगों में भी जिनके पास बेचने के लिये[७] फसल बच जाती है कर्ज का भार घटने की ओर उन्मुख है। अस्तु सन् १६३६ की स्थिति से तुलना करने पर अनुमानित प्रादेशिक और प्रति व्यक्ति का कर्ज भार २०% घटा है।[८] यदि रुपये का निम्न मूल्य ध्यान में रक्खा जाय तो कर्ज का वास्तविक भार मद्रास में प्रायः १६३६ की स्थिति का एक चौथाई है।

यह एक अत्यन्त आकर्षक और उत्साहवर्धक स्थिति है। यदि शीघ्र ही तीन उपाय नहीं अपनाये जाते तो यह हल्का भार एक भारी भार में परिवर्तित हो जायगा। प्रथम, कृषि का अवस्था अभाव का अवस्था नहीं रहनी चाहिये। द्वितीय, किसान महाजन के हाथ शिकार न बन जाय। तृतीय, नवीन कर्ज ऐसे हों कि आमदनी से उन्हें चुकाया जा सके।

किन्तु यह उपाय केवल उन्हीं वर्गों के लिये अधिक उपयोगी है जिनका कर्ज-भार वास्तव में हल्का पड़ा है। जैसा मद्रास, कुछ यू० पी०, गुजरात[९]

---

[७] जाँच के द्वारा मद्रास में प्रत्येक वर्ग पर कर्ज का भार निम्नांकित है—

वर्ष	बड़े जमींदार	मध्यम वर्ग के जमी०	छोटे जमी०	किसान	भूमिहीन श्रमिक
१६२६	१५·४	४३·५	२४·२	५·४	१·४
१६४५	१०·८	४१·०	३८·७	७·०	२·५

वास्तविक कर्ज-भार छोटे जमीदारों में भी प्रायः १०% घटा है।

[८] मद्रास प्रान्त में १६३६-१६४५ के बीच ८५३० परिवारों के परीक्षण के आधार पर अनुमानित प्रादेशिक कर्ज २७२ करोड़ रुपये से २१ करोड़ रुपया हो गया है और प्रति व्यक्ति कर्ज[२] भार ५१ रुपये से घट कर ४०·८ रुपया हो गया है। यदि १६३६-४५ का अनुमानित उधार २७ करोड़ रुपये ? न जोड़ा जाय तो पूरी रकम २७२ करोड़ से १६१ करोड़ घट गई कही जा सकती है।

[९] युद्ध और ग्रामीण कर्ज—गुजरात में, द्वारा एम० बी० देसाई, इन्डियन जर्नल आफ एकनामिक्स, खंड २६ जुलाई १६४५ पृष्ठ १०१.

और बंगाल[१०] के अध्ययन से स्पष्ट है, यद्यपि कर्ज का अधिक हिस्सा मध्य वर्ग और छोटे जमींदारों के ही नाम हैं, जहाँ तक किसानों और कृषि-श्रमिकों का सम्बन्ध है उनका कर्ज-भार बढ़ गया है। जहाँ तक इन दो वर्गों का सम्बन्ध है इनका ग्रामीण जनता में $\frac{1}{4}-\frac{1}{3}$ का अनुपात है और समस्या का हल साख-सुविधा में नहीं वरन् रोजगारी सुविधाओं में निहित है।

कृषिगत-ऋण

कृषिगत ऋण की समस्या तथा कृषि साख के महत्व राज्यों का ध्यान गत अंतिम तीस वर्षों से आकर्षित करते रहे हैं। तब से रचनात्मक और नकारात्मक प्रयत्न किये गये हैं और उनको क्रियात्मक रूप दिया जाता रहा है। सकारात्मक प्रयत्नों के अन्तर्गत सहकारी साख समितियाँ, इन समितियों को अधिकाधिक सुविधायें, ग्रामीण महाजनों और ऋणदाताओं से सुविधात्मक सम्बन्ध, मितव्ययिता की आदत डालना और तकावी उधार की सुविधायें आती हैं। नकारात्मक प्रयत्नों के अन्तर्गत न्यायालयों को ऋण के मुकदमों को आद्योपांत सुनने का अधिकार दिया जाना, जो रकम अदा करनी है उसको कम करना और किश्तों में अदा करना,[११] भूमि के हस्तान्तरण पर नियन्त्रण,[१२]

[१०] "कृषिगत जनसंख्या" द्वारा शफ्तकुर रहमान, इन्डियन जर्नल आफ एकनामिक्स, खंड २६, जुलाई १९४६, पृष्ठ ५९।

[११] सिविल प्रोसीजर एक्ट और यूजूरियस लोन एक्ट के सुधार के अन्तर्गत अधिक ब्याज वाले ऋण कानून के अंतर्गत यह आवश्यक नहीं था कि सभी मामलों की जाँच की जाये, और न महाजनों की अधिक ब्याज की दर की ही परिभाषा की गई। कुछ प्रदेशों में, जिनमें यू० पी० भी शामिल है, महाजनी ऊँची ब्याज दर की परिभाषा करने का प्रयत्न किया गया और संशोधित एक्ट के अनुसार यह अनिवार्य कर दिया गया कि अदालत लेखा-जोखा की पूरी जाँच करे।

[१२] लैण्ड-एलाइनेशन ऐक्ट, इन्कमबर्ड इस्टेट ऐक्ट, रेगुलेशन आफ सेलस ऐक्ट और टेम्पूरेरी रेगुलेशन आफ एक्जीक्यूशन ऐक्ट के अन्तर्गत। पहले के अन्तर्गत गैर-किसान भूमि नहीं पा सकते जिसके परिणाम स्वरूप एक खेतिहर महाजनों के वर्ग का जन्म हुआ।

ब्याज की दर और कर्ज में कमी,[१३] और महाजनों के व्यापार[१४] पर नियन्त्रण गिने जा सकते हैं।

ये उपाय न पर्याप्त ही थे और न इनको उचित रूप से कार्यान्वित ही किया गया। साख-समितियाँ तो जान बूझकर परिस्थितियों की एक गलत विवेचना पर आधारित होकर पनपीं। ग्रामों पर बढ़ते कर्ज-भार का कारण सरकार की नीति और उसके परिणाम स्वरूप बढ़ती हुई निर्धनता है। कुछ हद तक उधार देने वालों की बेईमानी और कर्जदारों की आदतें और रीति रिवाज भी बिगड़ी स्थिति के कारण हैं।

कारण

यह सत्य है कि साम्राज्यवादी शोषण की नीति ने हमारे उद्योग को कुचल दिया और हमें उस आर्थिक पुनर्संस्थापन का अवसर न दिया जो सम्भवतः पाश्चात्य आर्थिक व्यवस्था के कारण करना पड़ता। इसने हमें निर्धनता की ओर अग्रसर किया। इसके साथ ही साथ जहाँ पहले शासक उधार देने वालों के प्रति उदासीन से थे, ब्रिटिश न्याय व्यवस्था ने, जो केन्द्रीयकरण पर आधारित है और जो घटना स्थल से मीलों दूर रहते हुये भी डिग्री देती है, उधार देने वालों के लिए खेतिहर कर्जदारों की भूमि और सम्पत्ति पर अधिकार जमाने का मार्ग (यदि वह दोषी ठहरते हैं तो)[१५] प्रशस्त कर दिया।

---

[१३] ऋण अदाएगी (रडम्पशन) एक्ट और ऋण-समझौता (डेट कंसिलियेशन) एक्ट के अन्तर्गत।

[१४] ऋणदाता नियन्त्रण (कन्ट्रोल आफ मनी लेन्डर्स) एक्ट के अन्तर्गत।

इस बात का उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि इस प्रकार के प्रादेशिक कानूनों में कोई एकता नहीं है। प्रत्येक प्रदेश में ये सभी एक्ट हैं भी नहीं, यथा, उत्तर प्रदेश में कोई ऋण-समझौता कानून नहीं है। अभी तक यहाँ महाजनों पर नियन्त्रण रखने वाला कोई कानून नहीं है। वास्तविकता यह है कि १६३६ में जब कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने इस्तीफा दिया था, तत्संबंधी सुधार विचारार्थ प्रस्तुत था।

[१५] डार्लिंङ्ग कृत "पंजाब के किसान—कर्ज और सम्पन्नता में" पुस्तक, पृष्ठ १७६-१८०।

पहले भूमि के हस्तान्तरण पर कोई नियंत्रण नहीं था। जब नियन्त्रण आया भी[१६] तब एक कृषक-महाजनों का वर्ग बन गया और एक बेनामी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ जिसके अन्तर्गत भूमि किसान के नाम पर खरीदी जाती और उसका लाभ गैर-किसानों को मिलता। राज्य का कोई नियन्त्रण न तो व्याज दर पर, न वापस की जाने वाली रकम पर, और न लेखा-जोखा रखने पर था। ऋणी स्वयं कुछ न कर सका। जब तक कोई मुकदमा न्यायालय में न लाया जाता न्याय लाचार था। इसी बीच ऊँचे करों, यातायात के सुधार और ऊँचे मूल्यों के कारण बढ़ते हुए भूमि-मूल्य ने अपढ़ किसान को निरन्तर उधार लेने और महाजन को स्वतन्त्रता के साथ (जब तक कि वह कर्जदार की भूमि को न हथिया ले) उधार देने की दिशा में प्रेरित किया।

लगान, किराया और राज्य द्वारा दिये गये कर्जों[१७] की रकम को (जो स्वयं अपर्याप्त और गलत तरीकों पर दिए जाते थे) राज्य ने कड़ाई के साथ वसूल करके इस परिस्थिति को और अधिक भयावह बनाने में सहायता की।

भूमि पर बढ़ती हुई जनसंख्या का भार, अकाल, फसल की अनिश्चित

---

[१६] देखिए भूमि बंधक कानून (लैन्ड एलाइनेशन एक्ट)। पंजाब में १९३८-३९ में बेनामी सौदों को कानूनन बन्द कर दिया गया था। साथ ही यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि कर्ज देने के तीन वर्ष बाद ही महाजन भूमि पर अधिकार कर सकते हैं।

[१७] दीर्घकालीन कर्ज १८८३ के भूमि सुधार-उधार एक्ट के अन्तर्गत और अल्प-कालीन कर्ज कृषि-गत उधार एक्ट के अन्तर्गत (१८८४) दिए जाते थे। जो उधार दिए जाते हैं वह एक करोड़ से अधिक नहीं हैं (देखिए एग्रीकलचरल एकनामिक्स सोसाइटी के चौथे अधिवेशन के कार्य विवरण पृ० १८६ से १८८)। माँगे उधार की रकम में अनाप-शनाप कमी कर दी जाती और वह भी बड़ी देर से मिलती है। अवैधानिक घूसखोरी अत्यधिक बढ़ गई है और यू० पी० बैंकिंग इन्क्वारी कमिटी के द्वारा अनुमानित वास्तविक व्याज दर कुछ मामलों में २५% तक है। यू० पी० में सन् १९३४ के सुधार के अन्तर्गत दीर्घकालीन ऋण पुराना कर्ज चुकाने के लिये भी दिए जा सकते हैं।

असफलता, अस्वस्थकर भोजन (फलतः दयनीय स्वास्थ्य) कृषि-गत कर्ज भार के भयावह फलों को अधिक तीव्र करते हैं। परिस्थिति को बिगाड़ने वाली अन्य शक्तियाँ ये हैं :—दार्शनिक दृष्टिकोण (नर्क का भय), पैतृक कर्ज स्वीकार करने की रीति, मुकदमेबाजी की आदत और सामाजिक व्यय।

अत्यधिक ऊँची व्याज दर, गलत लेखा, रसीदें न देना, कर्ज लेने वाले का सादे कागज पर अँगूठे का निशान लगवाकर मनमानी रकम लिख लेना आदि शक्तियाँ महाजनों की सहायक हैं।

उपाय

यह जान कर संतोष होता है कि सरकार ने इस प्रकार का आभास दिया है कि वह कृषिगत कर्ज और उधार की समस्या के हल की आवश्यकता को अनुभव करती है। शाही कृषि कमीशन, बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटियां आदि ने रचनात्मक सुझाव रक्खे हैं। किन्तु गम्भीर प्रयत्न लोकप्रिय मंत्रिमण्डल के आने तक नहीं हुये थे। इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उनके तुरन्त पूर्वगामियों ने उसी दिशा में कार्य करने की प्रवृत्ति दिखलाई। १९३०-३२ के आर्थिक मंदी के पश्चात्, उन्होंने इनकम्बर्ड स्टेट एक्ट[१८], बिक्री नियमन कानून (रेगुलेशन एक्ट)[१९] सेल्स-खाता नियमन (रेगुलेशन आफ एकाउन्ट्स) एक्ट[२०] अत्यधिक व्याजी ऋण (सुधार) कानून (यूज़रियस लोन्स अमेन्डमेन्ट एक्ट[२१]) अस्थायी कुर्की नियमन कानून (टेम्परेरी रेगुलेशन आफ एक्जीक्यूशन

---

[१८] यू० पी० में यह १९३४ म पास हुआ।

[१९] यू० पी० में यह १९३४ में कानून-पुस्तक में लिखा गया था।

[२०] सर्व प्रथम यह पंजाब में १९३० में बनाया गया। इसके अन्तर्गत नियमित हिसाब-किताब रखने और कर्जदार को प्रति-६ माह पर हिसाब किताब का ब्यौरा दिया जाया करे। ऐसा न करने पर, अदालत कभी कभी थोड़ा और कभी समस्त व्याज अस्वीकार कर सकती है, और अन्य खर्च भी। यू० पी० में ऐसा कोई एक्ट नहीं है।

[२१] यू० पी० सरकार ने १९३४ में यूजूरियस लोन्स ऐक्ट म सुधार किया।

एक्ट [२२]), कृषिगत राहत कानून (एग्रीकल्चरल डेट रिलीफ एक्ट) और ऋण समझौता कानून (डेट कन्सिलियेशन ऐक्ट[२३]) जैसे कानून बनाए।

लोकप्रिय सरकार द्वारा कर्ज-भार के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण नकारात्मक कदम उठाये गये हैं वह ऋण-चुकता कानून (डेट रेडम्पशन एक्ट), कृषिसाख नियमन कानून (रेगुलेशन आफ एग्रीकल्चरल क्रेडिट एक्ट) और महाजनी (नियमन रेगुलेशन आफ मनी लेंडिंग) एक्ट हैं। प्रथम एक्ट ने कुल रकम, जो अदा करनी है, उसको पूँजी के कुछ प्रतिशत तक कम कर दिया, जमानती और गैरजमानती ऋणों की अधिकतम ब्याज दर निर्धारित की और एक अधिकतम सीमा रेखा नियत कर दी जहाँ तक भूमि और खेती का उत्पादन ऋण अदा करने के लिए दिया जा सकता है। सहकारी समितियाँ और शेड्यूल्ड बैंक इस एक्ट के प्रस्तावों से मुक्त है। जब कि ऋण-चुकता कानून (यू० पी० १९४०) पिछले कर्ज से सम्बन्धित है, कृषि-साख नियमन एक्ट (यू० पी०) भविष्य के उधार से सबंधित है। उत्तर प्रदेश में द्वितीय एक्ट के अतर्गत कृषि-उत्पादन का केवल एक तिहाई ऋण की अदायगी में लिया जा सकता है। जहाँ तक भूमि का सम्बन्ध है एक ऐसा भाग जिसका लगान २५०) से अधिक न हो, अधिक से अधिक २० वर्ष तक गिरवी के रूप में महाजन के अधिकार में रह सकता है। सहकारी समितियाँ ऋण-चुकता कानून के सदृश इस एक्ट से मुक्त हैं। अच्छा होता कि भावी ऋण के लिए भी अधिकतम १०) ब्याज

---

[२२] एक्ट १९३४ में यू० पी० में लागू हुआ।

[२३] ऐसा कोई एक्ट यू० पी० में नहीं है। सी० पी० में सर्व प्रथम ऐसा एक्ट पास हुआ (१९३३ में)। कर्ज देने वालों और कर्ज लेने वाले दोनों के प्रतिनिधियों से बने हुये ऋण समझौता बोर्ड के जरिये स्वेच्छा से कर्ज़ कम करने का विधान किया। स्वेच्छा और राजी करने का ढंग विकास में सबसे बड़ा बाधक रहा है। किन्तु इससे भी बड़ी बाधा यह रही है कि शेष कर्ज को समाप्त करने की नीति राज्य और भूमि बन्धक बैंकों के द्वारा नहीं अपनायी गयी है। यदि ऐसा होता तो शेष ऋण कृषि कर्ज-दार से काफी लम्बे समय में भी धीरे धीरे वसूल किया जा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि इसकी वापसी पूँजी से होती है, कर्जदार की भविष्य की आय या क्षमता से नहीं।

दर नियत कर दी जाती और दम्दुपद का सिद्धान्त अपनाया जाय। इन दो कानूनों ने एक बार पुनः दो मूलभूत सिद्धान्तों को प्रमाणित किया है : (१) कर्जदार ऐसे बढ़ते हुये कर्ज-भार से ग्रसित न हो जो ऐसे कारणों से बढ़ा हो जिन पर कि उसका कोई अधिकार न हो ; (२) वेइमानी करने वाले दण्डित किये जाने चाहिये; (३) देनों के सभी संविदे और समझौते इस सामान्य और महत्वपूर्ण नियम के अन्तर्गत हों कि एक सुसंगठित समाज, जिसमें जीवन-यापन की सुरक्षा हो, कायम किया जाय।

तीसरे कानून द्वारा शेड्यूल्ड बैंक और सहकारी समितियों को छोड़कर सभी ऋणदाताओं के लिए यह अनिवार्य है कि वह प्रतिवर्ष एक लाइसेन्स लें। केवल लाइसेन्स प्राप्त लोग ही अपने कर्ज को अदा करने के लिये अदालत की मदद ले सकते हैं। उनको कायदे से हिसाब-किताब रखना पड़ेगा, प्रत्येक वर्ष का हिसाब-किताव कर्जदार को सूचित करना पड़ेगा, उचित फार्मों पर रसीद देनी होगी और लाइसेन्स खारिज किये जाने का खतरा उठाना पड़ेगा, कुछ मामलों में (यथा, धोखेबाजी, जान बूझकर भूल, अनुचित व्यवहार में) जुर्माना और कैद तक का भय है।

यह तीनों महत्वपूर्ण कानून समान रूप से अभी सारे भारत में नहीं अपनाये गये हैं। जिन प्रदेशों में यह लागू भी किये गये हैं वहाँ भी बहुत कुछ सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता है। अस्तु, उत्तर प्रदेश का ऋण-चुकता कानून खेतिहर कर्जदारों के लिए कई प्रकार के मुकदमे पैदा करता है। एक्ट ऐसा बनना चाहिए कि २० वर्ष की अवधि के बाद खेत स्वतः किसान को वापस हो जाय। कृषि साख नियमन कानून केवल अपरोक्ष रूप से किसान को प्राप्त होने वाले कर्ज की सीमा निर्धारित करता है। जो भूमि को बन्धक नहीं रखते या बिना स्वामित्व[२४] के बन्धक रखते हैं उनका शोषण से बचाने के लिये ब्याज दर और रकम निर्धारित करने की आवश्यकता है। इस प्रकार की व्यवस्था एक ऐसे एक्ट के अन्तर्गत की जा सकती है जो भविष्य में महाजनों को नियन्त्रित करने के लिये पास किया जाय।

---

[२४] जहां बन्धक भूमि का लगान और लाभ महाजन नहीं लेते।

इनके साथ ही साथ दिवालापन की सुविधाओं को किसानों को देने का प्रयत्न किया जा सकता है। इनसालवेन्सी एक्ट (१६२०) में इस प्रकार की व्यवस्था ५०० या इससे अधिक रुपयों के लिये, ऐसी दशा में लागू होती है जब कि इसको कार्यान्वित करने में विक्रय अधिकार पर कानूनी रोक न हो। कुछ प्रदेशों में (बंगाल, सी० पी० और पंजाब में) दिवालियेपन की व्यवस्था १६३० में ही की गई थी। अन्य प्रदेशों में कुछ भी नहीं किया गया, यद्यपि शाही कृषि कमीशन ने यह सुझाव दिया था कि यह सुविधा ५००) से कम रकम के लिए भी दी जाय।[२५]

---

[२५] यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कृषि वैत्तिक उपसमिति ने (जो गैडगिल समिति के नाम से प्रसिद्ध है) जो भारत सरकार द्वारा १६४४ में नियुक्त की गयी थी, निम्नांकित सुझाव दिए थे:—

(१) पुराने ऋण दो वर्ष के नियत समय में अवश्य ही व्यवस्थित हो जाने चाहिये।

(२) महाजन एक निश्चित समय में अपना रुपया वसूल कर लें। उसके बाद उन्हें किसी प्रकार का हक नहीं होगा।

(३) उसी प्रकार ऋणी अपनी सम्पत्ति और अपने उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य एक निश्चित तिथि तक पेश करें।

(४) ऋण कम करने में दम्दुपद (Damdupat) नियम लागू होना चाहिये। दम्दुपद का अर्थ है कि कुल अदायगी मूलधन के दुगने से अधिक न होगी, और न ब्याज की रकम पूँजी में मिलाई जा सकती है। इस सीमा के अंदर ऋणी का ऋण उसकी वर्तमान साधारण अदायगी-क्षमता तक कम किया जा सकता है। महाजन को यह २० वर्ष तक ४% ब्याज लगा कर मिलती रहेगी। या फिर ऋणी की अचल सम्पत्ति का ५०% देकर ऋण खारिज हो जायगा।

(५) ऋण की उचित रकम हिसाब-किताब को ध्यान से निरीक्षण करने के बाद नियत होनी चाहिये।

(६) जब उचित ऋण-क्षमता अदायगी या अचल सम्पत्ति के ५०% से एक लिखित अनुपात में अधिक हो तो कर्जदार दिवालिया घोषित किया जाय।

भावी उपाय

विभिन्न कानून में जो कृषिगत कर्ज-भार और उधार से सम्बद्ध हैं पिछले कुछ वर्षों से क्रियात्मक रूप में परिवर्तन किये गये हैं। द्वितीय महायुद्ध के कारण ऋणों को कम करने या नियंत्रित करने से सम्बन्धित कानूनों को लागू करने में बाधा पड़ी तब भी इसके पहले कि कुछ कदम इस दिशा में लिये जायं यह आवश्यक है कि परिस्थिति का सिंहावलोकन कर लिया जाय। प्राप्त अनुभव और वर्तमान ऋण परिस्थितियों को देखकर नए उपाय करने चाहिए।

जैसा कि पूर्वाभास कराया जा चुका है सैद्धान्तिक तर्क और प्रारम्भिक अध्ययन इस बात का संकेत करते हैं कि मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के जमींदार और अच्छी स्थिति के किसानों का कर्ज-भार पर्याप्त कम हुआ है। इन मामलों में बचे कर्ज का हिसाब-किताब महाजन की भ्रमात्मक कार्यवाही पर नहीं छोड़ देना चाहिये। इन कर्जों को निम्नलिखित कोई संस्था उठा ले, यथा, सरकार द्वारा संचालित एजेन्सियाँ (या अच्छा हो) सहकारी संगठन (जैसे सहकारी भूमि बन्धक बैङ्क[२६] अथवा ग्रामीण बहुउद्देशीय सहकारी समितियां)। इसके साथ ही

---

(७) दिवालिया की सम्पत्ति की यथाशीघ्र सरलतापूर्वक व्यवस्था करनी चाहिये। उससे रुपये खड़े करके यथासम्भव एक ही बार में महजन की अदायगी कर देनी चाहिये।

(८) हम समझते हैं कि प्रथम बार इस प्रकार की व्यवस्था केवल ऐसे ही मामलों मे होनी चाहिये जिन्होंने इसके लिये आवेदन पत्र दिया है। इसके अलावा 'सरल' और 'शीघ्र' व्यवस्था का यह डर है कि ऋणी की सम्पत्ति के कम पैसे खड़े हों। यह इस बात को और भी पुष्ट करता है कि कर्जदार को यह छूट हो कि वह अपने कर्ज को इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थित करावे या न करावे।

[२६] कृषि वित्त उपसमिति के अनुसार सहकारी भूमि बन्धक बैंकों को यह प्रथम हक होगा कि वे कम किए ऋण स्वयं ले लें। अन्य सभी मामलों में ऋण-भार सरकारी एजेन्सी द्वारा उठाया जाना चाहिये। यह उठाए ऋण २० वर्षों में किश्तों में वसूल किया जाए। सरकारी एजेन्सी से समिति का तात्पर्य कृषि-वैत्तिक निगम से था जिसकी स्थापना के लिए उसने सुझाव दिया था।

साथ प्रचार की और शिक्षा-प्रसार की भी अत्यधिक आवश्यकता है। यदि गांव वाले कानूनों की सुविधायें को जो उनको दी गई हैं समझ जायंगे तो हम उन्हें एक प्रभावशाली विरोध और महाजनों के सुधार के लिये उपयोग में ला सकते हैं।

सर्वप्रमुख उपाय आचरण-साख तथा व्यक्तिगत-साख हीन ग्रामीण, विशेषतः ग्रामीण श्रमिकों के लिये कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के रोजगारों का विकास करना है। इसके लिये और अन्य कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिये उचित उधार सम्बन्धी सुविधायें आवश्यक हैं। यह हमें पुनः भविष्य के उधार की एजेन्सी के प्रश्न पर वापस ले जाता है। औद्योगिक बैङ्क इस उद्देश्य के लिये उपयुक्त नहीं हैं, ऐसा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। यह सत्य है कि तकावी की सुविधाओं को विस्तृत कर दिया गया है किन्तु यह विपत्ति-काल के ही लिये हैं। सामान्य उधार के लिये आलसी और जटिल सरकारी प्रणाली किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं बैठती।

सरकारी बैङ्कों का मामला अधिक ध्यान की अपेक्षा रखता है। यह अन्य देशों में भी सफल हुये हैं और कम से कम एक योरोपीय देश (बलगेरिया) जहाँ की आर्थिक स्थिति भारतवर्ष की तरह की है वह सफल सिद्ध हो चुके हैं। परन्तु अन्य देशों में यह सफलता इतनी अधिक महत्व की नहीं है जैसे कि एक योरोपीय देश (बल्गेरिया) की है। सचमुच हमें और अधिक सबूतों की आवश्यकता है। कुछ भी हो यह तर्क रक्खा जा सकता है कि ये देश भारतवर्ष की तुलना में अत्यन्त छोटे हैं। दूसरे, बहुत सी सरकार द्वारा संचालित और सरकारी संस्थायें दीर्घकालीन दृष्टिकोण से अवाञ्छनीय हैं। सरकारी स्वामित्व और प्रबन्ध सरकारी अफसरों से एक ऊँची कर्तव्य-भावना और कम से कम नौकरशाही की बू की अपेक्षा करता है। इन शर्तों को पूरा करना कठिन है।

संस्था या व्यक्ति

सहकारी साख पर विचार करने से पूर्व एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लें: भविष्य में कृषि-साख की व्यवस्था व्यक्तियों द्वारा होना उचित है अथवा संस्था द्वारा। काफी समय तक व्यक्ति (महाजन) की प्रमुखता बनी

रहेगी। उसकी कार्यविधि में परिवर्तन लाने के लिए उसमें मानसिक और हृदय-परिवर्तन आवश्यक है। इसमें समय लगेगा। इस बीच किसान को वैत्तिक-सुविधा देने का कार्य अनिवार्यतया संस्थाओं के द्वारा करना होगा। अब हम केवल वित्त देने की ही बात नहीं सोचते वरन् वह सस्ते मूल्य पर हो और उसका सदुपयोग करने के लिए किसान को प्रशिक्षणादि की भी सुविधा मिले।

सहकारी साख

इस ५.६ लाख गांवों की भूमि में एक लाख से अधिक सहकारी उधार समितियाँ हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि एक समिति ५ गांवों (जिनकी जन-संख्या प्राय: ३००० व्यक्ति और जिनमें प्रायः ६०० परिवार होंगे) का भार लेगी, जो उचित नहीं है। पिछली सहकारी-उधार समितियाँ असफल रहीं। ऐसा केवल प्राय: कहे जाने वाले कारणों[२७] से ही नहीं, वरन् कुछ विशेष कुछ मूलभूत कारणों से हुआ। प्रथम जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है कि यह एक गलत विश्लेषण था कि कृषिगत-कर्ज भार और उधार की समस्या भारतीय कृषि की सब से महत्वपूर्ण समस्या है। हमारी सबसे प्रमुख समस्या उत्पादन और रोजी की थी, और अब भी है। दूसरी बात यह है कि सहकारी समितियाँ गांव के आदमियों से केवल एक मात्र उधार हेतु सम्बन्ध रखती थीं जब कि महाजन किसान के जीवन के कई पहलुओं में आता है। हमारे सौभाग्य से हमारा दृष्टिकोण बहुउद्देशीय सहकारी समितियों के पक्ष में होता जा रहा है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि सहकारिता का विकास बिना पूर्ण विवेचन और जनता में सहकारिता की शिक्षा के हुआ था। यह नहीं अनुभव किया जा रहा है कि सहकारिता तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक जो इसका प्रयोग करने वाले हैं वह इसका पूर्ण अर्थ, प्रयोग और महत्व नहीं

---

[२७] कुछ दोष ये हैं:—(१) असीमित उत्तरदायित्व (२) सदस्यों का अनुचित चुनाव (३) कार्य क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार (४) अपर्याप्त पूंजी (५) आन्तरिक झगड़े (६) सदस्यों में लगन का अभाव (७) अनुत्पादक कार्य और उपभोग के लिये उधार (८) कुछ थोड़े से अपने पक्ष वाले व्यक्तियों को ही उधार देना (९) ठीक समय पर अदायगी का न होना (१०) अपर्याप्त देख रेख।

समझते। अन्तिम कारण यह है कि यह आन्दोलन राज्य के द्वारा चलाया गया था जिसका देश विरोधी था।

भविष्य में, अल्पकालीन कृषिगत उधार बहुउद्देशीय समितियों द्वारा प्रदान किया जाना चाहिये जो यथासंभव स्थानीय स्रोतों से पूँजी एकत्र करें। उनकी शेष साख आवश्यकतायें केन्द्रीय सहकारी बैंक, प्रादेशिक सहकारी बैंक और रिजर्व बैंक द्वारा संतुष्ट की जानी चाहिये। समितियों द्वारा जो सेवाकार्य हो रहा है उसमें सुधार अवश्य होना चाहिये। कर्ज के आवेदन पत्र की प्राप्ति और कर्ज प्रदान के बीच के विलम्ब को जहाँ तक सम्भव हो कम कर देना चाहिये। यदि अल्पकाल में, नौकरशाही की देर कम नहीं हो जाती, तो खेतिहर किसानों की आवश्यकताओं का पहले से ही अनुमान लगा लिया जाय और एक सीमा तक अधिकारियों की पूर्व सम्मति ले ली जाया करे। तब जैसे ही कर्ज के लिये आवेदन पत्र प्राप्त होंगे, केन्द्रीय बैंक से रुपया थोड़े समय में निकाला जा सकेगा। गोदामों और बीज गृहों का शीघ्र ही विकास होना चाहिये। रिजर्व बैंक आफ इंडिया ने एक बिल का प्रस्ताव कियाा है जिसका लाइसेन्स प्राप्त गोदाम[२८] की व्यवस्था की गई है। यह प्रशंसा के योग्य है। अनेक युद्ध पश्चात् की योजनाओं के अन्तर्गत, प्रादेशिक सरकारों ने गोदामों के निर्माण में योग दिया है। यांत्रिक तथा वित्तिक सहायता देकर इस सम्बन्ध में मद्रास की निर्माण का आधा व्यय मुफ्त और शेष दीर्घकालीन कर्ज के रूप में अत्यन्त कम ब्याज दर पर देने की योजना सर्वोत्तम है। जैसा कि यू० पी० में ६३ वीं धारा की सरकार के अन्तर्गत प्रस्ताव हुआ था, प्रादेशिक सरकारें स्वयं अपने व्यय पर गोदाम निर्माण करावें और सहकारी समितियों को बिना मूल्य दे दें।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया कुछ कृषिगत कर्ज सम्बन्धी सुविधायें प्रादेशिक सहकारी बैंकों को और उनके द्वारा किसानों को देती है। १९४३ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने केन्द्रीय सहकारी बैंकों को फसली कृषि-कार्य और

---

[२८] कुछ वर्षों पहले रिजर्व बैंक आफ इंडिया की धारा १७ (४) (डी०) के शब्दों में उचित परिवर्तन की मांग की गई थी। (कृषि बिक्री संबंधी परिच्छेद देखिये)। यह अब हटा देनी चाहिये। अब तो यह मांग होनी चाहिये कि राज्य बीज-गृह और गोदाम के निर्माण के कार्य को बढ़ावें।

फसल की बिक्री हेतु उधार देने के लिए, वैत्तिक सहायता देने की एक योजना कार्यान्वित की। इसके अन्तर्गत प्रादेशिक सहकारी बैंकों को कम दर पर ऋण दिया जाता है। फसल की बिक्री के लिए जो प्रपत्र तथा बिल लिखे जायेंगे और जिनको प्रादेशिक सहकारी बैंक बट्टा करेगी उन पर रिजर्व बैंक अपनी दर से एक प्रतिशत कमदर पर पुनः बट्टा कर देगी। १९४४-४५ से यह सुविधा ऐसे बिल और प्रपत्रों (जो सामयिक कृषि सम्बन्धी कार्यों के व्यय की सहायता के लिये स्वीकृत होते हैं) के संबंध में भी दी जाती है। एक प्रयोगात्मक उपाय की दृष्टि से बैंक-दर को १½%, कम दिया गया है। यह रिजर्व बैंक आफ इंडिया के प्रशंसनीय कार्य हैं। अब यह सहकारी कार्यकर्त्ताओं का कर्त्तव्य है कि वे देखें कि केन्द्रीय सहकारी बैंक इन सुविधाओं का लाभ उठायें और प्रारम्भिक ग्राम समितियों को अधिक पूँजी पहुँचाए। जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, प्रारम्भिक समितियाँ बहुउद्देशीय होना चाहिये।

कोआपरेटिव प्लानिंग कमिटी ने दो महत्वपूर्ण सुझाव रक्खे थे। प्रथम, 'फसल' शब्द की परिभाषा रिजर्व बैंक आफ इंडिया के लिये पुनः की जाय और इसमें पशु पदार्थ, जैसे, मलाई, घी, दूध, मक्खन, ऊन, शक्कर और बिनौला निकाली दबाई हुई रूई को भी सम्मिलित किया जाय। द्वितीय पुनः बट्टा का अधिकाधिक समय '९० दिन' और '९ महीनों' से बढ़ा कर १२ महीने कर दिया जाय। इस परिच्छेद के प्रारम्भ में ही हमने भी ग्रामीण क्षेत्रों में खेती के अतिरिक्त अन्य रोजगारों की आवश्यकता पर जोर दिया था। अस्तु, रिजर्व बैंक आफ इंडिया एक्ट का सुधार करने की आवश्यकता है जिससे वह प्रादेशिक बैंकों द्वारा औद्योगिक सहकारी समितियां स्थापित कराने में योग दे सके।

कृषिवित्त निगम

कृषिगत-उधार के सम्भावित साधनों में राज्य-नियन्त्रित संस्थाओं का उल्लेख किया गया था। अभी तक यहाँ कोई ऐसी एजेन्सी नहीं थीं, यद्यपि कई प्रादेशिक सहकारी बैंकों के प्रबन्धक बोर्डों में सरकारी नुमायन्दे होते हैं जो एक प्रकार से उनके कार्य का नियन्त्रण करते हैं। कृषिवित्त उपसमिति ने राय दी थी कि प्रत्येक प्रदेश में स्वतंत्र कृषिवित्त निगम स्थापित किए जायँ।

ये राज्य के द्वारा स्थापित किए जायँगे और उनकी देख रेख और निर्देशन भी सामान्यतः सरकार ही करेगी। कम से कम आधी पूँजी राज्य द्वारा लगाई जायगी और शेष अन्य उधार देने वाली ऐसी संस्थाओं के लिये छोड़ दी जायगी, जैसे संयुक्त पूँजी वाले बैंक, सहकारी बैङ्क और बाजार सम्बन्धी संगठन। इस प्रकार के निगम सभी भाँति की दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन कृषिगत उधार का व्यवस्था करेंगे। कर्ज देने से पहले आवेदक की वास्तविक पूँजी और व्यक्तिगत व्यापार का विचार करना होगा[२९]। निगम प्रत्येक स्वंतत्र कृषि उत्पादक से, जो कर्ज के लिये प्रार्थना करता है, सम्बन्ध रक्खेगा। जहाँ बड़े किसानों से व्यवहृत सीधा सम्बन्ध सोचा गया है यह जोर दिया गया कि छोटे किसानों को सहकारी समितियों और कर्ज लेने वालों के संगठनों द्वारा सहायता प्रदान करने की यथासंभव चेष्टा की जाय। समिति यह स्वीकार करती है कि उधार लेने वालों का संगठन अनेक कठिनाइयों से भरा और अनेक शब्दों में उसने उत्पादक ऋण, विक्रय समितियों के लिये अपनी रुचि प्रकट की है। निगम स्थानीय एजेन्सियों और उप एजेन्सियों के द्वारा कार्य करेगा और स्पष्टतः कमेटी का अधिकारियों, कर्मचारियों और मुख्तारों पर विश्वास नहीं है, क्योंकि कमेटी ने यह कहा है कि कर्ज चाहने वालों के संगठन उनके ऊपर एक निरीक्षक की तरह आवश्यक हैं। कमेटी यह भी समझती है कि स्पष्टतः एक सरकारी निगम जो एजेन्सियों और उप एजेन्सियों द्वारा कार्य करता है लोगों के आचरण को द्रव्य में नहीं बदल सकता जैसा कि सहकारी साख-समिति (और वह भी विशेषतः सीमित उत्तरदायित्व वाला) करती हैं। कृषि-साख निगम से अपेक्षित लाभों के मार्ग में यह एक बहुत बड़ा रोड़ा है। ये निगम अधिकांश किसानों को (जिनके पास न जमीन जायदाद रहती है और न व्यक्तिगत साख) कोई लाभ न पहुँचा सकेगी। इसके अतिरिक्त निगम के छोटे अफ़सर और कर्मचारियों की

[२९] समिति ने स्थान स्थान पर 'व्यक्तिगत साख' का प्रयोग किया है। इससे स्पष्टतः उनका अर्थ चालू व्यक्तिगत आय से है जो व्यक्तिगत व्यापार पर निर्भर है। व्यक्तिगत-साख आचरण-साख (Character Credit) से, जिसे सहकारी समितियां देती हैं, भिन्न है।

करतूतों पर निगाह रखनी पड़ेगी। यह भी उल्लेखनीय है कि समिति के सुझाव के अनुसार सरकारी सहायता के दो मुख्य रूप ये होंगे :– (i) सरकारी धन का निःशुल्क उपयोग किया जा सकेगा तथा (ii) नियम के व्यवस्था, निरीक्षण, संचालन आदि पदों के व्यय को सरकार वहन करेगी।

निगम सहकारी समितियों के गैर सदस्यों को भी उधार देंगे। ये उधार सहकारी समितियों के द्वारा ही दिए जायेंगे और यह बात सहकारी सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ेगी। इसके अतिरिक्त वे कर्ज लेनेवालों के समूहों को भी सीधे कर्ज देंगे। यह आशा की जाती है कि ये ऋणी-समूह धीरे धीरे सहकारी समिति का रूप ले लेंगे। दूसरे शब्दों में वित्त निगम प्रादेशिक और जिला सहकारी बैंकों की श्रेणी के हैं किन्तु वे ऐसे गैर सदस्यों को भी उधार की सुविधा दे सकेंगे जिनके पास वास्तविक पूँजी और व्यक्तिगत साख हैं। हमारे विचार में केवल यही एक सुविधा है जो सरकारी धन, निर्देशन, निरीक्षण और नियन्त्रण के मूल्य पर प्राप्त होगी। हम समझते हैं कि अगर राज्य और अधिक साहसी बने और ऐसी ही सुविधायें सहकारिता आन्दोलन को प्रदान करें तो अधिक लाभ होगा। हम यहाँ सहकारी योजना समिति के एक अन्तिम तर्क का भी उल्लेख कर दें:—एक कृषि-साख निगम, जो अपने संचालन में ऋण लेने वालों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं प्रदान करता, महाजनों के हित में संचालित होगा।[३०]

---

[३०] सहकारी योजना समिति के अन्य विरोध निम्नांकित हैं :–

(क) इन सुझावों को क्रियात्मक रूप देने में समय लगेगा।

(ख) कृषिवित्त निगम में जो सहकारी समितियों द्वारा भी कार्य करेंगे प्रादेशिक सहकारी बैंकों का वह अनुभव न होगा जो उन्होंने बहुत दिनों से कार्य करने पर प्राप्त कर लिया है।

(ग) गाडगिल कमेटी की चिन्तायें समाप्त हो जायंगी यदि प्रादेशिक सरकार सहकारी समितियों की संख्या और कार्यों को बढ़ाने के लिये सहकारी योजना समिति के सुझाव मान लेंगी। राष्ट्रीय योजना समिति ने अपनी ग्रामीण और बिक्री तथा वित्त संबंधी रिपोर्ट में कहा है राज्य से सहायता प्राप्त बैंक तथा सहकारी समितियों की आवश्यकता है। विशेषतः दीर्घकालीन साख

ग्रामीण महाजन

जहाँ तक ग्रामीण महाजनों का सम्बन्ध है रिजर्व बैंक का दृष्टिकोण यह है कि वे प्रथम अपना सुधार करें। जैसा कि देखा जा चुका है, कुछ प्रादेशिक सरकार इन महाजनों को सुधारने के लिए कानून बना रही हैं। महाजनों के कार्यों को नियन्त्रित करने वाले कानूनों का अधिक प्रचार किया जाना चाहिए। तब भी अब रिजर्व बैंक को आगे कदम उठाना चाहिये और शेड्यूल्ड बैंक के द्वारा कुछ साख सम्बन्धी सुविधायें महाजनों के संघ को प्रदान करनी चाहिए।

प्रथम शेड्यूल्ड बैंक से यह कहा जा सकता है कि वे महाजनों द्वारा प्रस्तुत विनिमयपत्र और प्रणपत्र के बट्टा दर कम करें। वे अपनी दर में जितनी छूट देंगी उतनी ही छूट पर वे उन पत्रों की रिजर्व बैंक से बट्टा करा सकती हैं। ये विनिमयपत्र और बिल फसल की बिक्री या मौसमी कृषि कार्य के लिए होने चाहिए। दूसरी सुविधा यह दी जा सकती है कि विनिमयपत्र और प्रणपत्र केवल लाइसेन्स प्राप्त महाजनों द्वारा लिखे और स्वीकृत किए जा सकते हैं। यह भलीभाँति ज्ञात है कि कृषिगत ऋण का अधिक भाग ऐसे व्यक्तियों द्वारा दिया जाता है जो विक्रेता भी होते हैं। उनके कार्य में सुधार करने का सबसे अच्छा उपाय बहुउद्देशीय सहकारी समितियों को प्रोत्साहित करना और दृढ़ बनाना है।

दीर्घकालीन साख

दीर्घकालीन साख की समस्या पर विचार करना अभी शेष ही है। यह सच है कि निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर हमारे पास एक प्रकार से हैं ही नहीं :—

कृषिगत ऋण का कितना अंश रेहन पर लिया गया है? ऋण को चुकाने की क्षमता का दीर्घकालीन ऋण से अनुपात क्या है? रेहन पर प्राप्त

के लिये यह ठीक समझा गया कि सहकारी भूमिबन्धक बैंकों के अतिरिक्त सरकारी या सरकार से सहायता प्राप्त बैंक खोले जायँ। अल्पकालीन ऋण के लिये उन्होंने यह कहा कि खेत में खड़ी और कटी फसलों को गिरवी रखकर ऋण दिया जाय तथा गोदाम (Warehouse) बनाये जायँ जिनके द्वारा दी हुई रसीदों को गिरवी रखकर भी ऋण मिल सके।

ऋणों का कितना अंश प्रति वर्ष चुकाया जाता है ? रेहन का ऋण इन विभिन्न (१) इस तरह के साख साधनों, यथा, व्यक्ति, व्यापारिक बैंक, सहकारी समितियाँ तथा सरकार और (२) ऋण लेने वालों के वर्ग में—किस तरह वितरित है ?

ऐसा कहा जा सकता है कि इन प्रश्नों का औचित्य ऐसी दशा में है जहाँ पर कृषि एक लाभप्रद व्यवसाय है तथा साख के एक बड़े भाग की पूर्त्ति प्रत्येक साधन द्वारा होती है। भारत में कृषि-साख का अधिकांश (रेहन की साख समेत) व्यक्ति द्वारा दिया जाता है। सन् १६४५-४६ में सहकारी भूमि बंधक ऋण की मात्रा केवल ३·३ करोड़ रुपए थी। सहकारी भूमिबन्धक बैंकों द्वारा पुराने ऋणों की अदाएगी के लिए सहायता देने की नीति की आलोचना हो चुकी है। पुराने ऋणों को कम दर पर पलटने की नीति वांछनीय है। विशेषतया यदि कानून द्वारा ऋणों की बाध्य रूप से कमी और भुगतान करना पड़े तो यह उचित होगा कि भूमिबन्धक बैंक घटे हुए ऋणों को अपने हाथों में लें। इन्हें वसूल करने के लिए खेत से होने वाली कमाई पर उनका अधिकार सर्व प्रथम हो। आजकल तो भूमि सुधार, कुओं खोदने आदि उत्पादक कार्यों के लिए भूमि बंधक बैंकों से किसानों का ऋण मिलना चाहिए। परन्तु भूमि की क्षमता पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए तथा यह भी देखना चाहिए कि कर्जदार कहाँ तक ऋण-धन अदा करने की क्षमता रखता है। यदि कर्ज चुकाने की क्षमता के अनुपात से अधिक ऋण दिया जायगा तो ऋण अदा नहीं किया जा सकता। इसके परिणाम खतरनाक हो सकते हैं। संभव है कि कर्जदार भूमि के सुधार तथा उर्वराशक्ति के ह्रास पर कम ध्यान दे। वह ऐसी फसल योजना चालू कर सकता है जिससे भूमि का अनुचित प्रयोग हो। इसलिए अमरीका के कुछ भूमिबन्धक बैंकों में यह नियम है कि रेहननामा में यह स्पष्ट कर देते हैं कि भूमि में कौनसी फसल योजना चलाई जा सकती है। भारत में यह वांछनीय प्रतीत होता है कि भूमिबन्धक बैंक द्वारा इस प्रकार की भूमि विकास योजनाओं को आर्थिक सहायता दी जाए जैसे खेतों की चकबन्दी, मेंड़ बनाना, खुदाई, कुएँ खोदने तथा मूल्यवान कृषि मशीनों का क्रय।

भूमिबन्धक बैंक

भूमिबन्धक बैंक का भारतीय इतिहास विशेष रूप से मद्रास के आन्दोलन का इतिहास है। इसके पश्चात् इसका अनुकरण बम्बई, म० प्र० तथा पंजाब में हुआ। रेहन-कोष को संचित करने के लिए नकद धन जमा करने के स्थान पर बान्ड तथा डिबेन्चर की प्रणाली अधिक वांछनीय हैं। फिर भी केवल मद्रास तथा बम्बई में ही डिबेन्चर प्रणाली को प्रयोग में लाया गया है। अन्य प्रदेशों में नकद धन-जमा प्रणाली पर ही काम हुआ है।

'अच्छी भावना तथा विश्वास' की कमी से अधिक कठिनाई उत्पन्न हुई है। भूमिबन्धक बैंकों के संघ न होने तथा प्रादेशिक सरकार द्वारा इन बैंकों के मूलधन तथा सूद के वसूली की गारंटी न करने की नीति के कारण, भूमिबन्धक समितियों को धनाभाव की कठिनाई का सामना करना पड़ा है। यद्यपि उधार के समंकों से यह पता चला है कि संचित धन की मात्रा दिए गए ऋण से अधिक थी। रिजर्व बैङ्क द्वारा भी रूढ़िवादी कड़ी नीति का व्यवहार में पालन किया गया है। यह सच है कि आपत्तिकाल में ही आवश्यकतानुसार केन्द्रीय बैङ्क सामान्य तथा सक्रिय सहायता प्रदान करते हैं। भारत में ऐसी स्थिति दीर्घकाल से वर्तमान रही है तथा ऐसा प्रतीत होता था कि रिजर्व बैङ्क इस आपत्तिकाल के अन्तर्गत एक और आपत्तिकाल की प्रतीक्षा करता रहा। यह बुलेटिनों तथा विज्ञप्तियों में निर्धारित परामर्श तथा नियमों के बाहर अधिक आगे बढ़ सकता था। यह प्रादेशिक सरकारों को आदेश दे सकता था कि वे डिबेन्चर के मूलधन तथा ब्याज की गारंटी करें। रिजर्व बैङ्क स्वयं रिजर्व बैङ्क एक्ट के १७ (४) उपधारा के अनुसार ऐसे डिबेन्चरों की गारंटी अमानत के रूप में दे सकता था। समय समय पर यह स्पष्ट करने के लिए प्रयास किया जाता रहा है कि डिबेन्चरों की विक्रय-क्षमता इस पर निर्भर रहती है कि उनका आधार कहाँ तक सुदृढ़ है तथा जनता के बीच उनकी साख कितनी है। परन्तु इस समय अन्य नई शक्तियों के अतिरिक्त प्रादेशिक सरकार तथा रिज़र्व बैङ्क द्वारा प्राप्त सहायता अधिक लाभप्रद होगी।

राजकीय बैङ्क

रिजर्व बैंक तथा प्रादेशिक सरकारों की असफलता के कारण जनता

द्वारा अधिक माँगें हो रही हैं। यह सुझाव पेश किया जाता है कि सरकार सहकारी विभागों के द्वारा दीर्घकालीन वित्त प्रदान करे। कृषिवित्त उपसमिति (Agricultural Finance Sub-Committee) चाहती है कि सरकार द्वारा भूमिबन्धक बैङ्कों को आर्थिक सहायता दी जाय।[३१] सरकार संबंधी रेहन अर्थ व्यवस्था सरलता से कर सकती है। जहाँ पर सहकारी भूमिबंधक बैंक है तथा सुचारु रूप से काम कर रही है, यह वांछनीय है इसको प्रोत्साहन दिया जाय। इससे एक कदम आगे भी बढ़ा जा सकता है। चूँकि जन-तंत्रात्मक नियंत्रण सरकारी नियंत्रण से अधिक वांछनीय है, दीर्घकालीन ऋण कम से कम दस वर्ष पुरानी तथा अ[३२] और ब[३३] श्रेणी की साख समितियों द्वारा दी जा सकती है। हम यह सुझाव देंगे कि सरकार द्वारा गारंटी की माँग पूरी होनी चाहिए तथा प्रादेशिक सहकारी बैंकों के डिबेंचरों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है : दीर्घकालीन साख के लिए क्या एक दूसरी संस्था का निर्माण नहीं होना चाहिए ? मैं सोचता हूँ नहीं। जहाँ पर एक प्रादेशिक बैंक वर्तमान है वह एक अन्य विशेष विभाग खोलकर दीर्घकालीन साख के कार्य-भार

---

[३१] समिति ने लिखा है कि उनको वर्तमान समय में प्राप्त सरकारी सहायता जारी रहनी चाहिये तथा जहाँ आवश्यक हो इस दिशा में उदारता की नीति पर चलना चाहिये। सरकार द्वारा भूमिबंधक बैंकों को इतनी आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए कि वे किसानों को ४% से या उसके कम दर पर ऋण दे सकें।

[३२] सामान्य रूप से, एक समिति को 'अ' श्रेणी में तब रखा जाता है जब वह सचमुच अच्छी है; सहकारिता सिद्धांत के आधार पर काम करती है; जिसकी आर्थिक दशा सुदृढ़ है अर्थात् केवल वार्षिक लेखा जाँच के अतिरिक्त बाहरी सहायता नहीं चाहती तथा जो अन्य सहकारी समितियों के लिए आदर्श है।

[३३] वह समिति 'ब' श्रेणी में आती है जो कि सामान्यतः सुदृढ़ अवस्था में है और अपनी समस्याओं को स्वयं हल कर लेती है। परन्तु सहकारिता भाव तथा शिक्षा के क्षेत्र में यह अपूर्ण हो सकती है।

को उचित रूप से वहन कर सकता है। इसी तरह की व्यवस्था प्राथमिक समितियों में भी होनी चाहिए। ऐसा करने से संचालन की कठिनाई भी कम रहेगी।

भूमिबन्धक बैंक का लक्ष्य यह है कि वह कम व्याज की दर पर ऋण प्रदान करे। यह लक्ष्य-प्राप्ति दो बातों पर विशेष निर्भर है : (i) उधार की दर तथा (ii) उधार लेने और ऋण देने की दरों में कानूनी अन्तर। यद्यपि मद्रास में धन का संचय २·७५% दर पर किया गया है, ऋण देने की दर लगभग ६% है क्योंकि सरकार द्वारा निर्धारित अंतर ३% है। यदि भूमि-बन्धक बैंक सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं, यदि उनका लाभ पर्याप्त है तथा यदि बैंक निर्धारित अंतर कमी करने की माँग करते हैं तो अंतर कम करने की स्वीकृति मिलनी चाहिए। आजकल जब सस्ती मुद्रा-नीति वर्तमान है, रेहन-साख पर प्राप्त सूद की दर ४% होनी चाहिए।[३४]

ऋणों की स्वीकृति में जो अनावश्यक विलम्ब होता है उसको भी कम करना चाहिए। जब ऋण के लिए जमीन का रेहन प्राप्त हो तो यह अनावश्यक है कि दो सदस्यों का जमानत माँगा जाय। परन्तु इन जमानतों से यह लाभ है कि सहकारी समिति के दो सदस्य ऋणों पर निगाह रक्खेंगे। यदि दो जमानतें प्राप्त करने में कठिनाई हो तो यह समझना चाहिए कि सहकारी-संबंध ढीले हैं। तब उच्च जीवन स्तर, आन्दोलन सहकारी तथा शिक्षा और अन्य प्रकार से सहकारी संबंध को गहरा करने के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए। यह वांछनीय नहीं है कि ऋण-लेने वाले के के लिए ही समिति की सदस्यता सीमित रक्खी जाय। यह अच्छी नीति नहीं है कि किसी सदस्य के ऋण के भुगतान के पश्चात् उसकी सदस्यता समाप्त कर दी जाय। यदि ऋण न लेने वाले समिति में वर्तमान रहें तो शासन सुचारु रूप से नियंत्रित रहता है। इसी प्रकार यह उचित नहीं कि पहले साल के अन्त में ही ऋण की किश्तों की मांग की जाय, भले ही दिए गए ऋण के उपयोग से शीघ्र कुछ समय बाद (वर्षों बाद) आय प्राप्त हो।

---

३४. कृषि-वित्त उपसमिति ने स्वीकार किया कि किसानों को दीर्घकालीन भूमिबंधक ऋण ४% से अधिक सूद के दर पर नहीं दिया जाना चाहिए।

भूमिबन्धक बैङ्क विकास तथा सुधार के लिए दीर्घकालीन ऋण देने में सफल नहीं हुये हैं। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के विकास के लिए वित्त ही पर्याप्त नहीं है। किसान को कृषि-कला विषयक नए ज्ञान से भी परिचित कराना चाहिए तथा उसको कृषि-विकास और गृह-निर्माण की सुविधाएँ दी जानी चाहिए। इसलिए जबतक कि विभिन्न विकास विभाग, यथा, कृषि, पशु-चिकित्सा, जन-निर्माण तथा सहकारी विभाग मिलकर योजनाओं की रूप-रेखा का निर्माण नहीं करेंगे तथा विभिन्न लाभप्रद विभागों का सम्मिलित प्रयत्न न होगा ग्रामीण जनता दीर्घकालीन अर्थ-सहायता से लाभ प्राप्त न कर सकेगी। यदि सहकारी दुग्ध शालाएँ, उत्पादन समितियाँ आदि भूमि, मकान तथा मशीनरी रेहन में दे सकें तो उनको दीर्घकालीन ऋण देने का कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

कृषि और पूँजी-निर्माण

कृषि साख की आवश्यकता घटाने तथा उसकी सुविधा बढाने के लिए कृषि के क्षेत्र में अधिक पूँजी-निर्माण होना वांछनीय है। युद्धकाल में और उसके बाद भी यह कहा गया कि प्राथमिक क्षेत्र (Primary Sector) में राष्ट्रीय आय का अधिक प्रतिशत है। यह भी कहा गया कि कृषकों की बचत बढ़ गई है और पूँजी-वृद्धि की दृष्टि से इस बचत को विनियोग हेतु प्राप्त करना चाहिए। लोकतंत्रीय शासन में इस बचत का किसी प्रकार से अनिवार्य या बाध्यता से नहीं एकत्र करना चाहते।

पूँजी-निर्माण की प्रगति का अध्ययन करने और उसको बढ़ाने के लिए उपाय करना कठिन है। डाक्टर नारायण स्वामी नायडू के मद्रास संबंधी निष्कर्ष का समर्थन ग्रामीण बैंकिंग खोज समिति ने भी किया था अर्थात् कृषि-श्रमिक और किसान की हालत बुरी है और बड़े किसान और जमींदार पर्याप्त बचत कर रहे हैं। पिछले पांच वर्षों में यह परिस्थिति भी नहीं शेष रही है। विभिन्न प्रदेशों में जमींदारी उन्मूलन कार्यों ने इन "बड़ों" की बचत-क्षमता पर कुठाराघात किया है। हमारे योजना-आयोग तथा प्रादेशिक राज्यों की प्रवृत्ति "खेत के अधिकतम क्षेत्र" को निर्धारित करने की है। इससे देहातों में विषमता घटेगी। विषमता घटने पर बचत-क्षमता भी घटेगी। निम्न वर्ग के लोगों की, जो उच्च आर्थिक-स्तर पर आएंगे, उपभोग-प्रवृत्ति (propensity

to consume) अधिक होगा। अतः उनकी अधिक आय से बचत नहीं बढ़ेगी। बचत वृद्धि का एक ही सर्वोत्तम हल यह है कि कृषक स्वेच्छा से बचत करें। यह तभी हो सकता है जब उनके चतुर्दिक वातावरण के लोग तथा नेतागण अपने उदाहरण द्वारा कृषकों को उपभोग-प्रवृत्ति कम रखने के लिए प्रेरित करें। क्योंकि गरीब मनुष्य की तेजी से लाभ करने की इच्छा तीव्र होती है अतः अधिक ब्याज दर पर पोस्ट आफिस के बचत सार्टीफिकेट तथा लाटरी उपाय स्वरूप सुझाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि उनके ही गांवों को लाभ पहुचाने वाली योजनाओं के लिए ऋण लिए जाएं तब भी सफलता अधिक मिलती है। मद्रास में मनिमूथर तथा अमरावथी योजनाओं के लिए स्थानीय दाताओं से आवश्यकता से अधिक ऋण प्राप्त हो चुका है। योजना आयोग इस घटना से परिचित है और इस सिद्धांत को ध्यान में रखता है।

तब भी यह ध्यान रहे कि गरीबी तथा ठहर-कर फसल बेचने की क्षमता के अभाव में कृषकों का दशमाश ही ऐसा निकलेगा जो बचत कर सकता है। अतः पूँजी-निर्माण-वृद्धि हेतु कृषि की उत्पादकता बढ़ानी चाहिए तथा कृषि के भावों का उपयुक्त स्थायीकरण करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय कृषि साख कान्फ्रेंस

अध्याय के आरम्भ में उक्त कान्फ्रेन्स का उल्लेख किया गया था। उसके कुछ सुझाव विचारपूर्ण हैं। कान्फ्रेन्स के अनुसार शैक्षिक वातावरण सुधारने के लिए प्राइमरी शिक्षा में कृषि साख सम्बन्धी पाठ रखने, कृषि साख से सम्बन्धित व्यक्तियों का क्षेत्रीय विनिमय तथा क्षेत्रीय कान्फ्रेन्स समय समय पर की जाय। द्वितीय, अज्ञात संकटों के समय तथा दस या अधिक वर्षीय ऋण हेतु अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण तथा विकास बैङ्क और निर्यात-आयात बैङ्क द्वारा अविकसित देश के राज्यों को ऋण मिलना चाहिए। तृतीय, देश में कृषि पदार्थों पर लगाए जाने वाले निर्यात-कर और चुंगी का एक अंश कृषि-विकास हेतु अलग किया जाए। चतुर्थ, दीर्घ तथा मध्यमकालीन ऋणों के लिए वित्त व्यवस्था करने के लिए वित्त-निगम स्थापित किए जायँ और राज्य को मध्यस्थ बना कर वे विदेशों से पूंजी प्राप्त करें। पंचम, साख समितियों और बैङ्कों में प्राइवेट संस्थाएं अपनी पूंजी लगाएँ इस हेतु व्यवस्था

करनी चाहिए। (यथा, राज्य ग्रामीण स्कूलों आदि की पूंजी के सुरक्षा की जिम्मेदारी स्वयं उठा ले)। षष्ठम, कृषकों के भूमि-अधिकार बढ़ा दिए जायँ, उनकी चल-पूंजी की रजिस्ट्री करने का तथा संकलन गृह (Warehouse) की व्यवस्था की जाय। सप्तम, निरीक्षित साख संस्थाएं (Supervised Credit Institutions) स्थापित की जायँ क्योंकि निरीक्षित-साख द्वारा कृषि-उत्पादन में सुधार अवश्य होता है।

परिच्छेद सात

आदर्श भूमि व्यवस्था

आदर्श भूमि व्यवस्था कैसी हो जिसके अन्तर्गत किसानों को भूमि पर खेती करने की स्वीकृति दी जाए ? प्रारम्भ में ही यह समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्र के लक्ष्य हैं अधिक निश्चयात्मकता, अधिक क्षमता, अधिक आमदनी तथा अधिक समता। इसके अतिरिक्त कुछ लोग इसकी माँग कर सकते हैं कि राष्ट्रीय आय में किसानों तथा गैर किसानों के योग में एक ही अनुपात से घटबढ़ होनी चाहिए, या कम से कम किसान भूमि का अधिकतम उत्पादन-उपयोग कर सके। परन्तु यह वर्तमान अर्थव्यवस्था में सम्भव नहीं है क्योंकि हम अधिक से अधिक औद्योगीकरण की नीति पर निरन्तर चल रहे हैं। चाहे जितना भी मशीनीकरण के पक्ष में कहा जाय— कृषि के मशीनीकरण के संबन्ध में भी—कई देशों में इसके प्रयोग का अनुभव यह बतलाता है कि यह नीति कृषि को प्रवैगिक स्थिरता (Dynamic Stability) कम प्रदान करती है। ग्रामीण-क्षेत्र तथा नगर-क्षेत्रों के विकास के बीच समय के अतिरिक्त चार अन्य निम्नांकित प्रतिकूल कारण हैं:—

प्रथम, ऐसे किसान जो कि अपेक्षतया अन्य लोगों से कुशल और अच्छे हैं तथा जो कि ग्रामीण क्षेत्र को विकसित कर सकते हैं शहरों में अबाध रूप से आकर रहने लगते हैं। इस दिशा में यह कहा जा सकता है कि भारत में इसकी माँग है कि शिक्षित लोगों को गाँव में जमीन पर बसाया जाय। कम से कम वे पढ़े लिखे लोग जो गाँव से आते हैं फिर गाँव में लौटकर अपने जीवन का भावी कार्यक्रम बनाएँ। शहरों का तड़क-भड़क वाला जीवन ही विशेष आकर्षण पैदा करता है। कम से कम भारत में यही अवस्था है। दीर्घकाल के दृष्टिकोण से ग्रामीण क्षेत्र से शहर की ओर जाने वाले इस जन-प्रवाह को रोकना ठीक नहीं। सचमुच ही ऐसी धारणा है कि दीर्घकाल में नगरों की जनता पतनशील हो जाती है तथा यह गाँव से आया हुआ जन-प्रवाह ही शहर की जनता में नवीन रक्त का संचार करता है। भारत में इसकी अत्यधिक आवश्यकता है कि शिक्षित लोग ग्रामीण पुनर्निमाण में अधिक

भाग लें। अंत में ग्रामीण जनता को शिक्षित करना ही पड़ेगा तथा जब वहाँ भी सुख के साधन प्रस्तुत होने लगेंगे तो लोगों का शहरों के प्रति असाधारण और अस्वाभाविक आकर्षण कम हो जायगा।

द्वितीय, कृषक-स्वामित्व (किसानों का जमीन पर अधिकार) भूमि पर कम होता जा रहा है क्योंकि समाज का धनी वर्ग विशेषकर नगर निवासी तथा गैर-किसान महाजन-द्वारा जमीन अधिकृत होती जा रही है। अमरीका ऐसे देश में यह धनी वर्ग शहर में अत्यधिक धनोपार्जन करते हैं परन्तु भारत में लोग गाँव से कुछ धन के साथ शहर आते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि किसानों को—जन्म से ही असमान धन-प्राप्ति तथा शिक्षा और प्रशिक्षण की असमान सुविधा के कारण-उन्नति के लिए समान अवसर नहीं मिलता। जो व्यक्ति अधिक अच्छी दशा में पैदा हुए और पले हैं, सामान्यतः वे केवल अच्छी तरह रोजगार ही नहीं प्राप्त करते हैं परन्तु वे अधिक पैसा भी बचाते हैं। यद्यपि यह सच है कि एक दी हुई निश्चित आमदनी में से ग्रामीण अपेक्षतया अपने शहरी भाई से अधिक पैसा बचत के रूप में जमा कर सकता है, परन्तु दोनों की आमदनी की मात्रा में अधिक अन्तर के कारण परिणाम उलटा होता है। आमदनी में अधिक असमानता का परिणाम असमान बचत भी होती है। जैसा कि सं० रा० अ० में देखा जा चुका है अधिक बचत वाले मनुष्य शीघ्रता से अधिक जमीन खरीदते हैं। फार्म सिक्योरिटी एडमिनिस्ट्रेशन (Farm Security Administration) का अनुभव है कि जहां चार वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद लगभग ३०,००० किसान भूमि के स्वामी हो पाते हैं, इस बीच लगभग ३३०,००० किसान (अन्न के हिस्सेदारों को छोड़कर) भूमि के साधारण स्वामित्व से भ बन्चित हो जाते हैं। ब्रिटेन में भी किसान अपने को धनी व्यापारिक वर्ग के समक्ष भूस्वामित्व प्राप्त करने की प्रतियोगिता में असमर्थ पाकर आसामी के अस्वामित्व की स्थिति को ही स्वीकार कर लेता है। तृतीय, गाँव के क्षेत्रों में सरकारी या गैर-सरकारी प्रवन्धक, निरीक्षक या कर्मचारी (कारिन्दे, गुमाश्ते तथा प्यादे) किसानों पर अत्याचार कर उनका शोषण करते हैं। इन लोगों का विशेष स्वार्थ केवल उनके वेतन से (जो साधारणतया निश्चित होता है) तथा जो कुछ भी वे

किसी तरह रैयत से प्राप्त कर सकें, उससे होता है। उनसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती कि वे ग्रामों की खुशहाली के दृष्टिकोण से काम करेंगे।

चतुर्थ, किसान एक साधारण तथा शान्त जीवन के पक्षपाती हैं परन्तु शहर के लोग कभी कभी विशेष उद्देश्यों के लिए ग्राम में जाते हैं, यथा, (१) अवकाश-काल तथा मनोरंजन के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में जाना (२) कारखानों के लिए अधिक भूमि प्राप्त करने के लिए जाना तथा (३) प्रचार के लिए ग्राम-भ्रमण करना। इसका परिणाम यह हो सकता है कि शहर वालों के इस हस्तक्षेप तथा सम्पर्क से किसानों की दशा में व्यतिक्रम पैदा हो। ब्रिटेन के देहाती किसान और जमींदार का अनुभव है कि ये आगंतुक अपने पीछे ग्रामीणों में असंतोष की भावना, विशेषकर अपनी कम मजदूरी, लम्बे तथा भारी काम के घन्टे, निम्न जीवन-स्तर के कारण तथा अंत में उनकी वर्तमान जीवन-दशा के प्रति एक क्रान्ति की भावना पैदा कर जाते हैं। भारतीय प्रदेशों में कुछ दिलचस्पी लेने वाले राजनैतिक दलों के प्रचार के कारण यह असंतोष बढ़ता जा रहा है।

दूसरे शब्दों में, यदि कृषि को एक व्यापारिक कार्य का रूप दिया जाय—मशीन-प्रणाली के उत्पादन का यही दृष्टिकोण है—तो कृषि के विकास की कम सम्भावना है क्योंकि जीवन-दिशा को सुदृढ़, स्थिर तथा विकासोन्मुख नीति पर आधारित रखना चाहिए। यह भावना सं० रा० अ० में भी बढ़ रही है। वहाँ यह अनुभव किया जाने लगा है कि छोटी मात्रा की कृषि से घरेलू तथा सामुदायिक वातावरण पैदा होता है। इससे कृषि में सामान्यतः पारिवारिक स्नेह की भावना अध्यवसाय के लिए प्रेरणा देती है तथा छोटी मात्रा की कृषि करने वाला किसान परिवार उपभोग के लिए अन्न तथा अन्य फसलों का उत्पादन लगन के साथ करता है। यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि किसानों को इस तरह प्रोत्साहित किया जाय कि वे कृषि को सब तरफ से हार जाने पर अंतिम रोजगार के रूप में न लें, बल्कि उसे इस रूप में लें कि इसी क्षेत्र में उन्हें स्थायी रूप से जीवनयापन के लिए कार्य करना है। कि किसान अपने श्रम तथा पूँजी से—जिसके कारण किसान को कृषि में व्यक्तिगत ममत्व के साथ काम करना पड़ता है—काम

करने का अवसर मिले इसके लिए छोटी-मात्रा की कृषि उपयुक्त है। इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि जोतें अनार्थिक हो।

किसान तथा सरकार

सरकार तथा किसान के बीच कैसा संबंध होना चाहिए? क्या भूमि का स्वामी सरकार है? कदापि नहीं, क्योंकि सरकार का जन्म मनुष्य से पहिले नहीं हुआ। परन्तु आज की सरकार केवल व्यक्ति की सुरक्षा मात्र के लिए नहीं है और न तो अन्य किसी के द्वारा की गई किसान की उपज की क्षति रोकने के लिए है। सरकार समाज में अधिक समानता तथा क्षमता लाने के लिए भी है। फल स्वरूप सरकार का संबंध केवल शासन-व्यय को चलाने के लिए कर प्राप्त करने मात्र से नहीं है बल्कि राष्ट्रीय साधनों तथा आमदनी के पुनर्वितरण से भी है। इस उद्देश्य को प्राप्ति के लिए वह किसान तथा मध्यस्थों द्वारा प्राप्त अधिकारों (भूमि विषयक) को पुनः वितरित कर सकता है।

सरकार का काम बहुधा वेतन प्राप्त कर्मचारियों के द्वारा ही होता है। यह कुछ अस्वाभाविक सा है कि स्थायी वेतन पाने वाले कर्मचारी अपने कार्य-क्षेत्र में ऐसे पारिवारिक स्नेह से काम करेंगे जिससे कि किसानों के हित की रक्षा हो। अस्तु यह वांछनीय प्रतीत होता है कि किसानों के ऊपर कुछ अधिकार प्राप्त एक संस्था होनी चाहिए। इन अधिकारों को एक ऐसा रूप दिया जाय कि परिणाम स्वरूप लाभों का वितरण किसानों के समृद्धि के अनुपात से हो इस तरह की संस्था या तो व्यक्ति के रूप में हो सकती है, यथा, जमींदार, ताल्लुकेदार, मुखिया तथा मालगुजार या समितियों के रूप में, यथा, पंचायत, किसान सभा, गांव सभा, समाज सहकारी समिति आदि।

इन दोनों में से कौनसा मार्ग अच्छा है? किसी समिति में व्यक्ति की अपेक्षा बहुत से लोगों की बुद्धि सम्मिलित रूप से काम करती है। एक समिति किसी भी कार्य का संचालन विस्तृत आधार पर करती है। उसमें किसी एक का स्वार्थ नहीं रहता। प्रथम मार्ग भी एक अर्थ में दूसरे पक्ष से अधिक लाभप्रद है। जहाँ पर किसी दिशा में प्रारम्भिक कदम उठाना हो या किसी नवीन योजना के लिए उत्साह की आवश्यकता हो वहाँ पर एक समिति हिचकिचाहट

तथा संकोच कर सकती है, परन्तु एक व्यक्ति सारा उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेकर जोखिम उठाते हुए शीघ्र अग्रसर हो सकता है। व्यक्ति के साथ खतरा यह है कि वह शीघ्र ही अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवादी बन सकता है तथा केवल धन प्राप्ति की प्रवृत्ति का शिकार हो सकता है। इस तरह वह केवल किसानों के हितों की ही अवहेलना नहीं करेगा परन्तु वह अपने दीर्घकालीन हितों की भी उपेक्षा कर सकता है। सामान्यतया एक समिति को व्यक्ति की अपेक्षा अधिक मान्यता दी जानी चाहिए।

मध्यस्थ संस्था को किस प्रकार के अधिकार प्राप्त होने चाहिए? यह संस्था लगान वसूल करने तथा सरकार को कर चुकाने के लिए उत्तरदायी समझी जा सकती है। लगान का कुछ अंश इस संस्था को मिलना चाहिए कि वह लगान वसूली के व्यय को पूरा कर सके तथा ग्राम में कुछ विकासोन्मुख योजनाएँ संचालित कर सके। यदि किसानों पर पिछला लगान बाकी हो तथा वे जमीन का (यथा, अकृषिगत प्रयोग में) उचित प्रयोग न करें तो उसे किसानों को बेदखल करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। समिति यह निरीक्षण करे कि किसान केवल एक मौसम या दो के अतिरिक्त जमीन को असामी को न उठा दे। परन्तु यदि कोई अस्थायी कठिनाई या विपत्ति आ पड़े तो एक दो फसल के लिए खेत उठाने (Sublet) का अनुमति दे दी जाय। नाबालिग, विधवा, पागल, शिक्षार्थी तथा कैदी आदि की अवस्था में जमीन को आसामी को देने की स्वीकृति मिलनी चाहिए।

संस्था को यह अधिकार होना चाहिए कि वह ऐसी जमीन को जो समर्पित कर दी गई हो या बेदखली से प्राप्त है पुनः वितरित कर सके। जब कोई भूमि बिके या उठे तो अन्य हिस्सेदारों तथा पड़ोसी किसानों को उसे प्राप्त करने में प्राथमिकता मिलनी चाहिए। उत्तराधिकार संबंधी कानून के नियन्त्रण का प्रबंध भी इसी संस्था के हाथ में रहना चाहिए। इस संस्था पर यह भी भार होना चाहिए कि वह कृषि संबंधी मूल्यों तथा फसल की अवस्था के अनुसार लगान निर्णीत करने में तथा आवश्यकतानुसार फसल योजना संचालित करने में भी सरकार को सहायता प्रदान करे।

किसानों का अधिकार

किसानों को क्या अधिकार मिलना चाहिए ? भूस्वामित्व में स्थिरता तथा न्यायपूर्ण लगान का होना वांछनीय है। पारिवारिक स्नेह के बाद, भूस्वामित्व की स्थिरता का ही स्थान है। यह एक स्थायी सुदृढ़ किसानवर्ग की ऐसी सुरक्षा में सहायक है जिसका होना एक सुदृढ़ स्थिरता तथा एक उच्च स्तर की नैतिकता को बनाए रखने के लिए वांछनीय है। किसान को पैत्रिक अधिकार प्रदान कर इसे प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु देश में उत्तराधिकारी के कानून बन जाने पर अवांछनीय परिणाम हो सकते हैं। यदि ज्येष्ठाधिकार (Primogeniture), प्रथम क्रय के अधिकार या एक विशेष क्षेत्रफल के नीचे खेत का विभाजन के कारण छोटा होने से रोकने के लिए किसी कृषि प्रणाली को प्रयोग में लाना कठिन हो तो आजीवन-किसानी की प्रणाली को चालू करना चाहिए। सामान्यतः यह पाया गया है कि इस प्रणाली का भी किसान द्वारा भूमि-सुधार नीति पर वही प्रभाव पड़ता है जो कि उत्तराधिकार प्राप्त आसामी अनुभव करता है, बशर्ते यह आश्वासन निश्चित रूप से दिया जाय कि किसी दूसरे को भूमि देने से पहले इस बात का प्रयत्न किया जायगा कि किसान की मृत्यु के बाद उसके एक या अधिक उत्तराधिकारी सामूहिक रूप से मिलकर खेती चालू रख सकें। परन्तु हमारी राय में जोतों के विभाजन पर यह रोक लगायी जा सकती है कि वे एक निश्चित निम्नतम सीमा से नीचे नहीं बाँटी जा सकेंगी। प्रत्येक दशा में यदि आसामी को बदला जाय तो जिस आसामी से जमीन ली जाय तो उसको उसके द्वारा उस खेत में किए गए सुधार के बदले में मुआवजा (हर्जाना) प्रदान किया जाना चाहिए। जमीन को रेहन द्वारा हस्तान्तरित करने या आसामी को उठाने की स्वीकृति देना अवांछनीय है। जमीन-विक्रय का अधिकार भूमि की गतिशीलता के लिए उचित है। नहीं तो इसके अभाव में असामियों में वृद्धि होगी तथा खेतों का क्षेत्रफल घटता जायगा। किसान को भी इस जमीन के हस्तान्तरित करने के अधिकारों के लिए चिंतित नहीं होना चाहिए: उसे कृषि को जीवन का एक स्थायी क्षेत्र बनाना चाहिए। फसलों के हेर फेर के अतिरिक्त और किसी कारणवश खेत खाली न पड़ा रहे इस हेतु एक दो फसल के लिए समिति द्वारा उचित दर पर भूमि पर आसामी

लगाने की स्वीकृति दी जानी चाहिए। इस विचार से कि किसान दीर्घकाल के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त कर सके एक सहकारी भूमि-बन्धक-बैंक द्वारा भूमि को रेहन करने की स्वीकृति दी जानी चाहिए। यदि महाजनों के पास भूमि को रेहन करने का अधिकार दिया जाता है तो वह केवल १० या १५ साल के लिए भूमि को प्रयोग में लाने के लिए हो [१]।

न्यायपूर्ण लगान

न्यायपूर्ण लगान होने के लिए आवश्यक है कि एक लम्बी अवधि के लिए लगान स्थायी हो, यथा, २० से ३० वर्ष के लिए। इसका निर्णय उत्पादन के व्यय, जीवन-यापन व्यय तथा कृषि-मूल्यों की गतिविधि का अध्ययन करके करना चाहिए। उत्पादन-व्यय के अन्तर्गत हमें मिट्टी की बनावट तथा प्रकृति, सिंचाई की सुविधाएँ, कृषि पूँजी में ह्रास तथा किसानों द्वारा उत्पादक ऋणों की ब्याज-दर को लेना चाहिए। अल्पकाल में लगान और वार्षिक मूल्य के बीच संतुलित संबंध होना चाहिए। यह वांछनीय है कि उत्पादन के अंश के रूप में ही लगान को निश्चित किया जाय जिससे कि कृषि-मूल्यों का व्यतिक्रम तथा परिवर्तन लगान के भार को प्रभावित न कर सके। मुख्य बुराई यह है कि सरकार को एक स्थायी निश्चित कर निधि प्राप्त करने में निश्चयात्मक रूप से विश्वास नहीं रहेगा। परन्तु इस जोखिम को उठाना वांछनीय है। हमारी राय है कि जितना भूतकाल में परिवर्तन हुआ है उससे भविष्य में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होगा। फसल लगान में बिगड़ जाने पर कमी तथा कुछ काल के लिए लगान बन्दी कर दी जाती है। इससे जो घाटा होता है उसकी अपेक्षा कृषि पदार्थ के रूप में लगान लेने से अधिक खर्च नहीं बैठेगा। इसके अतिरिक्त एक लाभ यह रहेगा कि हम खुला बाजार नीति (open market operation) को कृषि-मूल्यों के परिवर्तन को रोकने के लिए प्रयोग में ला सकेंगे और सहकारी बाजार-समितियों द्वारा गोदामों में अन्न-संचय किया जा सकेगा।

---

[१] भूमि को केवल प्रयोग में लाने वाले रेहन के अन्तर्गत, रेहनदार का अधिकार जमीन पर एक निश्चित काल के लिए होता है। इसके बाद भूमि पुनः रेहन लिखने वाले को मिल जाती है।

क्योंकि लक्ष्य यह है कि किसानो को प्रोत्साहित किया जाय कि वे भूमि पर अपने श्रम से खेती करें, यह आशा है किसानों की दशा में इतनी असमानता न होगी जिससे कि क्रमागत वर्धमान कर-प्रणाली (Progressive Taxation) काम में लायी जाय। अल्प-काल के दृष्टिकोण से, यदि भूमि-कर का वितरण ऐसा है कि कर-भार किसान पर अधिक तथा मध्यस्थों पर कम पड़ता हो, तो नीति ऐसी होनी चाहिए कि किसान को कर-भार (दोनों लगान तथा मालगुजारी) से सामान्यतः मुक्त किया जा सके तथा कृषि-आय-कर और मृत्यु-कर भी लगाकर इस कमी को पूरा कर लेना चाहिये।

ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उसके बावजूद और देशों में प्रचलित विभिन्न प्रकार की भूमि व्यवस्था को दृष्टि में रखकर यह कहा जा सकता है कि फिर भी देश में भावी भूमि-व्यवस्था और वितरण प्रणाली को स्थान समय, राष्ट्र के विशेष सामाजिक तथा नैतिक स्तरों तथा जनता के स्वभाव और घनत्व के अनुसार परिवर्तित करना पड़ेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि छोटी मात्रा के कृषि के लिए एक विशेष क्षेत्रफल का खेत होना चाहिए। किसी भी जिले में विभिन्न आकार के खेतों की आवश्यकता होगी, यथा, कुछ गृह-निर्माण तथा बड़े उद्यानों के लिए, तथा कुछ इतनी छोटी जोतों के लिए कि सामान्यतः ऐसे व्यक्ति, जिनका मुख्य धंधा कुछ दूसरा ही है, भी खेती कर सकें।

हमारी सांस्कृतिक दशा

इस संबंध में ध्यान रहे कि भारत जैसे देश में दूध दही पीते हैं, गौमांस नहीं खाते। चीन जापान में गाय बैल देखने को नहीं मिलते। योरप, अमरीका, रूस में गाय का दूध पीते हैं। बैलादि मांस के रूप में व्यक्तियों के पेट में पहुँचते हैं। उन्हें हल गाड़ी आदि नहीं खींचना पड़ता। भारत जैसे देश के गौमांस का रिवाज न होने के कारण बैलों के उपयोग का प्रश्न उठता है। अतः खेत के सामान्य क्षेत्र ऐसे हैं कि न केवल गृहस्थी वरन् गाय बैलों का भी काम चल सके।

यह भी समझना उचित है कि किसी देश में भूमि व्यवस्था अंतिम ध्येय

नहीं है। वह साधन मात्र है। यदि हम आर्थिक और सामाजिक विषमता[२] घटाना और लोकतंत्र का विकास करना चाहते हैं, तो यह ध्यान रहे कि केवल भू-अधिकार छीन कर छोटों को देने से काम नहीं चलेगा। गांवों में कुछ लोग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हैं: वे अधिकांश भूमि पर अधिकार रखते थे, वे दूसरों को समय-समय पर नौकर रखते हैं, रुपया उधार देते हैं, उपज भी खरीदते हैं। ऐसी स्थिति में केवल भू-अधिकार छीन लेने से क्या उन मुट्ठी भर लोगों की शक्ति घट जायगी और क्या बहुसंख्यक छोटे गरीब किसानों को राहत मिलेगी? नहीं। अतः अन्य समस्याओं को भी साथ-साथ हल करना चाहिए। कई प्रकार से अन्य विषमताएं टूटती हैं। समान व्यस्क मताधिकार से गरीबों को प्रोत्साहन मिलता है। जमींदारी उन्मूलन, बेगार बंदी और अन्य साधनों से पर्याप्त आय होना भी देहातों के निम्न श्रेणी की गरीब जनता की विवशताएं कम करती हैं। परन्तु इसके साथ ग्रामीणों को सामान्य और टेकनिकल शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए।

---

[२]कहीं-कहीं इस बात का "सामाजिक न्याय" कहकर संकेत करते हैं? योजना आयोग ने भी ऐसा किया है। सामाजिक न्याय के निम्नांकित लक्षण हैं—(i) आय विषमता कम हो (ii) संपत्ति-विषमता कम हो (iii) जाति विषमता कम हो (iv) अवसर की समानता बढ़े। स्पष्ट है कि केवल जमींदारी उन्मूलन और भू-पुनर्वितरण से ही सामाजिक-न्याय नहीं प्राप्त हो जायगा।

आठवाँ परिच्छेद

जमींदारी उन्मूलन के बाद

उत्तर प्रदेश में सन् १९४६ में धारा सभा ने जमींदारी उन्मूलन सिद्धान्त को स्वीकृत किया। तत्पश्चात् जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट लिखी गई और एक लंबे अरसे की धारा सभा तथा अदालती कार्यवाही के बाद उत्तर-प्रदेश जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार कानून पारित हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से जमींदार और मध्यस्थों के पक्ष में निम्नांकित तर्क थे :—

१—यथा राजा तथा जमींदार। अफ़सर पतित और अक्षम थे: जमींदार भी तदनुरूप थे।

२—जमींदार राज्य के प्रति स्वामिभक्ति रहे हैं और रहेंगे।

३—सेवा और परमार्थवाद पर जोर न होने के कारण तत्कालीन सरकार और पाश्चात्य व्यक्तिवाद के प्रवाह में कोई भी व्यक्ति उसी राह पर चलता जिस पर जमींदार।

४—सिंचाई, उपयुक्त जोत, उत्पादन, यंत्र उपयोग आदि के बारे में जमींदार पर कोई कानूनी जिम्मेदारी नहीं थी अन्यथा ज़मींदार इस ओर से लापरवाह न रहते।

५—जमींदारी उन्मूलन जैसे परिवर्तन के लिए ग्रामों में आवश्यक शिक्षा, दृष्टिकोण और क्षमता नहीं है।

६—बहुमुखी योजनाओं के लिए मालगुज़ारी बढ़ाना चाहिए और जमींदारी उन्मूलन के झंझट में सरकार अभी न पड़े।

७—शिक्षा—विशेषतः प्रौढ़-शिक्षा-प्रसार द्वारा ग्राम पंचायतों और बहुमुखी सहकारी समितियों की क्षमता और शक्ति बढ़ेगी। इससे जमींदारों के अवांछनीय कार्य नियंत्रित होंगे।

परंतु ग्राम-समुदाय का विकास और भूमि प्रणाली देश की सरकार से संबंधित रही है। आधुनिक जनमत जमींदारी प्रणाली का अंत करने के पक्ष में था। सामंतवादी जीवन के आदी जमींदारों के ढंग बदलने में संदेह था।

सरकारी कर्मचारियों की क्षमता भी संदेहपूर्ण थी। सन् १८६३-१६४६ के बीच उत्तर-प्रदेश में कुल लगान में ४५% की वृद्धि हुई, मालगुजारी में १५% की और मध्यस्थों की आय में ७०% की। लगान का भाग १२·२ करोड़ रुपए से बढ़ कर १८·२ करोड़ रुपया हो गया। मालगुजारी और लगान का अनुपात ६०% (१७६३) से गिर कर ३६% रह गया और सरकार को केवल ६·६ करोड़ रुपये की मालगुजारी मिली। आमूल परिवर्तन द्वारा ही मालगुजारी आय को बढ़ाया जा सकता था। ग्रामों से सामाजिक अन्याय दूर करने और कृषि-उत्पादकता वृद्धि करनेके लिए सरकार और किसानों के बीच के सभी मध्यस्थों को हटाना उचित प्रतीत होता था।

जमींदारी उन्मूलन को प्रगति

मैसूर तथा ट्रेकोचान को छोड़ कर सभी 'अ' तथा 'ब' वर्ग वाले राज्यों ने भू-मध्यस्थों के उन्मूलन संबंधी कानून बना लिए हैं। मैसूर में "इनाम" अधिकारों का उन्मूलन विधेयक विचाराधीन है। ट्रेकोचोन में किसानों को खेती करने का स्थायी अधिकार तो है ही: अब ऐसी व्यवस्था की जा रही है कि वे मुआवजा दे कर स्वामित्व भी प्राप्त कर सकें। 'स' वर्ग के राज्यों में से विन्ध्य-प्रदेश तथा भोपाल में जमींदारी उन्मूलन एक्ट बन चुके हैं और दिल्ली तथा हिमांचल प्रदेश में उनके प्रारूप बन चुके हैं।

मद्रास में सर्व प्रथम एक्ट पास हुआ था और वहाँ अधिकांश जमींदारियों पर सरकारी अधिकार हो गया है। उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में सभी जमींदारियां ले ली गई हैं। विहार में ५०,००० रुपए से अधिक वार्षिक आय वाली जमींदारियों का उन्मूलन किया जा चुका है। उड़ीसा में कुछ मामलों को छोड़ कर शेष सभी स्थायी बन्दोवस्त खतम कर दिये गये हैं और अस्थाई बन्दोबस्त वाली अधिकांश जमींदारियां भी। यद्यपि आसाम में सन् १६५१ में कानून बना था परंतु अभी तक वह कार्यान्वित नहीं किया जा सका है। बंबई में थोड़े से मध्यस्थ-अधिकार थे जिनका अंत हो चुका है। पंजाब में काश्तकार स्वामी बन गए हैं और उनसे किश्तों में मुआवजा वसूल किया जा रहा है। हैदराबाद और सौराष्ट्र में क्रमशः १६४६ व १६५१ में

सभी जागीरें छीन ली गईं। मध्य भारत और राजस्थान में भी जागीरों का अंत हो गया। पेप्सू में कानून द्वारा स्वामित्व किसानों को दे दिया गया।

उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन

उत्तर प्रदेश में सोलह प्रकार के भू-अधिकारी थे। मौरूसी और दखीलकार किसान बहुमत में थे जिनका पता निम्नांकित सन् १९४५-४६ के खेत-वितरण से चलता है :—

	भूमि (लाख एकड़ में)
स्थायी भू-अधिकारी	०·०२
निश्चित दर वाले	७·१
विशेष दर वाले अवधी किसान	०·०८
बेदखल जमींदार-किसान	८·३
दखीलकार किसान	१२३
मौरूसी किसान	१६४·४
गैर दखीलकार किसान	२·६

उत्तर प्रदेशीय जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार कानून के अंतर्गत केवल चार प्रकार के भू-अधिकारी बचे जैसा कि निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

पुराने	नवीन	प्रतिशत	
		संख्या	भूमि
१. (१) सीर (२) खुदकाश्त (३) मध्यस्थ बाग वाला (४) अवध का स्थायी अधिकारी (Lessee) (५) निश्चित दर वाला किसान तथा निःशुल्क लगान वाला (६) दखीलकार, मौरूसी तथा स्थायी बन्दोबस्त वाले वे किसान जो जोत को हस्तांतरित कर सकते हैं।	१. भूमिधर		
२. (१) विशेष संविदे वाला अवधी किसान (२) बेदखल जमींदार-किसान (३) अन्य स्थायी बन्दोबस्त वाले, दखीलकार तथा मौरूसी किसान, (४) कम लगान वाला किसान (५) बाग वाले	२. सीरधर	६८.१%	७३.३%

पुराने	नवीन	प्रतिशत	
		संख्या	भूमि
३ (१) बाग के गैर दखीलकार तथा उप-असामी (२) भूमि बंधक रखने वाला (३) चरागाह और सिंघाड़े के खेत के गैर दखीलकार (४) तौंगिया खेती के गैर दखीलकार (५) परिवर्तनीय (Shifting) भूमि के किसान	३. असामी	१४.७%	७.४%
४. (१) सार के असामी (२) उप-असामी (३) अन्य	४. अधिवासी [१]		

अधिकांश दखीलकार तथा मौरूसी किसान सीरधर बने और उन्होंने ही अधिकतर दस गुना लगान जमा करके भूमिधारी अधिकार प्राप्त किए हैं।

यहां यह बता देना अनुचित न होगा कि उत्तर प्रदेश में भूमिधर को पूर्ण मौरूसी तथा हस्तांतरण अधिकार हैं। वे भूमि का कुछ भी उपयोग करें। वे बेदखल नहीं किए जा सकते। सीरधर को मौरूसी हक है परन्तु वह भूमि को हस्तांतरित नहीं कर सकता। असामी तथा सीरधर भूमि को केवल खेती, बाग या पशुपालन के काम में ला सकते हैं। सीरधर जमीन का बटवारा कर सकते हैं, असामी नहीं। दोनों बेदखल किए जा सकते हैं। भूमिधर और सीरधर सरकार को मालगुजारी देते हैं। असामी और अधिवासी लगान देते हैं। दो साल तक खेती न करें, या लगान बाकी रहे या पट्टा खतम हो जाए और भू-अधिकारी स्वयं खेती करना चाहे तो असामी बेदखल किया जा सकता है। भूमि-अधिकार हस्तांतरित होने पर भी असामी का पट्टा खतम हो जाता है। गांव भर की मालगुजारी अदा करने के लिए भूमिधर और सीरधर व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों तरह से जिम्मेदार हैं। भूमिधर का लगान ४० वर्ष तक अपरिवर्तनीय है। असामी और अधिवासी का लगान भी साधारणतया नहीं बदला जा सकता और यदि वह पहले से निश्चित नहीं है तो मौरूसी दर का १$\frac{1}{2}$ भाग होगा। सभी अपने खेतों में सुधार कर सकते हैं, तथा कृषि-हीन लोगों को अपने घरों, पेड़ व कुंए पर पूर्ण अधिकार मिल गया है।

[१] यह वर्ग अस्थायी है और शीघ्र खतम हो जाएगा।

कोई व्यक्ति अदल-बदल या क्रय करके अपनी भूमि तीस एकड़ से अधिक नहीं कर सकता। ३$\frac{1}{8}$ एकड़ से कम क्षेत्र वाली भूमि का विभाजन नहीं किया जा सकता है। राज्य सरकार अलाभप्रद जोत (Uneconomic Holding) का क्षेत्र घोषित करेगी। किसी गांव-समाज के क्षेत्र में ऐसी जोतों पर अधिकार रखने वाले दो तिहाई भूमिधर और सीरधर, जिनके पास ऐसी जोतों का दो-तिहाई अंश हो, आवेदन पत्र दें तो एक सहकारी खेती समिति स्थापित की जायगी जिसको सभी ऐसी जोतें अनिवार्य रूप से हस्तांतरित हो जायँगी। बदले में भू-अधिकारियों को मुआवजा मिलेगा। वैसे तीस एकड़ से अधिक भूमि पर अधिकार रखने वाले कोई भी दस भूमिधर और सीरधर सहकारी कृषि समिति स्थापित कर सकते हैं। समिति बन जाने पर सभी सदस्यों की भूमि सहकारी समिति के अधिकार में चली जाएगी और जब तक समिति का दिवाला न निकले, भूमि वापस नहीं होगी।

लगान का आधार वैज्ञानिक किया जायगा। वह औसत अतिरिक्त उपज का एक निश्चित प्रतिशत होगा जिसे राज्य निश्चित करेगा। लगान गांव सभा के द्वारा एकत्र किया जा सकता है[२]।

जमींदारी उन्मूलन की महत्वपूर्ण समस्याएं

संक्षेप में जो कानून बने हैं उनके चार मुख्य गुण हैं:—(१) भू-व्यवस्था सरल हो गई है, (२) राज्य और किसान के मध्य निकट सम्बन्ध

---

[२] उक्त कानून के कुछ उल्लेखनीय दोष:—(i) ३० एकड़ की सीमा चकबन्दी कार्य में बाधा डाल सकती है। (ii) अ-कृषि पेशों और साख सुविधा की अनुपस्थिति में ३$\frac{1}{8}$ एकड़ से कम क्षेत्र वाले खेत के एक से अधिक उत्तराधिकारी क्या करेंगे और किस प्रकार अपने हिस्से का मुआवजा पाएंगे (iii) जो लोग अन्य काम करते हैं और आंशिक समय में खेती करते हैं क्षेत्र के हिसाब से उनकी जोत अ-लाभप्रद होगी। तब उनके खेत छीन लेना या सहकारी कृषि समिति को हस्तांतरित करना कहां तक वांछनीय है? (iv) सहकारी कृषि समिति बन जाने पर वैयक्तिक खेती करने के इच्छुकों को कैसे खेत मिलेंगे? इससे कृषि में श्रम की गतिशीलता कम हो जाएगी (v) कानून में शाब्दिक दोष होने से मुकद्दमेबाजी, बेदखली आदि के मामले बढ़ गए हैं।

स्थापित हुआ है, (३) राज्य की आय में वृद्धि हुई है तथा (४) वर्ग, क्षेत्र और देश में एकरूपता की दृष्टि से उपयुक्त प्रबन्ध व्यवस्था की गई है। मुआवजे की दर, पुनर्संस्थापन अनुदान तथा वह नियम जिनके अंतर्गत किसान स्वामित्व प्राप्त कर सकते हैं प्रदेश प्रदेश में भिन्न हैं। इन कानूनों के बनने से ही वांछनीय सुधार नहीं हो जायगा। अब सफल परिवर्तन तीन शक्तियों पर विशेष निर्भर है :—(i) कितनी तीव्रता और क्षमता से नवीन प्रबंध-व्यवस्था स्थापित की जाती है, (ii) किस क्षमता से प्रबंध-व्यवस्था काम करती है तथा (iii) नवीन व्यवस्था-संस्थाओं और जनता के मध्य कितना सहयोग स्थापित होता है। इस हेतु यह अति आवश्यक है कि राजनैतिक पार्टियां—कम से कम कांग्रेस—अपने संगठन, साधन और कार्यकर्ताओं की सहायता से न केवल उन्मूलन कानूनों को तेजी से कार्यान्वित करने में मदद दें वरन् भूमि संबंधी कानून के प्रभावों का आंकन भी करें। इस कार्य में विश्वविद्यालय भी सहायता पहुँचा सकते हैं। योजना आयोग ने ऐसे अध्ययन की आवश्यकता महसूस की है तथा रिसर्च प्रोग्राम समिति ने हैदराबाद, बम्बई, महाराष्ट्र व कर्नाटक क्षेत्रों में ऐसे अध्ययन करवाने का आयोजन भी किया है। भारत सरकार द्वारा की गई "कृषि-श्रमिक खोज" (Agricultural Labour Enquiry) में एकत्रित तथ्यों के विश्लेषण द्वारा भी भूमि व्यवस्था के प्रभावों का अधिक ज्ञान मिल सकता है। योजना आयोग ने इस हेतु भी अनुदान दिया है। प्रादेशिक प्रयत्नों का समन्वय करने, विवादग्रस्त समस्याओं के संबंध में मार्ग-निर्देशन करने, कानूनों को कार्यान्वित कराने तथा प्रगति अध्ययन के लिए केन्द्रीय भूमि सुधार संगठन स्थापित हुआ है।

मुआवजे

जमींदारी उन्मूलन के अंतर्गत जो मुआवजे दिए गए हैं उनके विषय में विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है, परंतु किसानों को स्वामित्व अधिकार प्राप्त करने के लिए जो निधि देनी पड़ती है वह विचारणीय है। यह तो स्पष्ट सा प्रतीत होता है कि मध्यस्थों को सरकार से जितनी निधि मिलेगी उतनी ही निधि किसानों से वसूल करने का प्रयत्न किया गया है। उत्तर प्रदेश में लगान

का दस गुना[३] जमा कर के "सीरदार" "भूमिधर" बन सकता है : "अधिवासी" भी अपने भूमिपति की स्वीकृति लेकर राज्य को लगान का पंद्रह गुना देकर भूमिधर बन सकता है। परंतु क्या किसान आवश्यक रकम को इकट्ठा कर सकते हैं? क्या उनके पास इतनी निधि है? इसका कोई अनुमान नहीं लगाया गया है। न यही अनुमान लगाया गया है कि कितने किसान इस प्रकार (उदाहरणार्थ) उत्तर प्रदेश में भूमिधारी अधिकार प्राप्त करेंगे[४]। यदि किसानों के पास धन की कमी है तो राज्य को उन्हें किसी प्रकार खास सुविधा देनी चाहिए। वह उन्हें भूमि-बंधक ऋण दे दे और फिर दीर्घकाल में लगान के साथ ऋण की किस्त भी वसूल कर ले। यदि आज कोई किसान किसी प्रकार दस गुना लगान जमा भी कर दे तो यह आशंका हो सकती है कि उसके पास भूमि-सुधार कार्यों के लिए धन न बचे। किसानों को भूमि-स्वामित्व प्राप्त करने के लिए इस प्रकार सहायता देने में राज्य के कंधों पर वैत्तिक तथा प्रबंध संबंधी बोझ बढ़ जाएगा। परंतु अन्य उत्तम उपाय भी तो नहीं दिखाई पड़ता।

लगान

जमींदारी उन्मूलन संबंधी दूसरी महत्वपूर्ण समस्या है लगान की। सरकार किसानों से वही लगान वसूल कर रही है जो वे जमींदार को देते थे। केवल उन किसानों को जो दस (बारह या पंद्रह) गुना लगान जमा करके भूमिधर बनते हैं, साधारणतया उस लगान का आधा देना पड़ेगा जो वे पहले देते थे। किसानों में मौरूसी और दखीलकार किसानों की संख्या अधिक है और उन्हें

---

[३] यदि वह चार किश्तों में यह रकम जमा करे तो प्रति छः मास पर लगान का तिगुना देना पड़ेगा। अतः लगान का बारह गुना देना पड़ेगा। इस प्रकार किसान को लगभग २२% का ब्याज पड़ेगा जो कि सरकारी मापदंड से ही अनुचित है। परंतु राज्य ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है।

[४] उत्तर प्रदेश में दस गुना देकर जो किसान भूमिधर बने हैं उनकी संख्या ३६ लाख है। इस प्रकार जमींदारी उन्मूलन निधि में ३३ करोड़ से कुछ अधिक रुपया एकत्र हुआ है जब कि सरकार को लगभग १४० करोड़ रुपया मुआवजे में देना होगा।

वही रकम देनी है जो वे पहले देते थे। किसानों को इस बात का क्षोभ है विशेषतः छोटे किसानों को जिनके खेत में खाने पहिनने भर की फसल होती है। जहां पहले जमींदार फसल पर या समय पर लगान वसूल करने की कोई कड़ी कार्रवाई नहीं करता था वहां अब फसल के बनने बिगड़ने का ध्यान छोड़ सरकार लगान वसूली कड़ाई से करती है और यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि भ्रष्टाचार के कारण लगान से कुछ अधिक रकम नहीं वसूल की जाती। अतः यह अति आवश्यक है कि कोई रास्ता निकाल कर छोटे गरीब किसानों को (दर असल अलाभप्रद खेती वाले किसानों को) लगान में छूट दी जाय। केन्द्रीय सरकार इस ओर अब प्रयत्नशील तो मालूम पड़ती है।

समृद्धि और उत्पादकता

जमींदारी उन्मूलन संबंधी तीसरी समस्या यह है कि इसका किसान की समृद्धि और भूमि की उत्पादकता पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस संबंध में विधिपूर्वक किए अध्ययन का अभाव है। फिर भी व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जमींदारी उन्मूलन के कारण प्रति एकड़ उपज में तो वृद्धि नहीं हुई है। तब भी युद्धोत्तरकालीन-परिस्थितिवश बड़े किसानों की हालत पहले से अच्छी है। अब जो अध्ययन आयोजित किये गये हैं उनसे अधिक तथ्य मालूम पड़ेंगे। यदि किसान को साख, बीज, खाद, जल तथा बिक्री सुविधा अधिक मिले और उनमें प्रसार कार्य किये जायँ तो अवश्य उत्पत्ति बढ़ जाये।

भू-व्यवस्था प्रणाली

एक अन्य समस्या भूमि-व्यवस्था का कार्य करने वाली प्रणाली से संबंधित है। उत्तर प्रदेश में आबादी और किसानों की भूमि को छोड़ कर शेष सभी जमीन सदा के लिए "गांव समाज" की है। गांव समाज के क्षेत्र (सर्किल) में रहने वाले सभी व्यस्क इसके सदस्य हैं। जिस ज़मीन से सीरधर और असामी बेदखल किए जायँगे अथवा जिस भूमि का उत्तराधिकारी न होगा अथवा जिस जमीन को सीरधर और असामी छोड़ेंगे वह भी गांव समाज की होगी। गांव समाज की ओर से भूमि का निरीक्षण तथा संचालन-कार्य गाँव

पंचायत करेगी जो प्रत्येक गांव समाज के लिए एक भूमि-व्यवस्था समिति बनायेगी। गांव समाज के क्षेत्र से जो सदस्य गांव पंचायत में चुने जायँगे वही उस क्षेत्र की भूमि व्यवस्था समिति के सदस्य होंगे। विकेन्द्रित व्यवस्था की दृष्टि से प्रबंध बहुत अच्छा है परंतु अल्पकाल में कानूनी व्यवस्था का ज्ञान न होने से मालगुजारी कर्मचारियों का सक्रिय तथा रचनात्मक सहयोग अति वांछनीय है। इस सहयोग को व्यवहार में सफल बनाने के लिए जन-हित राजनैतिक संस्थाओं को जागरूक तथा प्रयत्नशील होना चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसी व्यवस्था अन्य राज्यों में भी होनी चाहिए तथा लगान भी इन्हीं स्थानीय संस्थाओं द्वारा वसूल करने की शनैः शनैः व्यवस्था की जानी चाहिए। वर्तमान समय में पंचायतों की साख और क्षमता कम है, अतः वे लगान वसूली सफलता पूर्वक नहीं कर सकतीं। उत्तर प्रदेश में तो पंचायतों द्वारा एक हद तक सफलतापूर्वक लगान वसूली का प्रयोग किया गया है और उसका प्रसार किया जा रहा है।

कानून के शाब्दिक दोष

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार संबंधी कानूनों में द्विअर्थी शाब्दिक दोष हैं। कहीं कहीं वे जटिल भी हैं। इन कानूनों का राष्ट्रपति की स्वीकृति-प्राप्ति में भी पर्याप्त समय लग जाता है। फलतः न केवल राष्ट्रपति की स्वीकृति से पूर्व जमींदार और मध्यस्थ किसानों को बेदखल करते हैं वरन् विभिन्न प्रकार की मुकदमेबाजी से किसान को परेशान करते हैं। किसान सोच सकता है कि "जमींदारों को हटाने का अजीब कानून बना है। जमींदारों की उद्दंडता बढ़ गई है, लगान कड़ाई से वसूल किया जाता है और लगान पूर्ववत बना है। सिंचाई की दरें बढ़ गई हैं मुकदमों का व्यय भी बढ़ गया है। "महाजन से ऋण नहीं मिलता और न सरकारी विकास योजना के अंतर्गत ही लाभ पहुँचता है।" अतः ग्रामीण का दृष्टि कोण निराशा और विरोध का है। इस स्थिति का सुधार करने के लिए प्रसार कार्य, साख सुविधा, सम्मिलित कृषि-कार्य तथा अ-कृषि उद्योगों का विकास अति वांछनीय है। परंतु इस पर भी खेत विहीन खेतिहर- श्रमिकों की समस्या हल नहीं होगी।

भूदान आंदोलन

जमींदारी उन्मूलन कार्यों का ध्येय यही तो है कि (i) मध्यस्थ हट जाय और भूमि किसान की हो तथा (ii) खेती करने के लिए लालायित लोगों (यथा, कृषि श्रमिक—विशेषत: हरिजन) को भी खेत मिल जायें। परंतु खेत की अधिकतम सीमा निर्धारित करने से भी इस दूसरी समस्या का हल संभव नहीं है। अप्रेल सन् १९५१ में स्वेच्छा से खेत-विहीन लोगों के लिए खेत (भूमि) दान देने का कार्य आरंभ हुआ। श्री विनोबा भावे को पोचमपल्ली गांव में हरिजनों में बांटने के लिए १०० एकड़ भूमि दान में मिली। वहां हरिजनों ने काम की कठिनाई और कमी के कारण विनोवा जी से भूमि दिलवाने की प्रार्थना की थी। फिर तो "भू-दान यज्ञ" शनैः शनैः फैल चला।

स्वेच्छा से भूमि-दान द्वारा खेत-विहीन परंतु खेती करने को लालायित लोगों को भूमि देने का राजनैतिक, सामाजिक तथा नैतिक महत्व स्पष्ट है। यह आर्थिक क्षेत्र में अहिंसक क्रांति है। यह पूर्ण तो नहीं है, तथापि जिन्हें दान में आई भूमि वितरित की जायगी उन्हें स्वतंत्र आय का एक साधन मिल जायगा। पाँच करोड़ कृषक मज़दूर हैं। भूदान यज्ञ का ध्येय सन् १९५७ तक प्रत्येक के लिए एक एकड़ भूमि प्राप्त करना है। यदि ऐसा हो सका तो कृषक मज़दूरों के पास **"अपनी भूमि"** हो जायगी। वह भूमि उवरा ही होगी, इसका दावा नहीं किया जा सकता। कहावत है, "मरी बछिया ब्राह्मण के हाथ"। यह मालूम नहीं है कि भूमि-दान में जो भूमि प्राप्त हुई है उसकी उर्वरता की दृष्टि से किस प्रकार वितरण है। मानव-प्रकृति को ध्यान में रख कर यही सोचा जा सकता है कि संभवत: अधिकांश भूमि कम उर्वर होगी। परंतु वह **भूमि** तो है।

उस भूमि से कुछ पैदा करना भूमि प्राप्त करने वालों का कर्त्तव्य है। भूमि किसको और कितनी प्राप्त होगी यह भू-दान समितियों पर निर्भर है। मान लीजिए कि वह खेतविहीन लोगों को ही मिलेगी। इनके पास खेती हेतु अन्य साधन और सुविधायें कहां तक हैं। जिनके पास हल, बैल, बीज, वित्तादि नहीं है उन्हें ये किस प्रकार प्राप्त हो यह भू-दान के बाद की समस्या है। यह कहा जा सकता है कि यदि भू-दान की भूमि अपने स्वामियों के पास ही रहती

तो अधिक कृषि-उत्पादन होता परंतु दो कारणों से यह नितांत सत्य नही है। प्रथम, पूर्व-स्वामियों के लिये भूमि का अधिकांशतः कम उर्वरा होना। द्वितीय, प्रत्येक भूमि पति किसान भूमि में प्राकर्षक (Intensive) खेती करके अधिकतम उत्पादन करने को चेष्टा करेगा। यदि वह खेत-विहीन तथा खेत के लिए लालायित है वह हाथ पर हाथ रख कर न बैठा रहेगा।

भूमि सुपात्र के हाथ में जाय इस हेतु भू-वितरण समितियां बनी हैं जो गांव वालों के समक्ष भूमि-वितरण करते हैं। इस संबंध में निम्न-श्रेणी, गरीबी, खेत-विहीनता, खेती करने का सामर्थ्य और "भूमि प्राप्त करने उसका प्रबंध करने की इच्छा" का विचार करते हैं। भूमि वितरण से पहले यथासंभव पूर्व-स्वामी का या राजकीय सहायता द्वारा भूमि को कृषि योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

भूमि-दान में कानूनी समस्याएं भी निहित रहते हैं। कहीं कहीं (यथा, उत्तर प्रदेश में) जमींदार व किसान भूमि दान नहीं कर सकते। अतः ऐसी समस्याओं को हल करने के लिए हैदराबाद, उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में भूदान कानून बने हैं। उत्तर प्रदेश के भूदान कानून (१६५३) के अंतर्गत भूदान घोषणा की लिखित सूचना तहसीलदार को देते हैं जो तीस दिन की मोहलत देकर विरोध आमंत्रित करता है। भूदान कर्त्ता, विरोधी और ग्राम पंचायत के सामने विरोध पर विचार किया जाता है। विरोध निर्मूल सिद्ध होने पर तहसीलदार भूदान को वैध घोषित करता है। राज्य द्वारा निषिद्ध, गांव भर के सामूहिक काम में आने वाली तथा बिना सभी हकदारों की स्वीकृति के उनकी सामूहिक भूमि का अंश भूदान में नहीं दी जा सकती। भूदान कार्य की व्यवस्था करने के लिए एक प्रादेशिक भूदान यज्ञ समिति है जिसका सभापति श्री विनोबा भावे सरकार की स्वीकृति से नियुक्त करते हैं। गांव में दान की भूमि का वितरण-कार्य करने के लिए लेखपाल, कानूनगो आदि सरकारी अधिकारियों, ग्राम समाज तथा पंचों का सहयोग अनिवार्य है। भूदान आंदोलन की सफलता स्थानीय सहयोग और साहस पर ही निर्भर है।

भूदान आंदोलन का ५ करोड़ का ध्येय पूरा होगा, यह दुविधाजनक है। सन् १६५१-५३ में लगभग ३० लाख एकड़ भूमि प्राप्त हुई है अर्थात् ध्येय

का सोलहवां भाग। इसमें से केवल ४०-५० हजार एकड़ भूमि वितरित की गई है। ध्येय की पूर्ति हो भी सकती है। इसका भविष्य उसी प्रकार अनिश्चित है जिस प्रकार "भारत छोड़ो" आन्दोलन का भविष्य। निराशा की स्पष्ट झलक न होने के कारण सफलता की आशा अनिवार्य है। भूदान आंदोलन एक पूरक (पूर्ण नहीं) कदम है। इससे अहिंसा, शांति, विश्वास, भक्ति, प्रेम तथा सेवा की भावना की वृद्धि होती है और देश के आर्थिक जीवन के पुनर्निर्माण के लिए राज्य का कार्य-मार्ग प्रशस्त और सुलभ हो उठा है। यह स्थायी नहीं है, यद्यपि इसके पीछे छिपी भावनाएं अवश्य स्थायी और सार्वभौमिक हैं।

भूमि का अधिकतम परिमाण

योजना आयोग, भारत सरकार, राज्य सरकारें तथा अर्थशास्त्री भूमि के अधिकतम परिमाण के संबंध में विशेष दिलचस्पी ले रहे हैं। सामाजिक न्याय करने की उत्कंठा और राजनैतिक आंदोलनों से बचने की इच्छा ही इसके मुख्य कारण हैं। उदाहरण स्वरूप हम यह बता चुके हैं कि उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार कानून के अंतर्गत पांच बीघा (पक्का) क्षेत्र वाली भूमि का विभाजन नहीं किया जाएगा और कोई व्यक्ति तीस एकड़ से अधिक भूमि खरीद नहीं सकता। परन्तु सोचिए कि भूमि के अधिकतम परिमाण को निर्धारित और कार्यान्वित करने की आवश्यकता क्या है? समाज की दृष्टि से (i) भूमि का दीर्घकालीन संतुलित सर्वोत्तम उपयोग किया जाना चाहिए तथा (ii) उनको भी भूमि मिलनी चाहिए जो भूमि के लिए लालायित हैं तथा भूमि पर ही श्रमिक रूप में काम भी करते हैं। निस्संदेह साधारणतया भूमि का यह हस्तांतरण निःशुल्क नहीं होना चाहिए। जब और जहां भी भूमि का सर्वोत्तम उपयोग नहीं होता तथा कृषि-श्रमिक और कृषक यह अनुभव करते हैं कि वे अति शोषित हैं अथवा धन देकर भी भूमि नहीं पाते, तब भूमि के हस्तांतरण को सुलभ करने के लिए भूमि-व्यवस्था में सुधार किया जाता है और भूमि की अधिकतम सीमा भी निर्धारित की जाती है।

भूतकालीन परिस्थितियों वश भारत में ऐसी स्थिति है कि हरिजन तथा अन्य भूमिविहीन कृषक तथा कृषि-श्रमिक भूमि की विषमता का अंत करने की

मांग करते हैं। वे अब अपनी अवस्था से संतुष्ट नहीं हैं। अपनी निम्न आर्थिक स्थिति में वे अब यह सहन नहीं कर पाते कि किसी के पास इतनी जमीन हो कि वह उसे अच्छी तरह जोतने बोने में असमर्थ हो और कोई स्वस्थ तथा हाथ पैरों से मजबूत होते हुए भी भूमि-हीन हो। यहां पर हम यह मान लेते हैं कि ऐसी भावना वाले लोग यह जानते हैं कि वे खेती के अन्य आवश्यक साधनों को जुटा लेंगे। यह संभव है कि ऐसे लोग भी हैं जो असमर्थ होते हुए भी भूमि प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। इनका पता लगा कर इनको अकृषि क्षेत्रों में जीविका-उपार्जन हेतु मोड़ देना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि अकृषि आर्थिक कार्यों का विकास किया जा सके तो खेत और खेती की इच्छा और सामर्थ्य रखने वाले कतिपय व्यक्ति भी अकृषि क्षेत्रों में स्वतः चले जाएंगे। असमर्थों को दूसरी ओर मोड़ना और स्थानीय अकृषि कार्यों का विकास करने की समस्याओं को हल करने के लिए स्थानीय सहयोग और साहस की विशेष आवश्यकता है। केन्द्रीय योजना संस्थाएँ इनको प्रोत्साहित और सुविधाएं प्रदान कर सकती हैं।

इसने यह मान लिया है कि भूमि की मांग करने वाले भूमि का उपयोग करने के लिए समर्थ हैं। यथार्थतः देश में उत्पादन की कमी देखते हुए यह वांछनीय प्रतीत होता है कि जिन्हें भूमि दी जाय वे उन लोगों की अपेक्षा जिनसे भूमि छीनी जाय अधिक कृषि-पदार्थ पैदा करें। यदि भूमि के वर्तमान "स्वामी और कथित किसान" किसी भूमि-अंश का कोई उपयोग ही नहीं कर रहे हैं तो यह कहना ठीक है कि भूमि-विहीन भूमि के इच्छुक व्यक्ति उस भूमि का उत्तम उपयोग करेंगे। जहां भूमि-स्वामी भूमि का उपयोग करने की सामर्थ्य रखते हैं और उसका उत्तम उपयोग भी कर रहे हैं वहां उनकी भूमि के किसी अंश को हस्तांतरित कर देने से भूमि-उपयोग की क्षमता घट जाने की आशंका प्रबल हो उठती है। जमींदारी और भू-मध्यस्थ उन्मूलन प्रवाह के कारण जमींदार और मध्यस्थ स्वयं खेती करने का प्रयत्न कर रहे हैं और यदि वे खेती के इच्छुक हैं तो उनकी खेती करने की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होगी।

यह भी विचारणीय है कि क्या उन मध्यवर्गीय कृषकों से भी जो अपनी

भूमि से अपनी गृहस्थी (बच्चों और आश्रितों) का भरण-पोषण शिक्षा दीक्षा कर लेते हैं, अधिकतम सीमा से अधिक भूमि छीन ली जाय। हमारे विचार में वह अवांछनीय है। अच्छा हो यदि सरकार यह रोक लगा दे कि बिना विशेष सरकारी स्वीकृति के कोई (उदाहरणार्थ) तीस एकड़ से अधिक भूमि नहीं प्राप्त कर सकता तथा यदि सरकार यह समझे कि तीस एकड़ से अधिक भूमि में खेती करने वाला कोई व्यक्ति कम क्षमता पूर्ण खेती कर रहा है तो वह उसके खेतों को स्वयं अधिकार में ले ले। द्वितीय महायुद्ध काल में कुछ प्रदेशों में ऐसे कानून बनाए गए थे। अस्तु, सरकार के जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी कानून को क्षमता-पूर्वक कार्यान्वित करना चाहिए और भूमि-विषमता को दूर करने की अति शीघ्रता नहीं करनी चाहिए।

अनुपस्थित भू-स्वामी और उत्पादन क्षमता

हमारे जमींदारी उन्मूलन कानूनों के पीछे यह मत छिपा है कि 'जिसका खेत हो वही अपने श्रम, पूँजी, व्यवस्था तथा साहस द्वारा खेती करे। इससे एक महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न उठता है। क्या अनुपस्थित भूमिपति, अनुपस्थित पूँजीपति, अनुपस्थित मकान-मालिक, अनुपस्थित मानसिक कार्यकर्त्ता और सलाहकार सभी अवांछनीय हैं? यदि ऐसा है तो मुझे आपकी सलाह नहीं लेनी चाहिए, मुझे आपके मकान में नहीं रहना चाहिए, मुझे आपकी पूँजी और बचत काम में नहीं लाना चाहिए, मुझे आपकी भूमि में खेती नहीं करनी चाहिए। इसे दूसरे रूप में देखिए। तब आपको कोई बचत नहीं करनी चाहिए। तब आपको भविष्य के लिए बचत को बैङ्क में नहीं रखना चाहिए। तब आपको किसी नलकूप खोदाने और मकान बनाने की भी क्या आवश्यकता है? तब अर्थशास्त्र की पुस्तक से "साधन की गतिशीलता" और "श्रम विभाजन" की समस्याएं हटा देनी चाहिए और धर्मशास्त्र से परोपकार वृत्ति की भी बात।

क्षण भर को मान लीजिए कि "प्रत्येक से सामर्थ्य के अनुसार काम लो और प्रत्येक को आवश्यकता के अनुसार माल दो" का सिद्धांत ठीक है। तब राष्ट्रीय आय में आपका जो योग होगा, आपका उपभोग उससे कम हुआ तो आपके "योग का एक अंश दूसरे के काम आएगा: उसका हस्तांतरण होगा।

जब तक आप अधिक सामर्थ्यवान बने रहेंगे, आपके श्रम का फल दूसरों को मिलता रहेगा। परन्तु आपकी सामर्थ्य बनी रहे (संभव हो तो उसमें वृद्धि हो) इस हेतु आपको दूसरों की अपेक्षा आवश्यकता पूर्ति के अधिक साधन और प्रोत्साहन देना पड़ेगा। आपको अन्य कम सामर्थ्यवानों की अपेक्षा अपने श्रम का अधिक पुरस्कार मिलेगा। तब क्या आप यह स्वतंत्रता न चाहेंगे कि आप उस पुरस्कार का उपभोग करें या बचत। स्वभाव से ही मानव अपने बाल-बच्चों के लिए विशेष प्रबन्ध करना चाहता है और सब प्रकार का आश्वासन रहते हुए भी अनिश्चित और अज्ञात आपत्तिकाल के लिए कुछ बचत करना चाहता है। संसार के ज्ञातव्य इतिहास में व्यक्तिगत प्रयत्न, उद्योग और उपभोग का प्रमुख स्थान रहा है। पशु-पक्षी जगत में भी ऐसा ही अधिकतर पाया जाता है। अतः यह उचित ही जान पड़ता है कि व्यक्ति को अपनी बचत करने का अवसर दिया जाय। वह उसे किसी भी रूप में रखे। यदि कुछ पुरस्कार के लोभ में वह अपनी बचत अस्थायी रूप से दूसरों को दे दे तो लोक-कल्याण की संभावना बढ़ जाएगी। वे लोग, जो अधिक बचत नहीं कर सकते अथवा बचत को एक विशेष रूप (यथा भूमि का रूप) नहीं दे सकते, दूसरों की बचत को किराए पर लेकर अपनी उत्पादकता, राष्ट्रीय आय में अपना योग, अपनी क्रय शक्ति और रहन-सहन का स्तर उच्च कर सकेंगे। इस दृष्टिकोण से अनुपस्थित साधन-स्वामियों का होना वांछनीय ही नहीं वरन् अनिवार्य है। अतः एक हद तक अनुपस्थित भू-स्वामियों का होना भी अनिवार्य है।

अंतर्राष्ट्रीय प्रगति

संसार के विभिन्न देशों में राज्य द्वारा जमींदारी-उन्मूलन और बिचवइए-उन्मूलन नीति कार्यान्वित की जा रही है। अविकसित—विशेषतः दक्षिणी पूर्वी एशियाई-देशों में यह समझा जाता है कि ऐसा करने से कृषि की उत्पादकता, वृत्ति और देश का उत्पादन बढ़ जाएगा। भारत का उदाहरण ले लें तो स्थिति समझ में आ जाएगी। जहां जोतें अति छोटी हैं वहां कृषि-सुधार हेतु यह आवश्यक है कि श्रमिक दूसरे पेशों में लगाए जाएं। श्रम के दृष्टिकोण से खेती अत्यधिक प्राकर्षक (Intensive) हो उठी है। अब उत्तम बीज यंत्र, खाद आदि के दृष्टिकोण से ही प्राकर्षक खेती की संभावना है। श्रमिकों

को कृषि-उद्योग से हटाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण कच्चे माल उपयोग करने वाली फैक्टरियां निर्मित करनी चाहिए। इस दिशा में मरम्मत और कुशल श्रमिकों की कमी रोड़ा बनेगी। यदि ग्रामीण आवश्यकताओं और मांग के अनुरूप वस्तु निर्मिति की जाएं तो वस्तु की बिक्री की समस्या उठेगी ही नहीं। यदि उत्पादन कार्य संबंधी खोज, सहकारी उत्पादन व्यवस्था और कुटीर तथा छोटी मात्रा की उत्पादन इकाइयों पर विशेष-जोर दिया जाय तभी अर्ध-विकसित देशों की ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक अन्याय पूर्ण स्थिति हल हो सकेगी। जमींदारी उन्मूलन भी एक सहायक कदम है परंतु यह पर्याप्त नहीं है।

नवाँ परिच्छेद

जोत की समस्या

एक ऐसा भी समय था जब कि किसानों को खुशहाल बनाने के लिए उन्हें समझा-बुझाकर खेतो की चकबन्दी का प्रश्न प्रमुख स्थान प्राप्त कर चुका था। अब आजकल सहकारी तथा सामूहिक कृषि पर अधिक जोर और प्रकाश डाला जा रहा है। इसका कारण यह है कि हमारी प्रवृत्ति उन योजनाओं की ओर दौड़ने की पड़ गई है जो अन्यत्र सफल हो चुकी हों, चाहे उनकी सफलता किसी भी अवस्था या कारण से हुई हो। हमें निष्पक्ष रहना चाहिए। यह कहना पर्याप्त है कि जोत की समस्या संबन्धी सिद्धान्तों में काफी मतभेद है तथा यह उचित है कि इस समस्या की व्याख्या क्रमपूर्ण निष्पक्षता से की जाए।

छोटे तथा छितरे जोत की हानियाँ

यदि यह मान लिया जाय कि जोत का अर्थ एक व्यक्ति (या परिवार) द्वारा कृषित कुल कृषि क्षेत्र से है तो भारत में जोत विषयक दो कमियाँ हैं। प्रथम, उनका क्षेत्रफल बहुत कम है। द्वितीय, जोतें छितरी हैं। केवल भारत में ही छोटी जोत नहीं हैं। विदेशों में भी ये पाई जाती हैं। हॉलैन्ड में एक तिहाई जोतें, बेलजियम में दो तिहाई जोतें तथा फ्रान्स में एक चौथाई जोतें २½ एकड़ से भी कम की हैं। परन्तु उन स्थानों की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। इन छोटी-छोटी जोत के क्षेत्रों में किसानों का मुख्य पेशा कृषि नहीं है। चूँकि सामान्यतः भारत में किसानों की जिन्दगी बसर के लिए कृषि ही एक मात्र साधन है, जोत की समस्या एक महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर लेता है। ऊपर वर्णित दोनों कमियों के कारण जोत पर उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है। प्रथम, जोत को घटाते-घटाते ऐसी सीमा आती है जिसके बाद निश्चित पूँजी कम नहीं की जा सकती है। खेती का व्यय भी कमी के अनुपात से कम नहीं हो पाता। द्वितीय, संगठन पर भी प्रभाव पड़ता है। नहर से या कुँआ खोदकर सिंचाई कैसे की जाय? छोटी जोत तथा छितरे खेतों की स्थिति के कारण किसान की आर्थिक क्षमता अपर्याप्त हो सकती है तथा पड़ोस के किसान सहयोग के लिए अनिच्छुक

तथा असमर्थ हो सकते हैं। तृतीय, उन्नत प्रकार की कृषि-प्रणालियों का प्रयोग भी सम्भव नहीं हो सकता। चतुर्थ, विभिन्न खेतों की सामयिक तथा उचित देख-भाल मुश्किल हो सकती है। उत्पादन में अधिक व्यय के अतिरिक्त जोतों के कारण भूमि, समय तथा शक्ति नष्ट होती है। भूमि का दो प्रतिशत भाग केवल खेतों की सीमा के लिए मेडों के रूप में व्यर्थ जाता है।[१] इसका प्रयोग दोनों ओर के खेतों के लिये पानी की पूर्ति के लिए भी नहीं किया जाता है। यह भी सम्भव है कि छितरे होने के कारण प्रत्येक खेत में कृषि न की जा सके। एक खेत से दूसरे तक जाने में बहुत समय बरबाद होता है तथा पारस्परिक झगड़ों और मुकदमाबाजी में भी कम शक्ति तथा पैसा नष्ट नहीं होता है।

सामाजिक अन्याय

उपर्युक्त दोष क्षमतापूर्ण उत्पादन तथा आय के सदुपयोग से संबंधित हैं। इनके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि प्रति कृषक इतनी भूमि होनी चाहिए कि न केवल प्रति एकड़ उपज संतोषजनक हो वरन् कृषि संबंधित श्रम-शक्ति उपज साधारण जीवन-स्तर के लिए पर्याप्त हो। एक टन से कम अनाज की उत्पत्ति वाली जोतों का **प्रतिशत** मद्रास में ७४, बंगाल और बंबई में ५० तथा उत्तर प्रदेश में ५०% तक कुछ कम है। पंजाब में प्रति जोत औसत अन्नोत्पत्ति ३ टन से कुछ कम तथा मद्रास, बंगाल और उत्तरप्रदेश में लगभग २ टन है। यह तो निम्नतम पोषण के लिए भी अपर्याप्त है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह अति अवांछनीय है।

पक्ष की दलीलों की समीक्षा

छोटे तथा छितरे हुये खेतों के पक्ष में निम्नांकित तर्क दिए जाते हैं:— खेत खेत की मिट्टी भिन्न होती है, सिंचाई की कमी से हर प्रकार का खेत रखना उचित है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में अंशात्मक रोजगार मिलता है। परन्तु

[१] खेतों की सब मेड़ों को पूर्णतया हटा देना भी अवांछनीय है। उ० प्र० के पश्चिमी जिलों में किसानों ने धीरे धीरे पड़ोस के खेतों की मेड़ों के कुछ हिस्सों को काटकर अपने खेतों में मिला लिया है। इसलिए खेतों की सीमाएं लुप्त हो गई हैं जिससे खेत में भूमि का कटान प्रारम्भ हो गया है।

भारत में मिट्टी की विभिन्नता ऐसी अधिक नहीं है कि जोतों को एक एकड़ से कम कर दिया जाय। इसका यह भी अर्थ नहीं कि खेतों के छितरे होने की स्वीकृति दी जानी चाहिए। सिंचाई विषयक कठिनाइयों के कारण ही उपज अनिश्चित होती है तथा इनको दूर करने का यत्न किया जाना चाहिए और केवल खेतों के क्षेत्रफल तथा स्थिति को सिंचाई विषयक साधनों के अनुरूप व्यवस्थित नहीं करना चाहिए। अंत में, यदि किसान अपना पूरा दिन काम में न लगा सकता हो तो उसको ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह इस अवकाश-काल को या तो अधिक धनोपार्जन में (या मनोरंजन करने में) लगावे परन्तु केवल खेतों को छितरे स्थिति में नष्ट न करे। इसलिए जोत के क्षेत्रफल को बढ़ाने तथा तितर-बितर की स्थिति को घटाने की समस्या हल करनी ही है।[२]

मूल कारण और निदान

उपचार से पूर्व वह जानना आवश्यक है कि रोग के मूल कारण क्या हैं। मूलतः तीन कारण उल्लेखनीय हैं: (i) जनसंख्या का कृषि-भूमि पर अत्यधिक भार (ii) भू-स्वामित्व का विषय वितरण तथा (iii) राज्य की आर्थिक नीति। एक, दो या तोनों ही कारण क्रियाशील हो सकते हैं। तीसरा कारण पराधीन देशों में विशेष लागू होता है। अधिक जनसंख्या-भार से भूमि विभाजन होता है और देश के कानून—विशेषतः उत्तराधिकार कानून—इस परिस्थिति को बिगाड़ने में योग देते हैं। अधिक भूमि-विभाजन से जोतें अनार्थिक हो उठती हैं और कर्ज़ की अदाएगी में बड़े भू-स्वामियों और महाजनों के हाथ में पहुँच जाती हैं। इस प्रकार भूमि की विषम वितरण अधिक विषम हो

[२] महायुद्ध के पूर्व, रिजर्व बैंक आफ इन्डिया के जाँच द्वारा यह प्रकट हुआ कि पंजाब, उ० प्र० तथा म० प्र० में जोर के साथ चकबन्दी का काम हो रहा है। स्थायी भूमि व्यवस्था वाले प्रदेशों ने भू-प्रणाली की जटिलता तथा भूमि पर अधिकार विषयक रिकार्ड के अभाव के कारण चकबन्दी के लिए अपनी असमर्थता प्रकट की। आसाम तथा मद्रास सरकार ने इस समस्या का वर्तमान होना भी स्वीकार न किया। अन्य प्रदेश भूमि तथा भूमि अधिकार विषयक आवश्यक समंक एकत्रित कर चकबन्दी का काम प्रारम्भ करने वाले थे।

जाता है। परिस्थिति को सुधारने के लिए मूल कारणों को दूर करना चाहिए। जमींदारी उन्मूलन और भूमि-सुधार कानून द्वारा भू-स्वामित्व का वितरण तो कम विषम बनाया जा रहा है। भूमि की लालसा को पूरा करने के लिए अधिकतम जोत की सीमाएं निर्धारित की जा रही हैं और भू-दान आंदोलन जारी है। उत्पादन क्षमता वृद्धि की दृष्टि से एक ओर चकबंदी, सहकारी कृषि तथा सामूहिक कृषि के प्रयोग किए जा रहे हैं और दूसरी ओर जोत के विभाजन की निम्नतम सीमा निर्धारित की जा रही है। मूल कारण अर्थात् जनसंख्या का कृषि पर भार का उपचार अभी करना शेष है। अस्तु ! हम अब कुछ प्रचलित उपायों पर प्रकाश डालेंगे।

चकबन्दी

चकबन्दी करना और साथ ही केवल उत्तराधिकार, ऋण तथा दान द्वारा ही नहीं बल्कि भूमि को उप असामी को देने के कारण होने वाले भूमि के विभाजन को रोकने के लिए कदम उठाना ही समस्या का उचित उपचार होगा। भूमि उन्हीं को मिलनी चाहिए जो इसके लिए अत्यधिक योग्य हों तथा जिनमें कृषि के लिए रुचि हो। यदि उत्तराधिकार के कानून में ज्येष्ठाधिकार की प्रणाली संचालित कर इस दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया जाय तो समस्या का हल कुछ सीमा तक हो सकता है। पर इसके कारण यह कठिनाई उपस्थित होगी कि अन्य उत्तराधिकारियों को उनका भाग देने के लिए कोष कहाँ से लाया जाय तथा उनके जीवन यापन के लिए क्या साधन प्रस्तुत किए जाय ? यदि भूमि-विभाजन को भी एक निश्चित न्यूनतम सीमा के बाद रोक दिया जायगा तो यह कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं ? फिर भी ऐसा किया जाना वांछनीय है[३]। यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि किसान जोत के उप-विभाजन तथा बँटवारे की हानियों से अवगत हो सकें। यद्यपि यह निस्सन्देह उत्तराधिकार के नियमों के प्रयोग को सीमित करता है फिर भी यदि उत्तरा-

---

[३] कई प्रदेशों में एक निश्चित क्षेत्रफल के नीचे जोत के उपविभाजन पर अवरोध लगाया जा चुका है :—ग्वालियर, बड़ौदा, मद्रास। उ० प्र० के जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार कानून १९५१ में $3\frac{1}{8}$ एकड़ से कम जोत का विभाजन नहीं हो सकता है।

धिकार के कानून बदल दिए जायँ तो लोगों की भावनाओं को कम ठेस लगने की सम्भावना है। साथ-साथ यह भी प्रयत्न किया जाना चाहिए कि जो खेती में कम दिलचस्पी रखता हो वह खेती करने के विचार को त्याग दे। ग्रामीण पंचायतों द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है। जहाँ भूमि द्वारा दान हस्तांतरित की जाय, पंचायत शिक्षात्मक तथा नियामक काम कर सकती है। चाहे भूमि को दान से या विक्रय से (उत्तराधिकारियों का भाग या महाजन का ऋण चुकाने के लिए किया गया विक्रय भी) हस्तान्तरित किया जाय या भूमि की बेदखली द्वारा प्राप्त कर दुबारा वितरित किया जाय, यह वांछनीय है कि पड़ोसी खेतों के किसानों को भूमि-क्रय का अवसर पहले दिया जाय। इसका अर्थ यह होगा कि जोत के क्षेत्रफल में परिवर्तन होगा परन्तु प्रति जोत खेतों की संख्या में तथा खेतों के तितर-बितर की स्थिति में बढ़ाव की कम सम्भावना होगी। जोत का नियन्त्रण तथा अवरोध-कार्य पंचायत के हाथ में दिया जा सकता है।

अब तक हमने समस्या के हल के नकारात्मक पहलू पर ही विचार किया है। जहाँ तक सक्रिय रचनात्मक प्रणाली का सम्बन्ध है, प्रादेशिक सरकार, जो किसानों को समझा कर चकबन्दी के काम को चला रही थी, सन् १६३० से यह समझ चुकी कि यह प्रणाली बहुत प्रभावोत्पादक नहीं है। इसलिए कुछ प्रदेशों में आंशिक अनिवार्य चकबन्दी के लिए कानून बनाए गए[४]। सिद्धान्त यह है कि यदि गाँव की भूमि के कुछ भाग पर स्वामित्व रखने वाले मालिक किसानों का निश्चित प्रतिशत वर्ग सरकार तक चकबन्दी के लिए प्रार्थना-पत्र भेजता है तो सम्पूर्ण गाँव के लिए सरकार द्वारा चकबन्दी योजना बनाई और लागू की जायगी। कानून द्वारा चकबन्दी की गति बढ़ जायगी क्योंकि भू-मालिकों के एक छोटे वर्ग को आसानी से इस दिशा में समझा-बुझाकर प्रस्तुत किया जा सकता है। इससे ग्रामीणों के भू-प्रेम, कुछ मालिक द्वारा उत्पन्न बाधाएँ, दलगत भावनाएँ तथा नाबालिग, विधवा और अनुपस्थित मालिकों के अधिकार सम्बन्धी अड़चने आदि की कठिनाइयाँ

---

[४] मध्य प्रदेश (१६२८), उत्तर प्रदेश (१६३६, बड़ौदा (१६२०), पंजाब (१६३६)।

एक हद तक दूर की जा सकती है। गाँव में छोटे भू-अधिकारियों का संपूर्ण भू-अधिकारियों में जो अनुपात होता है वह उनकी भूमि का कुल भूमि से अनुपात नहीं होता। यथा, पंजाब में ६३·५% भू स्वामी के पास केवल १२·२% भूमि थी (१९३९), इसलिए चकबन्दी के लिए आवश्यक प्रार्थियों द्वारा अधिकृत भूमि का प्रतिशत उनकी आनुपातिक संख्या से कम कर देना चाहिए[५]।

चकबन्दी की धीमी गति

फिर भी भूमि के अपूर्ण लेखाजोखा (Records), पर्यवेक्षण द्वारा उसको पूर्ण करने की कठिनाई और व्यय, उलझी भूमि कर प्रणाली तथा किसानों को चकबन्दी के लिए तैयार करने की कठिनाई प्रशिक्षित क्षमतावान कर्मचारियों की कमी आदि के कारण चकबन्दी की गति धीमी हो जाती है[६]।

---

[५] जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि-सुधार एक्ट, उ० प्र०, १९४९ के अन्तर्गत प्रत्येक सहकारी फार्म का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकृत भूमि की चकबन्दी के लिए कदम उठाए। और १० भूमिधर या सीरधर जो कम से कम ५० एकड़ भूमि को रखते हों एक सहकारी कृषि समिति का निर्माण कर सकते हैं। जहाँ तक अनार्थिक जोत का संबंध है अनार्थिक जोत वाले $\frac{2}{3}$ भूमिधर या सीरधर जिनके पास सम्पूर्ण अनार्थिक जोतों का $\frac{2}{3}$ क्षेत्र हो सहकारी फार्म के लिए आवेदन पत्र देना पड़ेगा। उ० प्र० चकबन्दी एक्ट, १९३९ के अन्तर्गत चकबन्दी तभी होती जब खेतिहर भूमि के $\frac{1}{3}$ कृषक इसकी माँग करते। इसी तरह यह वांछनीय है कि जमींदारी उन्मूलन कानून में भी पर्याप्त सुधार होना चाहिए कि यदि अनार्थिक जोत वाले भूमिधर या सीरधर जिनका जोत उस विशेष क्षेत्र के कुल अनार्थिक जोत के $\frac{1}{3}$ के बराबर हो, एक सहकारी फार्म की माँग कर सकते हैं। मुख्य ध्यान में रखने लायक बात यह है कि किसी सहकारी फार्म के लिए आवश्यक न्यूनतम क्षेत्र का आनुपातिक संबंध खेतिहर अनार्थिक जोतों के कुल क्षेत्र से होना चाहिए और कुल कृषि क्षेत्र से नहीं।

[६] यह कहा जाता है कि १९२१-४९ के बीच पू० पंजाब में ११ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी लगभग १६०० समितियों द्वारा लगभग १·रु० ९२ आ० प्रति एकड़ के दर से हो चुकी है। उ० प्र० में लगभग दो दशक में ५६०

बाध्य-चकबन्दी

अधिक क्षमतापूर्ण उत्पादन के हित में यह उचित है कि चकबंदी का कार्य कानून द्वारा अनिवार्य रूप से किया जाए। अतः बंबई (१९४७), पंजाब (१९४८), पेप्सू तथा उत्तर प्रदेश में ऐसी अनिवार्य चकबंदी की व्यवस्था की गई है। उत्तर प्रदेश के चकबंदी अधिनियम, १९५३, के अंतर्गत राज्य सरकार किसी भी जिले में चकबंदी कर सकती है, परन्तु यह कार्य ग्राम व्यवस्था समितियों के सहयोग से पूरा किया जाएगा। कम जोत वालों को आबादी के पास जमीन मिलेगी। दूसरों के भी घर और किए भूमि-सुधारों का ध्यान रखा जाएगा। सवा छः एकड़ से अधिक क्षेत्र वाले खेत के यथासंभव टुकड़े न किए जायेंगे। जिसका जिस ब्लाक में [७] भूमि है उसे यथासंभव उसी ब्लाक में भूमि दी जायगी। एक ही कुटुम्ब के लोगों को पास-पास जोत देने का प्रयत्न किया जायगा। परन्तु यथेष्ट आंकड़ों के अभाव में चकबंदी कार्य का शीघ्र पूरा होना संभव नहीं है। अस्तु।

यदि हम एक दिन में ही सारी भूमि की चकबन्दी करने में सफल हो जावें फिर भी जोतें छोटी रहेंगी। जोत के ६०% से भी अधिक भाग ५ एकड़ से भी कम होगा। इसलिए केवल चकबन्दी ही अपर्याप्त होगी। कुछ अन्य

समितियों द्वारा ११ आना प्रति एकड़ के दर से लगभग १·७५ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हुई। म० प्र० में १९२८-३७ के बीच लगभग ११.३ लाख एकड़ भूमि ४ आ० प्रति एकड़ के दर से चकबन्दी की गई। तीनों प्रदेशों में खेतों की संख्या घटकर क्रमशः $\frac{१}{६}$, $\frac{२}{१९}$ तथा $\frac{१}{७}$ हो गई। १० वर्षों में २० मद्रासी समितियों ने १४६३ एकड़ भूमि की चकबन्दी की। कुल ३० वर्ष में लगभग ३० लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हुई।

[७] आबादी को छोड़कर गांव की भूमि चार प्रकार के ब्लाक में बांटी जायगी: (i) चावल वाली (ii) अन्य एक फसली (iii) मुख्य तथा दो फसली तथा (iv) नदी द्वारा प्रभावित। गांव में जमीनों के जितने ब्लाक होंगे इतने से अधिक जोत के टुकड़े किसी भू-अधिकारी को नहीं दिया जायगा।

प्रादेशिक सरकार इस कार्य को सुल्तानपुर और मुज़फ्फरनगर के जिलों की एक-एक तहसील में आरंभ कर रही है। (मई, १९५४)

प्रकार के सम्भावित रास्तों पर विचार करना वांछनीय है। सहकारी-कृषि उनमें से एक है : सामूहिक कृषि दूसरी।

सामूहिक कृषि

रूस में सामूहिक-कृषि संस्थापित हो चुकी है। परन्तु सामूहिक कृषि (कोल्खोज Kolkhoz) जनता द्वारा स्वतः स्वेच्छापूर्वक निर्मित संस्था नहीं है। प्रत्यक्षः इसकी प्रबंध समिति जनतंत्रात्मक ढंग से निर्वाचित होती हैं परन्तु वस्तुतः प्रबंध-समिति के ऊपर निरंतर सरकारी व्यक्ति रहता है जो सरकार द्वारा निर्धारित उत्पादन तथा मूल्य नीति पर अक्षरशः चलती है। सामूहिक फार्म के सदस्य कृषि के किसी एक भाग में मशीन के समान निर्जीव या विशेषज्ञ मजदूर की तरह काम करते हैं। वे व्यक्तिगत रूप से निर्णय और साहस नहीं कर सकते। वे अपने व्यक्तित्व को खो देते हैं। उनको यह निश्चयात्मक रूप से ज्ञात नहीं रहता कि अगले साल वे कहाँ और किस खेत पर काम करेंगे। वे नहीं जानते कि यदि वे किसी भूमि के किसी भाग पर स्थायी सुधार करते हैं। तो उनके परिश्रम का फल उस विशेष वर्ष के बाद उनको मिलेगा। सामूहिक कृषि यांत्रिक कृषि का रूप ले लेती है। दीर्घकालीन दृष्टिकोण से कृषि का विकास जीवन-यापन के एक सामान्य भाग के रूप में होना चाहिए। यांत्रिक कृषि इस उद्देश्य को नहीं प्राप्त कर सकती।

सहकारी-कृषि

भारत में अब भी (१ खेती के लिए (२) तथा अल्पकाल में बड़ी मात्रा पर कृषि के लिए अधिक भूमि की आवश्यकता है। दीर्घकालीन दृष्टि से आज की अपेक्षा बड़ी जोतों की आवश्यकता है। सहकारी कृषि उपाय एक है[८]। इसकी व्याख्या वर्तमान जोतों और नए खेतों दोनों को ध्यान में रख करना चाहिए।

---

[८] इस पद के अर्थ की सविस्तार व्याख्या इस अध्याय की परिशिष्ट में है।

यहां यह बता दें कि कांग्रेसीय भूमि सुधार समिति, तथा योजना आयोग द्वारा सहकारी कृषि का समर्थन किया गया है। म० प्र० की सरकार ने यांत्रिक कृषि तथा सहकारी कृषि की सम्भावना और क्षेत्र-विदयक जाँच के लिए एक कृषि-नीति-समिति का संस्थापित (१६४६) में की थी। म० प्र० में चाँदा से २० मील

जहां तक कृषि भूमि का सम्बन्ध है आसामियों को इसके लिए तैयार कर वे बड़ी मात्रा की कृषि के लिए भूमि का एकत्रीकरण करें या वे सहकारी-कृषि के लिए अपनी भूमि-स्वामित्व का त्याग करें या भू-स्वामित्व के बदले में समिति के हिस्से ले लें। अल्पकाल में प्राकर्षक कृषि प्रणाली को ही प्रोत्साहन देना चाहिए क्योंकि बड़ी मात्रा की कृषि सहायक न होगी। एक बात और है: क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि मजदूरों की कमी बढ़ रही है किसान इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि मशीन प्रयोग के लिए सहकारी समितियों का निर्माण किया जाय जिससे कि सामयिक मौसमी मजदूरों की माँग घटाई जा सके[१]।

दूर पर विहार में ३००० एकड़ भूमिपर १०० विस्थापित परिवारों को बसाने के लिए सहकारी कृषि विषयक प्रयोग हो रहा है। मद्रास सरकार ने ६ बस्तियों में जिनमें १०३६३ एकड़ भूमि है तथा लगभग ४२६४ एकड़ भूमि जोती जा चुकी है फौज से निकाले हुए कर्मचारियों को बसाया है। बम्बई ने पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत २१ लाख रुपया खर्च कर सम्पूर्ण प्रदेश में सहकारी कृषि समितियों का संस्थापन कर रही है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जोत की चकबन्दी, उन्नत कृषि प्रणाली तथा बाजार विषयक और कुटीर तथा छोटी मात्रा के उद्योगों के विकास द्वारा किसानों के उत्पादन और लाभ को बढ़ाया जाय। मैसूर ने उत्तरी बंगलोर तालुके में भूमि उपनिवेशीकरण के लिए सहकारी योजना बनाई है तथा मल्लावली तालुके में आदिकरनाटक के भूविहीन परिवारों को इसी प्रकार बसा रही है। उ० प्र० में जमींदारी उन्मूलन कानून में सहकारी कृषि के लिए विधान बनाया है। झाँसी जिले के दो गाँवों में सहकारी सामूहिक कृषि का प्रयोग हो रहा है।

[१] बंबई सरकार ने ये सुविधाएं देने का बचन दिया है (१) ऐसे जमींदारों को जो सम्मिलित कृषि के लिए जमीन का एकत्रीकरण करें एक साल के लगान की छूट तथा यदि आवश्यक हो तो तीन वर्ष के लिए बीज, खाद और यंत्र खरीदने के लिए आर्थिक सहायता देना, (२) मूल्यवान यंत्र के क्रय के लिए ३½% ब्याज की दर से ऋण देना, (३) गोदाम के निर्माण के लिए आर्थिक सहायता, (४) बेकार भूमि के विकास के लिए ऋण देना यदि विकास का काम कृषि-विभाग के हाथ में हो: नहीं तो २५% आर्थिक सहायता तथा अवशेष लागत का ७५%

समस्या का उत्तम दूसरा हल यह होगा कि बीज, खाद तथा यन्त्रों की पूर्ति करने के लिए सहकारी कृषि-समितियों (या सहकारी उन्नत कृषि समितियों) का निर्माण किया जाय। ऐसे प्रदेशों में जहाँ पर जमींदारी तथा सामंतवाद के उन्मूलन द्वारा लगान प्रणाली में परिवर्तन हो रहा है, पुनर्वासन के लिए सरकारी आर्थिक सहायता तथा अन्य सुविधाएं (यथा उ० प्र० में) उन किसानों को दी जाय जो कि सहकारी समिति के सदस्य हैं।

नए खेतों पर सहकारी कृषि-समितियों द्वारा सहकारी कृषि-प्रणाली का प्रदर्शन कर उसके लाभ किसानों के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए। बेदखली द्वारा प्राप्त भूमि को यथासंभव सहकारी समितियों को देने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

यथासम्भव प्रत्येक सहकारी समिति को लगभग १०० एकड़ भूमि पर आसामी के रूप में मौरूसी अधिकार प्राप्त होना चाहिए। सरकार यन्त्रों क क्रय के लिए तथा सदस्यों को प्रोत्साहन देने के लिए अंशात्मक रूप में आर्थिक सहायता दे सकती है। लगान, सिंचाई का मूल्य तथा अन्य व्यय कई वर्षों तक छोड़े जा सकते हैं। जमीन को आंशिक रूप से उठाने, रेहन करने तथा उप-विभाजन करने का अधिकार इस शर्त पर समिति को दिया जा सकता है कि खेत का विभाजन न्यूनतम निर्धारित क्षेत्रफल से कम न हो। जमीन का रेहन केवल किसी सहकारी संस्था के पास किया जाए और समिति के सदस्यों को ऐसे अधिकार नहीं प्रदान किए जाने चाहिए।

आरंभ में समिति सदस्यों को मजदूरी देकर कृषि का काम स्वयं करा सकती है तथा मजदूरी के व्यय को घटाकर प्राप्त लाभ का वितरण सदस्यों द्वारा अर्जित मजदूरी के अनुपात से किया जा सकता है। बाद में समिति भूमि के पाँच-पाँच एकड़ के टुकड़े बनाकर सदस्यों को निजी खेती के लिए दे सकती है। तत्पश्चात समिति क्रय या अन्य प्रकार से आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कर सकती है। पंचायत का भी सहयोग लेकर समिति सदस्यों का उत्पादन के क्षेत्र

दीर्घकालीन ऋण के रूप में ३½% ब्याज की दर से देना तथा (५) विशेष सहायताएं यथा, पिछड़ी जातियों या पिछड़े में निर्मित समितियों के पूँजी धन में वृद्धि के लिए ४००० रुपए की सहायता करना।

में पथ प्रदर्शन कर सकती है। निस्सन्देह सरकार अर्थ, व्यवस्था तथा प्रबंध विषयक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है परन्तु शिक्षित उदार तथा ग्राम के शिक्षित युवक-दल की सहायता से प्रगति द्रुतगामी हो सकती है।

इस तरह हमारा मत है कि जोत का क्षेत्र अवश्य बढ़ाया जाय तथा उनके छितरे बितरे होने की दशा को घटाया जाय। सहकारिता के आधार पर सम्मिलित कृषि प्रयोग किया जा सकता है परन्तु इसके रास्ते में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। जमींदारी उन्मूलन के बाद सहकारी कृषि प्रणाली के लिए अधिक संभावना है। फिर भी यह परिलक्षित है कि जोत की मात्रा को बढ़ाने के लिए सविस्तार प्रयत्न किया जाना चाहिए तथा इसके लिए अधिक अंश में अनिवार्यता लागू करनी चाहिए। पूरे ग्राम के लिए उपज योजना केन्द्रीभूत की जानी चाहिए तथा उपज की चकबन्दी (अर्थात् पास पास के खेतों में एक ही फसल पैदा करना) को प्रोत्साहन देना चाहिए।

अर्थ की कठिनाई तथा जोत बढ़ जाने के कारण गाँव में बेकारों को अन्य रोजगार देने की समस्या वर्तमान ही रहेगी। दीर्घ तथा अल्पकालीन बैंक प्रणाली तथा ग्रामीण उद्योगों—सहायक और कुटीर—के विकास इसका हल हो सकता है। सहकारी कृषि-समितियों या स्वतंत्र सहकारी उत्पादन-समितियों के अन्तर्गत ग्रामीण उद्योगों को स्थापित तथा विकसित करना संभव है। कुछ लोगों के मत से यह सब आयोजन चकबन्दी से पहले हो जाना चाहिए पर यह सच नहीं है।

अधिकतम जोत

कुछ समय से भूमि विहीन किसानों और खेतिहर-मज़दूरों को भी भूमि देने का विचार प्रबल हो रहा है। यदि उन्हें, विशेषतः यदि खेतिहर मज़दूरों को भूमि नहीं मिलेगी तो संभव-राजनैतिक आंदोलनों की आशंका से सरकार सिहर उठी है। दक्षिण भारत में ऐसा संकेत मिला था। अतः बड़ी बड़ी जोतों को तोड़ना, जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करना और प्रेम तथा अहिंसा द्वारा भू-दान मांगना—ये सब उस राजनैतिक गड़बड़ी के भय के परिणाम हैं।

इसके दो मुख्य आर्थिक पहलू हैं। प्रथम, जिन खेतिहर मज़दूरों को भूमि मिलेगी उनके पास प्राकर्षक या उत्तम खेती करने के लिए अन्य साधन, पूंजी, उचित मूल्य का आश्वासन और रूढ़िवादी जीवन बदलने के लिए शिक्षा मिलें अन्यथा प्रति एकड़ उपज गिरने का डर रहेगा। परंतु इस तर्क में आशा की किरण यह है कि प्रत्येक किसान अपनी भूमि से अधिकतम उपज की भरपूर चेष्टा करता है। द्वितीय, जोतों के छोटा हो जाने के कारण खेती के आधुनिक ढंग और यंत्रों का प्रयोग न हो सकेगा। यदि अधिकतम जोत की सीमा ३० एकड़ रखी जाए (जैसा उत्तर प्रदेश में है) तो शायद ८% भूमि पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध होगी। परंतु योजना आयोग ने लिखा है कि नई-तोड़ी भूमि और वर्तमान जोतों के संबंध में यह सीमा नहीं लागू हो। संयुक्त परिवार और उत्तराधिकार-कर के लागू होने के कारण उठनेवाली परिस्थिति में भी यह सीमा नहीं लागू की जाए। तब तो शायद ४% भूमि भी पुनर्वितरण के लिए नहीं प्राप्त होगी।

कांग्रेस भूमि सुधार समिति

कांग्रेस भूमि सुधार समिति ने "आर्थिक जोत" की परिभाषा की दो कसौटियां बताई थीं:—(i) किसान का जीवन स्तर साधारणतया उपयुक्त हो (ii) सामान्य मात्रा की गृहस्थी और कम से कम एक बैल की जोड़ी को खेत पर काम मिल सके। समिति ने कहा था कि उपयुक्ततम (और अधिकतम) जोत इसकी तिगुनी समझी जाए।

योजना आयोग

यह भी ज्ञातव्य है कि योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतिम संस्करण में ही "अधिकतम सीमा" के पक्ष में निर्णय किया था परंतु उन्होंने कोई सीमा नहीं निर्धारित की। उन्होंने गृहस्थ-जोत (Family Farm) की परिभाषा यह दी है—"ऐसी जोत जिसकी व्यवस्था सामान्य गृहस्थी मौसमी मज़दूरों (Seasonal Labour) की सहायता से कर सकती है।" वे ऐसी जोत के तिगुने को "अधिकतम जोत की सीमा" मानने के पक्ष में थे। यद्यपि वे कांग्रेस कृषि सुधार समिति द्वारा निर्देशित अधिकतम सीमा के भी विपक्ष में नहीं हैं। परंतु ये सैद्धान्तिक बातें हैं। ऐसे विचारों को कार्यान्वित करने के लिए

पर्याप्त और उपयुक्त आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। यदि व्यवहार में कोई अधिकतम सीमा सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है तो वह अधिकतर बेबुनियाद होगी। हम यह मानते हैं कि किसी आदर्श स्थिति में किसी के पास इतनी अधिक भूमि न हो कि जन कल्याण (Public interest) का अहित हो। परंतु उसी जनकल्याण के हित में अभी "अधिकतम सीमा"[१०] से अधिक महत्वपूर्ण समस्या जोतों को विभाजित तथा छितरे होने से बचाने की है।

---

[१०] सन् १९५३ की कृषि-मंत्रियों के केन्द्रीय सम्मेलन भी अधिकतम जोत के पक्ष में निर्णय नहीं कर सका। उसने यह कार्य राष्ट्रीय विकास काउंसिल के ऊपर छोड़ दिया था।

नवें अध्याय का परिशिष्ट

सहकारी कृषि

रजिस्ट्रारों का अधिवेशन

सहकारी रजिस्ट्रारों के १४वाँ अधिवेशन ने यह स्वीकृत किया था कि जहाँ भी सम्भव हो तथा जहां परिस्थितियाँ अनुकूल हों वहाँ सहकारी सम्मिलित कृषि प्रणाली संचालित की जानी चाहिए। परन्तु कम से कम प्रत्येक प्रदेश में एक सहकारी कृषि का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस स्वीकृति से यह प्रश्न उठता है कि क्या अधिवेशन सहकारी सम्मिलित कृषि और सहकारी कृषि के बीच कोई भेद मानता है या दोनों का अर्थ एक ही माना गया है?

सहकारी रजिस्ट्रारों के १५वें अधिवेशन ने सहकारी योजना समिति (जिसे कि सरैया (Saraiya) समिति भी कहते हैं) के सहकारी कृषि विषयक राय को माना और यह स्वीकृति प्रदान की कि जो फौज से निकाले लोग सरकार द्वारा दी गई जमीन पर बस गये हों वे अपनी भूमि केवल सहकारी कृषि (समिति को ही या फिर किसी ऐसे सदस्य जिसकी स्वीकृति समिति दे दे) बेचें। उनका अगला सुझाव यह था कि एक प्रतिनिधि मंडल को जिसमें सहकारी आन्दोलन के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हों सामूहिक कृषि-प्रणाली के अध्ययन के लिए रूस भेजा जाय। स्पष्ट है कि अधिवेशन सहकारी कृषि तथा सामूहिक कृषि में भेद मानता है यद्यपि शायद इसके मत में रूसी कोलखोज प्रणाली के कुछ अंशों का अनुकरण भारत में भी किया जा सकता है।

सहकारी योजना-समिति

सहकारी योजना समिति ने प्रथम तो सामूहिक कृषि, सरकारी कृषि तथा संघबद्ध कृषि (Collective Farming, State Farming and Corporate Farming) के बीच भेद की रेखा खींची। इस समिति के अनुसार सामूहिक कृषि निम्नांकित तीन रूप ले सकती है :—

(१) जहाँ पर केवल सामूहिक पशुपालन तथा कृषि हो, विशेषकर खानाबदोश जातियों में।

(२) जहाँ पर जीवन-निर्वाह सामूहिक गृह, पाकशाला तथा भोजनालय के साथ होता हो ।

(३) जहाँ पर भूमि का स्वामित्व सदैव के लिए हस्तान्तरित कर समिति को दे दिया जाय । भूमि और सभी संपत्ति पर सब का अधिकार होगा। काम सामूहिक रूप से किया जायगा तथा मजदूरी का आधार प्रत्येक सदस्य के काम के दिनों की संख्या की इकाई होगी । परिवार अलग अलग रहते तथा भोजन करते हैं। प्रत्येक के पास अपना अलग उद्यान होता है । सदस्यता खुली होती है । फसल-योजना सरकार द्वारा तैयार की जाती है और वही अपने निर्णीत दर के अनुसार एक अनुमानित औसत उत्पादन का एक निश्चित अंश लेती है ।

सरकारी कृषि प्रणाली में भूमि पर राजकीय स्वामित्व रहता है। इसका प्रबंध मजदूरी प्राप्त श्रमिकों की सहायता से सरकार के लिए होता है । संघबद्ध कृषि प्रणाली पूँजीवादी सिद्धान्तों पर आधारित होती है । लाभ-प्राप्ति ही इसका आधार है तथा केवल कारपोरेशन (संघ) के सदस्यों के लाभ के लिए ही इसका संचालन होता है । श्रमिक के हितों की अवहेलना की जाती है: यथार्थतः श्रमिकों का शोषण होता है ।

सहकारी योजना समिति ने संघबद्ध कृषि को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि इसमें पूँजीवाद के सामान्य अवगुण वर्तमान हैं। राजकीय कृषि केवल प्रयोग तथा प्रदर्शन के उद्देश्य के लिए ही उचित समझी गई । सामूहिक कृषि को इसलिए अस्वीकृत किया गया कि जनता इसके द्वारा अधिकार या सम्पत्ति-हरण के भय से उत्तेजित हो सकती है । शायद समिति का यह मतलब था कि सामूहिक कृषि का व्यक्तिगत भूस्वामित्व के उन्मूलन के रूप में गलत अर्थ लगाया जा सकता है । फलस्वरूप उसने उन प्रणालियों का ही पक्ष लिया जिनमें सहकारी कृषि के साथ स्वामित्व की सुरक्षा भी निहित हो ।

समिति ने सहकारी कृषि के चार रूपों की व्याख्या की है :—

(१) सहकारी उन्नत कृषि (cooperative better farming)

(२) सहकारी सम्मिलित कृषि (cooperative joint farming)

(३) सहकारी आसामी कृषि (cooperative tenant farming)

(४) सहकारी सामूहिक कृषि (cooperative collective farming)

(१) सहकारी उन्नत कृषि समिति का उद्देश्य यह है कि सदस्यों का एक कृषि योजना के अनुसार निर्देशन करके उन्नत प्रकार से कृषि-कार्य संचालित किया जाय। प्रत्येक सदस्य स्वतंत्र होता है और वह कुछ विशेष उद्देश्य के लिए ही समिति का सदस्य बनता है। समिति सामूहिक रूप से बीज और खाद के क्रय, उत्पादन के संचयन, सफाई, किस्मांकन या श्रेणीकरण तथा विक्रय का काम, जुताई, कटाई, निरीक्षण तथा निगरानी और यंत्र के प्रयोग का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर ले सकती है। वर्ष के अंत में सदस्य संरक्षित लाभांश प्राप्त कर सकती है।

क्या इसका यह अर्थ है कि यदि कोई व्यक्ति चाहे तो वह समिति के कार्यों के कुछ अंश में सम्मिलित होने के लिए सदस्य बने? या बहुमत द्वारा किए गए निर्णय का सब सदस्य पालन करेंगे? यदि बहुमत किसी प्रस्ताव पर सहमत है तो क्या उसका पालन करना अनिवार्य होगा? यदि ऐसा हो—और सामान्यत: किसी भी सहकारी समिति में ऐसा ही होता है—तब "किसी विशेष उद्देश्य के लिए समिति का सदस्य अन्यथा स्वतंत्र" वाली उक्ति का का कोई अर्थ नहीं है। यह भी कहा जाता है कि साल के अन्त में ऐसे सदस्य अर्जित लाभांश प्राप्त कर सकते हैं। क्या इसका अर्थ यह है कि यद्यपि साल के अन्त में वास्तविक लाभ हो, सदस्य को उसका हिस्सा नहीं मिले। यदि हाँ, तब यह आवश्यक होगा कि समिति उन्हीं कामों को अपने हाथ में ले जो सदस्यों के बहुमत द्वारा स्वीकृत हों। समिति के विभिन्न कार्यों द्वारा प्राप्त लाभ का लेखा जोखा अलग अलग करने के प्रयत्न के बजाय यह वाँछनीय होगा कि समिति से किए गए प्रत्येक सदस्य के व्यापार के अनुपात से एक सामान्य लाभांश बांटा जाय।

(२) सहकारी सम्मिलित कृषि समिति में छोटे-छोटे मालिक अपनी भूमि मिलाकर एक सम्मिलित फसल-योजना, सम्मिलित क्रय-विक्रय, सम्मिलित साख और सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं। प्रत्येक सदस्य अपनी दैनिक मजदूरी प्राप्त करता है। भू-स्वामित्व का सिद्धान्त माना जाता है और

समिति को प्रदत्त भूमि की मात्रा के अनुसार ही प्रत्येक सदस्य को प्रत्युपलब्धि दी जाती है। वास्तविक बचत में से प्रत्येक सदस्य को उसके द्वारा उपार्जित मजदूरी के अनुपात से लाभांश दिया जाता है। यदि कोई सदस्य समिति से स्तीफा देकर अपनी भूमि वापस लेना चाहता हो तो उसकी भूमि पर समिति द्वारा किए गए विकास के बदले में उसे मुश्रावजा देना पड़ेगा।

समिति का यह भी अस्पष्ट विचार कि स्तीफा देने वाले सदस्यों को भूमि नहीं लौटायी जाए। इस तरह एक सहकारी सम्मिलित कृषि समिति की कल्पना में एक अस्पष्टता यह रह जाती है कि मूलतः समिति को प्रदत्त भूमि लौटायी जा सकती है और नहीं भी। यदि मूल भूमि किसी सदस्य को वापस दे दी जाती है तो समिति द्वारा संचालित किसी कृषि-योजना पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यदि स्तीफा देने वाले सदस्य की भूमि सम्पूर्ण भू-क्षेत्र के बीच में हुई तो वह सदस्य अपनी पुनः प्राप्त भूमि तक पहुँचने के लिए एक रास्ता की माँग कर सकता है तथा एक चतुर्दिक सीमा का निर्माण भी करना पड़ेगा। उचित विधान यह होगा कि सम्पूर्ण भू क्षेत्र के किसी अंतिम छोर पर स्थिति भूमि को वापस किया जा सकता है। यह विचार कर लेना भी वांछनीय है कि सदस्य प्राप्त भूमि पर स्वयं खेती करेगा या भूमि किसी आसामी को उठा देगा। हमारा विचार है कि यदि स्तीफा देने वाला सदस्य समिति को विश्वास न दिला सके कि वह स्वयं खेती करेगा तो उसकी भूमि वापस नहीं करनी चाहिए।

(३) सहकारी आसामी कृषि-समितियों का संस्थापन समिति द्वारा अधिकृत या लगान पर लिए गए भूमि पर हो सकता है। इसमें सम्मिलित योजना तो होती है परन्तु योजना व्यक्तिगत रूप कार्य में क्रियान्वित की जाती है। इसमें सामूहिक साख, पूर्ति तथा विक्रय विषयक सुविधाएँ तो हैं परन्तु सदस्य चाहे तो उनसे लाभ उठाए या नहीं। प्रत्येक सदस्य एक जोत प्राप्त करता है, इसका लगान समिति को देता है तथा अदा किए लगान के अनुपात में लाभांश प्राप्त करता है।

इस नियम के अन्तर्गत समिति के लिए यह छूट नहीं है कि यदि सुविधाओं से लाभ उठाने वाले सदस्य अल्प-संख्यक हों तो वह उन्हें सुविधाएँ

प्रदान नहीं करे, द्वितीय, चाहे किसी भी सीमा तक सदस्य प्रदत्त सुविधाओं का प्रयोग करे, उसको उसके द्वारा दिए गए लगान के अनुपात से ही लाभांश मिलेगा। अतः जब तक यह मान न लिया जाय कि सभी या बहुसंख्यक सदस्य सभी सुविधाओं का एक ही समान लाभ उठाएंगे या यह कि सुविधाओं का लागत के अनुसार ही मूल्य निर्धारण होगा, केवल अदा किए गए लगान के अनुपात से लाभांश की अदायगी सदस्यों द्वारा प्राप्त सुविधाओं के अनुपात के प्रतिकूल होगा। शायद समिति का विचार लागत के अनुसार ही सुविधाएँ प्रदान करना है।

(४) सहकारी सामूहिक कृषि समितियाँ स्वतन्त्र अधिकृत या पट्टे पर प्राप्त भूमि (Freehold or Leasehold) पर संस्थापित होती हैं। भूमि समिति के अधिकार में रह भी सकती है या नहीं भी रह सकती है। इसमें सम्मिलित कृषि होता है तथा सदस्यों को मजदूरी दी जाती है तथा साल के अन्त में उपार्जित मजदूरी के अनुपात से लाभांश का वितरण होता है। जो सदस्य स्तीफा देता है वह दिए गए पूँजी धन को पुनः प्राप्त कर सकता है। भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार समाप्त नहीं होता है। उत्पादन का प्रोग्राम समिति द्वारा निर्धारित होता है। सरकार न तो उत्पादन योजना ही कड़ाई के साथ लागू करती है न कोई मूल्य संबंधी नीति।

यदि पट्टे पर प्राप्त भूमि पर समिति का निर्माण होता है तो यह स्पष्ट है कि भूमि के प्रयोग के लिए उसकी कीमत के अनुपात से लगान अदा करना पड़ेगा। यह रकम सम्भवतः पूर्व संविदे से ही निश्चित कर ली जायगी तथा प्रति साल घटती बढ़ती अनिश्चित-सी नहीं रहेगी, जब कि सहकारी सम्मिलित कृषि-समिति में भूमि के मूल्य पर आधारित लाभांश घटता-बढ़ता रहेगा। यदि ऐसा नहीं हो सकता है तो सचमुच ही सहकारी सम्मिलित कृषि तथा सहकारी सामूहिक कृषि में एक ही भेद रह जाता। सम्मिलित कृषि समिति में भूमि का स्वामित्व समिति के हाथ में नहीं रहता। व्यवहार में सहकारी सम्मिलित कृषि समिति में भी सरकार फसल योजना तथा मूल्य निर्धारण को पूर्ण नियंत्रित नहीं करती तथा सहकारी सामूहिक कृषि समिति में स्तीफा देने वाला सदस्य केवल वापसी में अदा किया पूँजी धन ही नहीं बल्कि पट्टे

में (या लगान) पर दी गई भूमि भी प्राप्त करता है। यह स्पष्ट नहीं है कि सहकारी सामूहिक कृषि प्रणाली में सदस्य द्वारा अदा किए गए पूँजीधन को वापस किया जायगा या नहीं। अनुमानतः समिति इसके विपक्ष में नहीं है तथा हमारे विचार में पूंजीधन का पुरस्कार अवश्य दिया जाना चाहिए।

कैप्टन मोहिते की रिपोर्ट (Capt. Mohite's Report)

स्पष्ट है कि सहकारी योजना-समिति द्वारा निर्धारित सहकारी कृषि की रूपरेखा दोषों से मुक्त नहीं है। कैप्टन मोहिते द्वारा बम्बई सरकार के समक्ष प्रस्तुत एक दूसरी रिपोर्ट है। उसमें सहकारी कृषि चार विभागों में बँटी है :—

(१) सहकारी उन्नत कृषि
(२) सहकारी सम्मिलित कृषि
(३) सहकारी आसामी कृषि

(४) सहकारी सामूहिक कृषि सहकारी योजना समिति द्वारा निर्णीत उपभेदों के समान ही ये विभाग हैं। परन्तु इनकी कल्पना में कुछ अन्तर है। यथा, सहकारी उन्नत कृषि में सभी सदस्य समिति द्वारा निर्धारित कृषि की नीति पर चलने के लिए स्वीकृति देते हैं : समिति अन्य गौण प्रकार के पेशों का संचालन भी कर सकती है। सदस्य जिस उद्देश्य के लिए समिति का सदस्य बनता है उसको छोड़ कर वह स्वतन्त्र होता है। पूंजीधन हिस्सों के द्वारा संचित की जाती है परन्तु उसको लौटाने का कोई उल्लेख नहीं है। यह निश्चित रूप से स्पष्ट उल्लिखित है कि समिति में उनके सदस्यों द्वारा किए व्यापार के अनुपात से लाभांश सदस्यों में बांटेगी।

सहकारी सम्मिलित कृषि समिति में व्यक्तिगत स्वामित्व की भूमि का संचयन मात्र ही नहीं किया जाता परन्तु क्रय तथा पट्टे पर भी भूमि प्राप्त की जाती है। इस तरह यह समिति में सहकारी सम्मिलित कृषि समिति तथा सहकारी सामूहिक समिति—दोनों के सिद्धान्तों का मिश्रित रूप है। कोई स्पष्ट सुझाव नहीं दिया है कि किसी स्तीफा देने वाले सदस्य का भूमि उसको लौटायी नहीं जायगी। उपार्जित मजदूरी के अनुपात के अतिरिक्त समिति

प्रदत्त भूमि तथा पूँजीधन पर भी सदस्यों को लाभांश दिया जायगा। परन्तु आमदनी के प्रयोग के लिए निम्नांकित मद हैं:—

१—ऋण तथा जमा पर व्याज

२—कार्य्य-व्यय

३—क्षतियाँ

४—यंत्रों पर ह्रास

५—भूमि पर कर (Land cesses and rent)

जो कुछ भी अवशेष होता है वह लाभ है जिसका २५% संचित सुरक्षित कोष (Reserve Fund) में चला जाता है। इसके बाद ७५% लाभांश बच रहता है। इसमें से हिस्सा पूँजी पर ६$\frac{1}{4}$% की दर से प्रत्युपलब्धि दी जायगी। बचे हुए ७५% लाभांश का ७०% सदस्यों में उनके द्वारा उपार्जित मजदूरी के अनुपात से वितरित किया जायगा। इसके बाद जो ३०% अवशेष रह जाता है वह रिपोर्ट के अनुसार वेतन प्राप्त कर्मचारियों को बोनस के रूप में तथा दान आदि में खर्च किया जायगा। इसलिए प्रत्यक्षतः जब तक हम यह न मान लें कि सदस्यों का भूमि के मूल्य के आधार पर दिया जाने वाला लाभांश उपर्युक्त व्यय के मद संख्या ५ में शामिल है तब तक हम यह कह सकते हैं कि यह लाभांश नहीं दिया जायगा। रिपोर्ट में यह कहा गया है कि दैनिक मजदूरी पर देने की आवश्यकता नहीं है परन्तु काम के दिनों की एक इकाई की प्रणाली निर्णीत की जानी चाहिए।

सहकारी आसामी कृषि समितियों की कल्पना सहकारी योजना समिति द्वारा निर्धारित रूपरेखा के समान ही है। यही बात सहकारी सामूहिक कृषि समिति की रूपरेखा के विषय में है। रिपोर्ट के अनुसार यह केवल कुल लाभ के वितरण के प्रश्न पर सम्मिलित कृषि समिति से भिन्नता रखती है। "वर्ष के अंत में कुल लाभ का हिसाब कर लिया जाता है तथा मजदूरी, लगान, सुरक्षित कोष आदि के लिए धन निकाल कर अवशेष लाभांश समिति की भूमि पर सदस्यों द्वारा किए गए श्रम की उपार्जित मजदूरी के अनुपात से उन्हीं में वितरित कर दिया जाता है।" हमारी राय में अन्तर केवल यह है कि प्रदत्त पूँजीधन पर कोई लाभांश नहीं दिया जायगा यद्यपि यह उल्लिखित नहीं है कि पूँजीधन

एकत्रित किया जायगा या नहीं। जहाँ तक भूमि पर दिये गए लाभांश का संबंध है यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि सदस्यों से पट्टे पर भूमि नहीं ली जायगी। हम मान लेते हैं कि सदस्य अपनी भूमि समिति को पट्टे पर दे सकते हैं तथा व्यवहारिक दृष्टिकोण से वे जो कुछ भी बदले में पाएँगे और "भूमि की कीमत के अनुसार जो लाभांश पाते"—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों भूमि के मूल्य पर आधारित हैं[१]। सहकारी सम्मिलित कृषि में भी, लाभांश का अधिक भाग सदस्यों में उनके द्वारा उपार्जित मजदूरी के अनुपात से वितरित किया जाता है : वहां केवल अल्पांश ही वेतन प्राप्त कर्मचारियों तथा दान में व्यय किया जाता है तथा हम मान लेते हैं कि सहकारी सामूहिक कृषि-समितियों में इस सिद्धान्त का लागू होना निषिद्ध नहीं है।

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के परामर्शदात्री समिति (Advisory Board) द्वारा (१६४४) प्रस्तुत मेमोरन्डम (Memorandum) में सहकारी कृषि की परिभाषा यह है :—जहाँ "प्रत्येक काश्तकार अपनी भूमि पर स्वामित्व अक्षुण्ण रख सकेगा परन्तु कृषि-कार्य सम्मिलित नीति पर आधारित होगा। सारा व्यय सामूहिक कोष वहन करेगा तथा सारी आमदनी से लिया जायगा। बची आमदनी काश्तकारों में उनकी भूमि के अनुपात से वितरित कर दी जायगी।" इसमें यह गलत कल्पना कर ली जाती है कि कृषि में लाभ केवल भूमि के कारण ही होता है और श्रम के कारण नहीं। समिति में सदस्यों द्वारा किए गए कार्य तथा श्रम का माप भूमि कैसे कर सकती है।

कांग्रेस भू-सुधार समिति

समिति ने चार प्रकार की कृषि प्रणाली की रूपरेखा निर्धारित की थी :

(१) व्यक्ति द्वारा की गई खेती जिसमें किसान के परिवार के सदस्य और कभी कभी मजदूरी पर लगाए श्रमिक भी काम करते हैं।

---

[१] यदि, जैसा कि बंबई की पंचवर्षीय योजना (१६३६) में था केवल भू-विहीन श्रमिक ही सहकारी सामूहिक कृषि समितियों के सदस्य होंगे तब यह समस्या पैदा नहीं हो सकती है।

(२) ऐसी सहकारी कृषि समिति जिसमें समिति के सदस्यों का व्यक्तिगत भू-स्वामित्व बना रहता है परन्तु प्रबन्ध सहकारिता के आधार पर होता है।

(३) सामूहिक कृषि जिसमें कृषक वर्ग या कृषकों का एक समूह समिति के अन्तर्गत व्यक्तिगत-भू-स्वामित्व नहीं रख सकता। सारी भूमि का स्वामित्व समिति या पूरे सम्प्रदाय के हाथ में रहता है।

(४) राजकीय भूमि पर एक राजकीय कृषि[२] की जायगी। स्पष्ट है कि भू-सुधार समिति ने भूमि-स्वामित्व तथा भूमि-प्रबंध के आधार पर चारों वर्ग बनाए हैं। यदि हम स्वामित्व के आधार पर चलते हैं तो यह स्पष्ट नहीं है कि उस भूमि को जो सहकारी आधार पर प्रबन्धित है परन्तु एक सहकारी समिति के स्वामित्व में है हम किस श्रेणी में रखेंगे। इसी प्रकार यह स्पष्ट नहीं है कि सहकारिता के आधार पर प्रबन्धित एक फार्म को जो कि राजकीय स्वामित्व में हो सहकारी फार्म कहा जायगा या नहीं। सामूहिक कृषि प्रणाली के विषय में यह स्पष्ट नहीं है कि फार्म का प्रबन्ध किसके हाथ में रहेगा। क्या वह एक सामूहिक फार्म कहलाता रहेगा यद्यपि खेती (अ) व्यक्तिगत किसान द्वारा या (ब) सहकारिता के आधार पर कृषकों के एक वर्ग द्वारा की जाए। प्रथम प्रकार की व्यक्तिगत खेती के विषय में यह स्पष्ट नहीं है कि व्यक्ति का स्वामित्व भूमि पर है या कि नहीं, यद्यपि स्थिति यही प्रतीत होता है।

परिभाषा से यह भी स्पष्ट नहीं है कि "सहकारी प्रबंध" (Managed Co-operatively) का क्या अर्थ है। इसका प्रयोग भूल से नहीं किया गया है क्योंकि पश्चात् (प्रश्न तालिका) में यह पूछा गया है।

प्रश्न ६ (i)—सहकारी फार्म का संचालन करते समय आप किस प्रणाली को अपनायेंगे ?

(vi) इन फार्मों के प्रबन्ध और हिसाब के के लिए किस प्रणाली का सुझाव देंगे ? समिति ने सम्मिलित कृषि प्रणाली के पक्ष में राय दी तथा

---

[२] समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि क्योंकि राज्य ही उपयुक्त है, केवल खोज और अनुसंधान कार्य के लिए राजकीय फार्म स्थापित किए जाएँ; भावी कृषि में राजकीय फार्म शून्य प्रायः होंगे।

सहकारी प्रबन्ध से समिति का अर्थ सम्मिलित कृषि प्रणाली से है। समिति प्रत्यक्षतः चाहती है कि यह सिद्धान्त केवल उन्हीं जोतों पर लागू किया जाय जो कि 'आधार भूत क्षेत्रफल से कम हों।

"आधारभूत जोत" की कल्पना समिति ने सर्व प्रथम की है। यह वह जोत है जिससे कम क्षेत्र में खेती करना क्षमता पूर्ण कृषि कार्य की दृष्टि से पर्याप्त (palpably)[३] घाटे का व्यापार है। समिति ने आर्थिक जोत के तिगुने क्षेत्र को "सर्वोत्तम जोत" (की सीमा)[४] निर्धारित किया है। "आधार भूत" और "सर्वोत्तम" सीमाओं के बीच वाली जोतों के किसानों को बिक्री, साख आदि के लिए बहुध्येयी सहकारी समिति के सदस्य बनना पड़ेगा। आधार-भूत जोत से कम जोत वाले किसानों को अन्य ऐसे ही किसानों के साथ मिल-कर संयुक्त सहकारी कृषि करनी होगी। बिहार, बंगाल, मद्रास के असफल संयुक्त सहकारी कृषि प्रयोगों को दृष्टि में रखकर छोटे किसानों को जिनकी संख्या अधिक है, सहकारी कृषि के लिए बाध्य करना वाञ्छनीय नहीं है। उन्हें भी पहले बहुध्येयी समिति का सदस्य बनाना चाहिये।

पंचवर्षीय योजना आयोग

पंचवर्षीय योजना आयोग ने भी वैज्ञानिक पद्धतियों और पूँजी विनियोग की आवश्यकता के महत्व को माना है। क्योंकि बड़ी जोत वालों के लिए यह सुविधाएं सुलभ होती हैं, अतः योजना आयोग ने छोटे और मध्यम जोत वाले किसानों के लिए स्वेच्छा से सहकारी कृषि समिति बनाने की राय दी है।

---

[३] आधारभूत जोत की परिभाषा दोषपूर्ण है। न तो "पर्याप्त" शब्द का अर्थ सीमा निर्धारण में सहायता देगा और न "कृषि कार्य की क्षमता"। हम कृषि कार्य की क्षमता को, श्रम, बैंक, पूँजी, भूमि—किसी की भी औसत अथवा सीमांत उत्पादकता के रूप में आंक सकते हैं।

[४] "सर्वोत्तम जोत" "अधिकतम जोत" नहीं होती। वह सर्वाधिक क्षमता वाली जोत होनी चाहिये परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि समिति सर्वोत्तम जोत को ही अधिकतम जोत बनाना चाहती है। परंतु उत्पादन साधनों की परिवर्तनीयता की दृष्टि से सर्वोत्तम जोत की सीमाएं कई हो सकती हैं।

समिति के पास "गृहस्थ-जोत" [५](Family Holding) के चार छः गुना भूमि अवश्य हो और उसे पूर्ति, पूँजी, बिक्री संबंधी सभी सुविधाएँ सरकार से मिलें तथा समिति के जीवन-काल में उसके सदस्यों के कृषि-अधिकार अपरिवर्तनीय रहें।

योजना आयोग ने सहकारी कृषि का अर्थ तो नहीं स्पष्ट किया है परंतु वह यह नहीं जानता कि देश में हो रहे सहकारी कृषि प्रयोगों से क्या शिक्षा मिलती है। अतः उन्होंने उनके अध्ययन की आवश्यकता पर जोर दिया है। उन्होंने समस्त ग्राम-भूमि की सहकारी-व्यवस्था का उल्लेख किया है जिसका तात्पय यह है कि खुदकाश्त करने वालों को, जिनकी कुल काश्त गाँव की जोती-बोई जाने वाली भूमि का कम से कम आधा है, सहकारी भूमि व्यवस्था के पक्ष में निर्णय करने का अधिकार है। यदि वे ऐसे करें तो शेष गाँव वालों पर भी सहकारी कृषि व्यवस्था लागू होगी। सहकारी कृषि व्यवस्था, किसान-परिवार की छोटी छोटी टोलियों को भूमि पर अलग अलग सहकारी कृषि करने की अनुमति दे। सहकारी-कृषि-व्यवस्था एक प्रकार से पंचायत द्वारा ग्राम का कृषि-उत्पादन निर्णय और काश्तकारी वितरण का ढंग है। सहकारी ग्राम व्यवस्था के रूप के बारे में योजना आयोग के विचार स्पष्ट नहीं हैं और उसका अन्तिम रूप प्रयोग और भूल के आधार पर निर्णय होगा। अस्तु।

वे आधारभूत प्रश्न जिन पर मतभेद हैं निम्नांकित हैं :—

(१) क्या भूमि का स्वामित्व सदा के लिए सहकारी समिति के हाथ में चला जाना चाहिए ?

---

[५] "गृहस्थ-जोत" वह जोत है जिसमें स्थानीय दशा और कृषि-पद्धति को दृष्टि में रखकर एक हल की (या सामान्य परिवार द्वारा) खेती की जा सके। इस कृषि-कार्य में प्रचलित (Customary) मदद (यथा, श्रम आदि की) ली जा सकती है। स्पष्टतः यह आर्थिक जोत (Economic Holding) नहीं है और न यह कांग्रेस कृषि सुधार समिति द्वारा प्रतिपादित "आधारभूत जोत" है क्योंकि उसमें पर्याप्त घाटे के न होने का प्रश्न उठाया गया है। हानि लाभ का उल्लेख न होने के कारण इसके आधार पर "अधिकतम जोत" निश्चित करना उचित न होगा।

(२) क्या फसल-योजना तथा कृषि विषयक कार्य सम्मिलित रूप से संचालित किए जाने चाहिए ?

(३) क्या लाभांश का वितरण भूमि के मूल्य, उपार्जित मजदूरी या किए गए व्यापार के अनुसार होना चाहिए ?

भूमियां चार प्रकार की हैं :—

(१) वह भूमि जो व्यक्तिगत स्वामित्व तथा यर्वक्तिगत कृषि के अन्तर्गत है।

(२) वह भूमि जो व्यक्ति के अधिकार में है या सरकार द्वारा अधिकृत है परन्तु असामी द्वारा जोती जाती है।

(३) वह भूमि जो कि खेती योग्य है परन्तु उस पर खेती नहीं होती।

(४) वह भूमि जिसको अभी जोत में लाना शेष है या जो जोत के अन्तर्गत लाई जा रही है।

दीर्घकाल में भू-स्वामित्व का प्रश्न व्यक्तिगत आधार पर ही हल होना चाहिए[६]। प्रारम्भिक दशा में जहाँ तक ऊपर अंकित प्रथम दो प्रकार की भूमि

---

[६] सहकारी सम्मिलित कृषि विषयक कुछ प्रयोग पहले हो चुके हैं। तथा उनका परिणाम संतोषप्रद नहीं रहा है। रजिस्ट्रार बम्बई ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है : सम्मिलित कृषि-समितियों के विषय में जहाँ तक अनुभव प्राप्त हुआ है वह यह कि जमींदारों तथा असामियों को भूमि का एकीकरण करने के लिए तैयार कर लेना मुश्किल है तथा सम्मिलित कृषि, अपनी वास्तविक जाति-गुण के अनुसार सरल नहीं है जब तक कि इस प्रकार के प्रत्येक प्रयोग के लिए विस्तृत फार्म राज्य द्वारा न दिये जायँ इसी प्रकार मद्रास के २६ भूमि कृषि-समितियों के विषय में रजिस्ट्रार ने लिखा है कि सब प्रकार की स्वीकृतियों के बावजूद प्रत्येक निवासी अपने ही दृष्टिकोण तथा उत्तर दायित्व से अपनी भूमि पर कृषि करना चाहता है। तथा फल स्वरूप प्राप्त उत्पादन अपने लिए ही सुरक्षित रखना चाहता है। जहाँ तक सहकारिता का संबंध है मद्रास तथा बम्बई दो बहुत ही प्रगतिशील प्रदेश हैं। उनके अनुभव से यह प्रतीत होना चाहिए कि हवा का रुख किस ओर है।

उ० प्र० में जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि-सुधार बिल एक्ट, १६४६ में

का संबंध है स्वामित्व का अधिकार अछूता छोड़ देना चाहिए। दोनों दशाओं में, सहकारी उन्नत कृषि तथा सहकारी सम्मिलित कृषि समितियों का निर्माण किया जा सकता है। सम्मिलित कृषि समिति को सहकारी आसामी सम्मिलित समिति की संज्ञा भी दी जा सकती है।

जमींदारी उन्मूलन के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के पश्चात् अंतिम दो श्रेणियों में आने वाली भूमि राजकीय जायदाद हो जायगी। इनको सरकार द्वारा समितियों के हाथ में दे दिया जाना चाहिए; या भूमि को सम्मिलित रूप से प्रयोग करने का अधिकार दिया जाना चाहिए; या सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से कृषि करने के लिए स्वीकृति मिलनी चाहिए। बाद समिति को उन्नत कृषि के काम को संचालित करना चाहिए तथा असामी कृषि या सम्मिलित (सामूहिक) कृषि पर चलना चाहिए।

जहां पर व्यक्तिगत स्वामित्व या आसामी के अधिकार के बावजूद सम्मिलित कृषि संचालित की जाती है, सदस्य को अपनी भूमि वापस पाने का अधिकार रहना चाहिए यदि वह ग्राम-पंचायत को आश्वासन दे सके कि वह स्वयं भूमिपर खेती करेगा। कालांतर में जब ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सहकारी समिति एक शक्तिशाली संस्था रूप पा जाय तब वह ऐसा सिद्धान्त चालू कर सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि समिति छोड़ने वाले सदस्यों को इस तरह

ऐसा विधान है कि कोई दस सदस्य जो कि किसी विशेष क्षेत्र में सामान्यतः एक गांव कम से कम ५० एकड़ भूमि पर भूमिधर या सिरधर का अधिकार रखते हों एक सहकारी कृषि-समिति का निर्माण कर सकते हैं यदि अनार्थिक जोत वाले यथा प्रति सदस्य ६$\frac{१}{४}$ एकड़ से भी कम जोत भूमिधरों या सिरदारों का $\frac{२}{३}$ भाग यदि इस प्रकार के कुल जोत का कम से कम $\frac{२}{३}$ भाग अपने अधिकारों में रखते हों तथा एक सहकारी कृषि-समिति के निर्माण के लिए प्रार्थना पत्र दें तो इस प्रकार के सभी जोत के लिए स्वीकृति मिल जायगी जब तक कि जाँच पड़ताल के बाद जिलाधीश अस्वीकृत नहीं करता है। इसका अर्थ यह है कि इस्तीफा देने वाले सदस्यों को उनकी भूमि वापस नहीं की जायगी। दूसरे शब्दों में, एक्ट के अन्तर्गत, भू-स्वामित्व सदा के लिए समिति के अधिकार में चला जायगा।

उनकी प्रारम्भिक मूल भूमि ही वापस की जाए। यह किसी भी खण्ड (प्लाट) के रूप में लौटाई जा सकती है जिससे समिति की फसल-योजना पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इस तरह हम देखते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि सदैव के लिए स्वामित्व को समिति के अन्तर्गत कर दिया जाय।

फसल-योजना का निर्धारण समिति द्वारा किया जाना चाहिए। इसको कार्यान्वित करना तथा इससे कृषि विषयक कार्य समिति की रूपरेखा के अनुसार सामूहिक सम्मिलित अथवा व्यक्तिगत आधार पर करना चाहिए। समिति से सदस्य जो व्यापार करें उसके अनुपात से लाभांश का वितरण होना चाहिए। इसका मापदंड उपार्जित मजदूरी हो सकती है। यदि सदस्यों से मजदूरी या काम के दिनों की इकाई के आधार पर काम लिया जाता है। यदि गैर सदस्यों से भी काम लिया जाता है, तब भूमि का मूल्य या लगान ही लाभांश के वितरण का आधार बन सकते हैं।

दसवाँ परिच्छेद

भारत में कृषि-विषयक बाजार

सामाजिक न्याय और मूल्य

सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक समझा जाता है कि किसान को कृषि-पदार्थ का उचित मूल्य मिले और मूल्यों में अवांछनीय प्रभाववाली घट-बढ़ बंद की जाय। पहले लार्ड स्टाम्प और अभी हाल में अंतर्राष्ट्रीय संघ द्वारा किए अध्ययन के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि वर्तमान् औद्योगिक विकास के साथ कृषक को अपने पदार्थ के बदले में क्रमागत कम तैयार माल मिलता है। पिछले सत्तर वर्षों में उसे उतने ही तैयार माल के लिए ड्योढ़ा माल देना पड़ता है[१] :—

वर्ष	निश्चित तैयार माल की मात्रा के बदले कितना प्रतिशत कच्चा माल देना पड़ता है
१८७६–८०	१००
१८८१–८५	६७·७
१८८६–९०	१०३·६
१८९१–९५	१११
१८९६–१९००	११४·६
१९०१–०५	११८·२
१९०६–१०	११६·६
१९११–१३	११६·६
१९२१–२५	१४५.६
१९२६–३०	१३६·४
१९३१–३५	१६१·३
१९३६–३८	१५६·०
१९४६–४७	१४५·६

[१] ये आंकड़े अंतर्राष्ट्रीय संघ द्वारा प्रकाशित "अर्धविकसित तथा औद्योगिक देशों के आपसी व्यापार में युद्धोत्तरकालीन मूल्य-संबंध, १९४९" में दिए आंकड़ों के आधार पर अनुगणित किए गए हैं।

कृषि उत्पादन और मूल्य

किसान को इस सामाजिक अन्याय से बचाना चाहिए। इस संबंध में यह व्याख्या की गई है कि कृषि उत्पादन किन शक्तियों पर निर्भर है। जहाँ अविकसित दशा है तथा किसानों की आर्थिक स्थिति निम्न है और उनके खेत छोटे छोटे हैं वहां किसान अपने भोजन के पदार्थ पैदा करता है और आवश्यक नकद निधि प्राप्त करने के लिए मंदी के समय अधिक अन्न पैदा करने की चेष्टा करता है। नगरों और उद्योगों में लगे व्यक्तियों के विपरीत किसान अधिक सहनशील और संतोषी है। मंदी के समय नगरों से लोग गांव चले जाते हैं और खेतों की संख्या बढ़ जाती है। उस समय और बाद में भी किसान परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए जागरूक रहता है[२]। यह कहना गलत होगा कि अन्य लोगों की भांति किसान अधिक (या अधिकतम) लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करता। यह सत्य है कि वह साहस और जोखिम कम उठाता है। अत: उद्योगपतियों की भांति वह मूल्यों का पूर्ण लाभ उठाने के लिए अपने उत्पादन क्रय और व्यवस्था को आए दिन बदलता नहीं।

उत्पादन-मूल्य-संबंध के कारण

सैद्धांतिक दृष्टि से यह कहा जाता है कि मूल्य परिवर्तन के साथ उत्पत्ति की अपरिवर्तनीयता के संभव कारण हैं :—(i) निश्चित लागत का अधिक होना, (ii) उत्पादन समय का लंबा होना, (iii) कृषि-पदार्थों के मूल्य के अनुपात में कृषि-साधनों की लोच कम है तथा कृषि-साधनों के बाजार अपूर्ण (imperfect) हैं।

परंतु प्रथम तो कृषि जीवन-क्रम है और मंदी के दिनों में परिवर्तनीय व्यय (variable inputs) भी नहीं घटाए जाते न मज़दूर ही कम रखे जाते हैं, न लगान पर कम भूमि ली जाती है। द्वितीय, हमारा कृषक तो अपने पोषण के लिए खेती करता है; अतः जब अधिक दिनों तक मंदी रहती है तब केवल बिक्री वाले कृषि-पदार्थों के उत्पादन में परिवर्तन होते हैं। जहां तक उसी साल के उत्पादन का प्रश्न है, किसान उसे रोक नहीं सकता।

---

[२] जूट, रूई, मूंगफली आदि की फसल मूल्य के साथ बढ़ती घटती पाई जाती है।

सिद्धान्तः वह उत्पादन तभी रोकेगा जब फसल तैयार करने के शेष व्यय की अपेक्षा प्रत्याशित फसल का अनुमानित कुल मूल्य कम हो। परंतु भारतीय सांस्कृतिक व सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत हमारा किसान इस प्रकार का वैत्तिक लेखा-जोखा नहीं रखता।

तृतीय, भाव गिरने पर अकृषि-क्षेत्रों में साधनों के मूल्य कम हो जाते हैं, अतः कृषि साधनों की अवसर-लागत गिर जाती है। इसलिए भाव गिरने पर कृषि-साधनों की पूर्ति बढ़ जाती है और साधनों का मूल्य घट जाता है। अतः उत्पादन कम करने की प्रवृत्ति धीमी पड़ जाती है। इसके विपरीत भाव बढ़ने पर अकृषि-क्षेत्रों में साधनों का मूल्य बढ़ जाता है परंतु तब भी कृषि-साधनों का मूल्य तथा पूर्ति में एक सीमा तक कोई परिवर्तन नहीं होता [२]।

कृषि समृद्धि और मूल्य

कृषि-उत्पादन और कृषि-मूल्यों तथा सामान्य मूल्यों के बीच पाए जाने वाले संबंध के कारणों के संबंध में जो विवाद हैं वे शीघ्र (कभी ?) दूर नहीं हो सकते। उस व्याख्या के कारण कृषि-समृद्धि की वृद्धि करने में अभी विशेष सहायता नहीं मिलती दिखाई पड़ती। कृषि-उत्पादन की वृद्धि से ग्रामों की स्थिति सुधर सकती है परंतु उपर्युक्त व्याख्या से कृषि-उत्पादन बढ़ाने के उपाय हाथ नहीं लगते। मौद्रिक-अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत ग्रामों के आर्थिक विकास तथा समृद्धि के लिए उत्पादन-वृद्धि के साथ (या अलावा) किसान को कृषि-पदार्थ का अधिक मूल्य मिलना चाहिए। परंतु जन-समृद्धि की दृष्टि से यह बात सदैव उचित न होगी। मूल्य की कमी भी वांछनीय हो सकती है।

जन-समृद्धि और मूल्य

यदि जन-समृद्धि के दृष्टिकोण से काम किया जाय तो तीन मुख्य उद्देश्य उल्लेखनीय हैं : (१) मूल्य निर्धारण उपभोक्ता की रुचि पर आधारित हो (२) कार्य्य-क्षमता में वृद्धि हो तथा (३) उचित न्याययुक्त जीवन-स्तर का

---

[२] यदि कृषि साधनों की लोच वैसी ही होती जैसी भाव गिरने की दशा में, तो भाव बढ़ने पर कृषि-साधनों के मूल्य इतने बढ़ते कि किसान को उत्पादन बढ़ाने में बाधा होती। परंतु ऐसा नहीं होता है।

आश्वासन हो। कृषि-विषयक बाजार की समस्याओं का विवेचन करते समय उपभोक्ताओं के भोजन के प्रश्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस संबंध में दो उदाहरण दिए जा सकते हैं। प्रथम, मान लीजिए कि वर्तमान मूल्य पर अतिरिक्त उत्पादन की अवस्था है तथा यदि मूल्य घटा दिया जाय तो अतिरिक्त उत्पादन का विक्रय इस तरह होगा कि उस समय वर्तमान मूल्य पर विक्रय के पश्चात् प्राप्त आमदनी की अपेक्षा अब कुल आमदनी बढ़ जायगी। इस अवस्था में मूल्य घटाना वांछनीय होगा। द्वितीय, मान लीजिए कि राजकीय आर्थिक सहायता के कारण किसान की लागत घट जाती है (तथा इसलिए मूल्य भी) और फलतः उपभोग की मात्रा में वृद्धि होती है। यदि इस दशा में कृषक की आमदनी में परिवर्तन तथा आर्थिक सहायता के फलस्वरूप अधिक उचित भोजन के कारण उपभोक्ता की कार्य-क्षमता में वृद्धि का योग राजकीय आर्थिक सहायता से अधिक हो, तब आर्थिक सहायता तथा घटी कीमत वांछनीय हैं। परन्तु यह सब दशाएँ अतिरिक्त तथा उपलब्ध पूर्ति के बावजूद अधिक मूल्य के कारण क्रय-क्षमता की कमी से संबद्ध हैं। इनका महत्त्व वहाँ और बढ़ जाता है जहाँ जनता को अपनी आवश्यकताओं का अधिकांश (भोज्यपदार्थ को लेकर) क्रय करना पड़ता है।

अर्थव्यवस्था और मूल्य-महत्व

भारत की जनसंख्या का लगभग ८७% (१९५१) गाँवों में है तथा कुल मजदूरों का लगभग ६७% कृषि में काम करता है। खाद्यान्न के अन्तर्गत लगभग ७८% भूमि है तथा इसका सम्पूर्ण मूल्य कुल कृषि-उत्पादन के मूल्य के लगभग ६६·७५% के बराबर होगा। खाद्यान्न के निर्यात का प्रतिशत बहुत ही कम है तथा उसकी उपेक्षा की जा सकती है। नगरवासी की अपेक्षा ग्रामवासी अधिक अन्न का उपभोग करता है। परन्तु ग्रामीण जनता की गरीबी को दृष्टिकोण में रख यह कहना गलत नहीं होगा कि मूल्य के अनुसार लगभग ·६६ × ·८७ × १०० अर्थात् लगभग सम्पूर्ण खाद्यान्न फसल के ३/५ (हर हालत में १/२ से अधिक) भाग का उपभोग गाँव में होता है। नागरिक और ग्रामीण क्षेत्र में उपभोक्ताओं के हाथ बेचे गए खाद्यान्न की बिक्री और मात्रा विषयक आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। अतः उक्त गणना का परीक्षण

नहीं किया जा सकता। जहाँ तक ग्रामीण उपभाग का संबंध है अधिकांश हद तक बिना मूल्य खाद्यान्न के वितरण की समस्या है[४]। अतः सम्पूर्ण फसल के कुल कीमत के १/३ (अधिक से अधिक १/२) भाग के मूल्य निर्धारण का ही प्रश्न उठ सकता है। यह स्थिति परिवर्तनीय होगी, जब योजना के कारण जनसंख्या का पेशेवर तथा क्षेत्रीय वितरण बदल जायगी तब यह स्थिति भी बदल जायगी। औद्योगीकरण की दशा, ग्रामीण क्षेत्र में कृषि-उद्योगों के संचालन तथा कद मजदूरी-प्रणाली के अलग-अलग जाने की सीमा पर ही ये परिवर्तन आधारित होंगे। यदि बम्बई योजना या ऐसी ही कोई अन्य योजना अपनाई जाय तो सम्भवतः देश में मुद्रा-अर्थ-व्यवस्था अधिक मात्रा में होगी और तब कृषि मूल्यों की समस्या का महत्व अधिक होगा। कुछ अन्य उल्लेखनीय योजनाओं[५] में ऐसा नहीं होगा।

---

[४] यह उल्लेख किया जा सकता है कि भारत में कृषि का कुछ हद तक विशेषीकरण हो चुका है। जूट का उत्पादन पूर्वी प्रदेशों में, दक्षिण में कपास का, तथा उ० प्र० और बिहार में गन्ना का उत्पादन आवश्यक खाद्यान्न के उत्पादन के लिए उपयुक्त क्षेत्र नहीं छोड़ता। इसलिए जो मजदूर इन क्षेत्रों के उत्पादन में लगे रहते हैं उनको बाहर से प्राप्त अन्न खरीदना पड़ता है। यह अज्ञात है कि कितने किसान केवल या अधिकांशतः अखाद्य-फसल का उत्पादन कर रहे हैं। क्योंकि कुल क्षेत्रफल के २२% में ही अखाद्य-फसल है, यह संभव है कि एक-तिहाई कुल किसान तक ही इसके उत्पादक हों। उनका वितरण उत्पादन के क्षेत्रों में समान रूप से उचित ढंग से नहीं होता तथा कुछ तो बड़े बड़े अभाव-ग्रस्त क्षेत्र हैं। यद्यपि कुछ लोग ग्रामीण आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त से सहमत नहीं हो सकते हैं, हमारे मत में भारत के पूर्वी तथा दक्षिणी भाग में १९४०-५० वाली अभाव की दशा की स्थिति से बचने के लिए कम से कम क्षेत्रीय आत्मनिर्भरता अवश्य रखनी चाहिए।

[५] ऐसी योजनाएँ श्री तरलोक सिंह लिखित, पावर्टी एण्ड सोशल चेन्ज, पं० दयाशंकर दुबे कृत 'आवर एग्रीकलचरल प्लान' और प्रो० के० टी० साहा द्वारा लिखित 'दी प्रिन्सिपुल्स आफ प्लैनिंग' में दी गई हैं।

इस समय इन क्रियात्मक प्रश्नों की उपेक्षा कर, हम विक्रय की कार्य-क्षमता-वृद्धि तथा उपभोक्ताओं की रुचि पर आधारित मूल्य-निर्धारण की नीति पर ध्यान देंगे। कृषि-विषयक उत्पादन की माँग मुख्यतः समय और स्थान पर प्रसारित रहती है। दूसरी ओर साल में केवल दो या तीन बार ही फसल कटती है। माँग से तुलना करने पर पूर्त्ति स्थान से अधिक सम्बद्ध है। प्राचीन समय में यह अवस्था न थी तब गाँव की अर्थ-व्यवस्था आत्म-निर्भर थी। कृषि में विशेषीकरण (specialisation) की वृद्धि तथा अखाद्य-फसल के उत्पादन के कारण समस्या अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। अब ऐसी प्रणाली की आवश्यकता है जिसमें संचयन, एकत्रीकरण, श्रेणीकरण, गोदामों में अन्न एकत्रित करने, गमनागमन तथा विक्रय आदि की क्रियाविधि ऐसी है कि कृषि-पदार्थ की सरलता से परीक्षा ले सके। इसलिए यह कहा जा सकता है कि विक्रय थोक में, उचित बाजार में, उचित समय पर होना चाहिए तथा शक्ति के अपव्यय, क्षति और विक्रेताओं की अज्ञानता के कारण होने वाली कठिनाइयों को कम करना चाहिए। क्योंकि औसत किसान न्यून मात्रा में विक्रय करता है इस दृष्टिकोण से थोक विक्रय के लिए सहकारी बिक्री समितियों द्वारा माल को एक करने की आवश्यकता है। विशेष फसलों के उत्पादन के लिए दीर्घकाल में जोत के आकार को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। तब भी सहकारी समितियाँ फसल को उचित बाजारों में विक्रय करने के लिए किसान की सहायता का क्रम जारी रख सकती हैं।

उत्पादन की थोड़ी मात्रा तथा उत्पादक की नकद रुपये की तत्कालीन आवश्यकता ही अधिकतर उसको स्थानीय विक्रय के लिए मजबूर करती हैं। कुछ अवस्थाओं में (यथा, खरीफ के मौसम में) अगली फसल बोने के लिए किसान की उपस्थिति खेत में आवश्यक होती है, इसलिए वह कहीं दूर विक्रय के लिए नहीं जा सकता। दो अन्य महत्वपूर्ण कारण हैं बाजार विषयक सूचना का अभाव तथा गमनागमन की समस्याएँ। उत्पादक यह नहीं जानता कि किस बाजार में भाव ऊँचे हैं। उसे केवल पड़ोसी गांव और तहसील के बाजार के वर्तमान मूल्य मालूम रहते हैं। यदि उत्पादक को बाजार तथा बाजारों की दशा विषयक ज्ञान और सूचना प्राप्त होती है तब गमनागमन विषयक

असुविधाओं के कारण वह अपना माल उत्तम बाजार में नहीं भेज सकता। जल, सड़क तथा रेलवे द्वारा गमनागमन के साधन में केवल उपेक्षित तथा असमपदस्थ वृद्धि का ही प्रश्न नहीं है परन्तु विभिन्न किराए की दरों का (विशेषतः रेलवे के) भी प्रश्न है। सड़क-यातायात के संबंध में (१) बैलगाड़ी के गमनागमन के साधन को सुधार करने की समस्या के साथ-साथ (२) यांत्रिक सड़क गमनागमन के साधन को विकसित करने की समस्या वर्तमान है। उद्योगों को गलत स्थान पर संचालित करने तथा किसान के ऋणग्रस्त होने के कारण उचित बाजारों में माल का बिक्री नहीं होती है।

कृषि को अर्थ-सहायता देने की आवश्यकता ही गलत स्थान तथा गलत समय पर माल के विक्रय का कारण है। यदि ग्रामीण साख की समस्या का उचित हल किया जा सके तो फसल काटने के बाद ही कृषि-उत्पादन का स्थानीय विक्रय या महाजन द्वारा ऋण की प्रणाली को बन्द किया जा सकता है। संभव है कि किसान ऋणी हो तथा यह शर्त स्वीकार कर चुका हो ग्रामीण महाजन, भ्रमणशील व्यापारी या किसी भारतीय (या अभारतीय) व्यवसायी या निर्यातक के एजेन्ट को पूर्व निर्धारित दर पर अपना माल बेचेगा। जहाँ तक कृषक पर अभारतीय नियंत्रण का संबन्ध है, यह संभव है कि किसान कृषि प्रणाली, खाद तथा बीज विषयक उचित परामर्श पाता हो परन्तु जहाँ तक उत्पादन के मूल्य का प्रश्न है उसे घाटा अवश्य होता है। अस्तु, उचित समय पर विक्रय के लिए अन्न-संचयन विषयक सुविधाओं का होना भी आवश्यक है।

किसान द्वारा ठीक बाजार तथा उचित समय पर कृषि-उत्पादन के विक्रय की समस्या यही नहीं इंगित करती है कि किसान को बाजार विषयक सूचना से पूर्णरूपेण परिचित कराने की ही आवश्यकता है बल्कि बाजार विषयक सिद्धान्तों, विशेषकर मूल्य निर्धारण की प्रणाली, प्रचलित बाँट और माप-दंड तथा लगाए गए बट्टे और कटौती आदि से उसे अवगत कराना चाहिए।

कार्य-क्षमता के लिए यह आवश्यक है कि एक मिश्रित किस्म का माल न पैदा किया जाय। किसी भी दशा में मिलावट नहीं करनी चाहिए। परन्तु उत्पादक तथा कुछ हद तक दलाल और माध्यमिक धन लाभ के लिए इस

राह पर चलते हैं। वे बहुत ही कम यह सोच पाते हैं कि अंत में इससे मूल्य पर प्रतिकूल असर पड़ता है तथा अंत में उत्पादक को ही क्षति वहन करना पड़ता है। यदि माध्यमिक (middleman) माल में मिलावट करता है तो कुछ समय पश्चात् उसे कम मूल्य का घाटा उठाना पड़ेगा। तब वह इसी बहाने उत्पादक को भी कम दाम देने को दलील पेश करेगा। अतः जान बूझकर मिलावट के स्थान पर माल का उचित श्रेणीकरण तथा विभाजन होना चाहिए।

अंत में चूहों, कीड़े-मकोड़ों तथा नमी आदि द्वारा होने वाली क्षति से उत्पादन को सुरक्षित रखने के लिए वैज्ञानिक अन्न भंडार और गोदाम का निर्माण होना चाहिए। केवल चूहों द्वारा ही खाद्यान्न की वार्षिक क्षति लगभग तीन करोड़ रुपये के बराबर होती है। अन्य कारणों से भी बहुत अधिक क्षति होती है।

उपभोक्ताओं की रुचि के अनुसार मूल्य का निर्धारण करने के लिए तीन मुख्य साधन हैं यथा, नियंत्रित पूर्ति, उचित श्रेणीकरण तथा कृषि पदार्थ को ठीक प्रकार से साफ करना और विभिन्न रूपों में परिणत करना। उत्पादक सीधे उपभोक्ता के हाथ अधिक माल नहीं बेचता। अतः उपभोक्ता की रुचि के अनुसार मूल्यों का लेना उससे विशेष सम्बन्ध नहीं रखता है। जहाँ तक नियन्त्रित पूर्ति तथा श्रेणीकरण का सम्बन्ध है वह उपयुक्त क्षमता की समस्या के अन्तर्गत आता है। परन्तु कृषि पदार्थ को विभिन्न रूपों में साफ कर परिणत करने की क्रिया महत्त्वपूर्ण है। यदि उत्पादको (या उत्पादकों की संस्था) द्वारा यह कार्य किया जाय तो उन्हें अच्छा मूल्य मिल सकता है।

एक अन्य दृष्टिकोण

इस समस्या के हल के लिए दो अन्य ढंग हैं। प्रथम में यह इंगित किया जाता है कि कम मूल्य मिलने के कारण यह हैं कि किसान उत्पादन की कम मात्रा, ऋण, आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसकी बेबसी, अधिक यातायात व्यय, बाजार की अवस्था का अज्ञान, मंडी के बुरे अनुभव—जैसे आढ़तिया क्रेता का (जो कि बहुधा आढ़तिया का ही खरीदार होता है) ही पक्ष करता है, भावताव ठीक करने की अनियंत्रित प्रणाली, संध्या को बाजार बन्द

होने के समय में (या जब माल आंशिक रूप में गोदाम में रखा जा चुका हो) माल की अंटसंट खराबियां बताकर कम मूल्य देने का उनकी चालबाजी तथा विभिन्न प्रकार की कटौतियाँ करना और गांव की अगली फसल को बोने के लिए खेत में उपस्थित रहने की आवश्यकता। इन्हीं कारणों से किसान अपना माल स्थानीय क्षेत्र में ही बेचता है। इनमें से चार महत्वपूर्ण कारण उल्लेखनीय हैं यद्यपि ये सभी उपर्युक्त कारणों में स्पष्ट नहीं हैं। प्रथम, हर एक व्यापारी (i) अन्य व्यापारियों के अभाव और अनुपस्थिति में, (ii) रिवाज के अनुसार या (iii) महाजन होने के कारण उत्पादन पर उसका हक पहले होता है इससे वह मूल्य निर्धारण पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ होता है और अपने क्षेत्र में कुछ अंश तक एकाधिकार रखता है। द्वितीय गांवों तथा मंडियों में अब तक बाँट (weights) तथा मापदंड का उचित निर्धारण नहीं हो सका है जिससे कि विक्रेता को विभिन्न प्रकार की क्षतियाँ उठानी पड़ती हैं। तृतीय, उत्पादन का श्रेणीकरण ठीक प्रकार से नहीं होता तथा कभी-कभी जान बूझकर मिलावट कर दी जाती है—यथा, जूट और घी में। इसलिए पदार्थ का कम मूल्य मिलता है। चतुर्थ, आशक्ता तथा उचित गठन के अभाव के कारण पूर्ति और माँग में उचित संतुलन नहीं रहता है।

पर्यवेक्षण

दूसरी अध्ययन प्रणाली में सर्वप्रथम विपणन-सर्वे (Market Survey) करते हैं। केन्द्रीय विपणन विभाग (Central Marketing Department)[६] प्रादेशिक सरकार[७] से सहयोग से यह अध्ययन किया कि बाजार विषयक क्रियाएँ क्या हैं तथा व्यय किस तरह विभिन्न मदों पर प्रसारित किया जाता है। कुछ लोगों का यह विचार है कि यह गणनाएँ ठीक

---

[६] केन्द्रीय कृषि विपणन विभाग निम्नांकित वस्तुओं के विषय में बाजार विषयक रिपोर्ट को प्रकाशित कर चुका है। गेहूँ (इसकी एक अतिरिक्त रिपोर्ट भी है), तिलहन, अंडे, अमरूद, कहवा, आलू, दूध, चावल, मूंगफली, नारियल के उत्पादन, काजू, चना, केला, जौ, मछली, भेड़ और बकरी, पशु, ऊन तथा बाल, अरांडी, घी और अन्य दुग्ध-उत्पादन, इलायची, सरसों, पत्थर, तथा अन्य फल।

और सही नहीं है। यह सम्भव है कि उपभोक्ता और किसान के मूल्य एक ही समय के न हों तथा ऐसी स्थिति में माध्यमिक द्वारा लिए गए अधिक जोखिम, माल के खराब होने तथा संचयन के व्यय के लिए कोई सीमा (margin) नहीं छोड़ी हो। यह भी सम्भव है कि कहीं कहीं अत्युक्ति से काम लिया गया हो और दोनों मूल्यों के बीच अन्तर ३०-४०%[८] तक नहीं हो। फिर भी मैं सोचता हूँ कि कम से कम

यह भी उल्लेखनीय है कि निम्नांकित रिपोर्टें भी प्रकाशित की जा चुकी हैं :—

(अ) कृषि विक्रय परामर्शदाता की वार्षिक रिपोर्ट;

(ब) भारतीय सहकारी कृषि-बाजार विषयक रिपोर्ट।

(स) भारतीय मेले बाजार और आढ़त संबंधी रिपोर्ट।

(द) भारतीय मछली, मत्स्य केन्द्र, मछली पकड़ने की प्रणालियों की आरम्भिक निर्देशिका।

[७] प्रदेशों में, विशेषकर उ० प्र० में, युद्ध काल (१९४४) में, आर्थिक समंक इन्सपेक्टरों को एक प्रश्नावली दी गई थी कि वे कृषि-उत्पादन विषयक समंक एकत्रित करें परन्तु अब तक इस दिशा में किए गए कार्य विषयक रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई है। आश्चर्य है कि कृषि विभाग द्वारा प्रदेशों में केन्द्रीय कृषि-बाजार विभाग के लिए एकत्रित समंकों का प्रादेशिक प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है। इनका प्रकाशन होना चाहिए जिससे कि किसान के लिए उचित बाजार विषयक सूचना प्रसारित की जा सके।

उ० प्र० में उच्च विपणन इन्सपेक्टर प्रतिदिन थोक मूल्य विषयक समंक एकत्रित करते हैं तथा मंडी में कृषि-उत्पादन के आयात का भी लेखा तैयार करते हैं। यदि इनका प्रकाशन और अध्ययन किया जाय तो स्थानीय बाजार के सुधार और विकास के लिए प्रयत्न किया जा सकता है।

[८] यह युद्ध पूर्व भारतीय सरकार द्वारा प्रकाशित बाजार विषयक रिपोर्टों पर आधारित है। अब वितरण व्यय (उत्पादक से लेकर उपभोक्ता तक) अधिक है (यथा १९% से ५०% के बीच) यह कुछ फसलों, यथा गेहूं और चावल के विषय में कम है, शीघ्र क्षयशील वस्तुओं, यथा फल और तरकारी के क्षेत्र में अधिक है।

इन गणनाओं से यह इंगित होता है कि स्थिति कैसी है। गणना से ज्ञात होता है कि माल को पैक करने, उठाने-रखने तथा गमनागमन के व्यय के कारण ही अधिकांश व्यय होता है। उसके बाद बाजार में तौल-नाप विषयक व्यय का स्थान है। तत्पश्चात् चुंगी आदि का खर्च है। थोक तथा फुटकर विक्रेताओं का लाभांश तो सब से कम बैठता है। अतः यद्यपि प्रत्यक्षतः किसान के लाभ के लिए यह प्रतीत होता है कि माध्यमिकों की संख्या को यथासम्भव घटा दिया जाय परन्तु व्याख्या यह इंगित करती है कि गमनागमन के साधनों को विकसित करने, बाजार का नियंत्रित करने तथा चुंगी और टैक्स को कम करने की अधिक आवश्यकता है। इस अध्ययन प्रणाली से यह सिद्ध नहीं होता कि संचयन तथा श्रेणीकरण से पूर्त्ति को नियंत्रित किया जाय तथा माल की किस्म को विकसित किया जाय जिससे कि उत्पादक को अधिक मूल्य मिल सके।

आधारभूत बाधाएँ

इन समस्याओं के हल की आधारभूत बाधाएँ—अशिक्षा, अपर्याप्त अल्पकालीन साख की सुविधाएँ, गमनागमन की कठिनाइयाँ, अनियंत्रित बाजार तथा विक्रय स्थानीय चुंगी टैक्स आदि हैं।

सरकार से यह आशा की जाती है कि वह इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए कदम उठाए। यह बाजारों का निरीक्षण और अध्ययन करके प्राप्त ज्ञान का जनता में प्रसार कर सकती है।

अल्पकाल में सरकार बहुत ही सीमित मनुष्यों को शिक्षित कर सूचनाएँ प्रदान कर सकती है तथा उन्हीं किसानों के लिए बाजार विषयक कार्य का भार अपने ऊपर सच्चाई और लगन के साथ लेना चाहिए।

स्थानीय संस्थाओं का सहयोग प्राप्त कर सरकार गमनागमन विषयक सुविधाएँ भी प्रदान कर सकती है। यह सच है कि रेल मार्ग, पूरक (feeder) सड़कें तथा पक्की सड़कें गल्ले के बाजार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सहायक हो सकती हैं। कठिन समस्या यह है कि गांव से पड़ोस की तहसील और जिले की मंडियों तक गमनागमन के साधन को कैसे उपलब्ध कराया जाय? कुछ समय तक इस क्षेत्र में बैलगाड़ियों का ही आधिपत्य रहेगा क्योंकि (i) अंशतः

किसान अपने बेकार बैलों का प्रयोग गाड़ी में जोत कर करता है तथा फसल काटने के बाद वह स्वयं भी खाली रहता है और (ii) अंशतः अच्छी सड़कों, आवश्यक कुशल मिस्त्री और सड़क पर साल भर सामान लादने और ढोने के काम के अभाव में गमनागमन के यांत्रिक साधन अप्रयोगार्ह होंगे। माल का बारहमासी आवागमन संभव होने के लिए यह आवश्यक है कि किसानों या उनकी संस्थाओं द्वारा अन्न-संचयन का काम प्रारम्भ कर दिया जाय। अस्तु बैलगाड़ियों के विकास तथा सड़कों के धरातल को सुधारने के लिए अधिक प्रयत्न किया जाना चाहिए। यह अनुसंधान भी किया जाना चाहिए कि रबर-टायर तथा कोलतार की सड़कों (जो कि ढाल और बिना ढाल लिए हों) का सम्बन्ध बैलगाड़ियों की कार्यक्षमता से किस सीमा तक है। निस्सन्देह सीमेंट की सड़कें दीर्घजीवी होती हैं: इसलिए उनमें किफायत होती है परन्तु समस्या कोष की है। जब तक कि सरकार बम्बई योजना या इन्जीनियरों की सभा में निर्देशित सिद्धान्तों के अनुसार बड़े पैमाने पर सड़क निर्माण का काम प्रारम्भ नहीं करती है, यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि ग्रामीणों के सहयोग से बारहमासी सड़कों का निर्माण किया जाय तथा कच्ची सड़कों को पक्की या अधपक्की कर दिया जाय। ग्रामीणों की सहायता से इस दिशा में पंचायत तथा जिला बोर्ड को अग्रसर होना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि उत्पादन का अधिकांश लगभग ५० मील के अंदर ही अंतिम उपभोक्ता के हाथ बिक जाता है: उपभोक्ता, परिवर्तन कार्य करने वाले तथा निर्यात-एजेन्ट उसी परिधि के अन्तर्गत रहते हैं। यदि कहीं ऐसा न हो तो यह वांछनीय है कि ऐसा ही आयोजन होना चाहिए नहीं तो उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच की खाई और बढ़ती ही जायगी; तथा वह इस सीमा तक बढ़ सकती है कि उसको घटाना मुश्किल हो जायगा। जहाँ तक खाद्यान्न का सम्बन्ध है यह वांछनीय है कि जब तक कि स्थानीय तथा क्षेत्रीय माँग की पूर्ति सम्पूर्णतः न हो सके उसे बाहर नहीं जाने देना चाहिए।

साख संबंधी कठिनाइयाँ तथा अनियंत्रित बाजार की समस्याओं के कारण माध्यमिक के प्रश्न पर विचार करना चाहिए। निस्संदेह वह पदार्थों

का संचयन करता है, फिर वितरण करता है, माँग और पूर्ति को संतुलित करता है, बाजार के जोखिम को वहन करता है और आर्थिक सहायता देता है। यथार्थतः हम उसकी सेवाओं के महत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रणाली में खराबी इसलिए है कि माध्यमिक शीर्ष तथा क्षितिज दोनों ही दिशाओं में बहुसंख्यक हैं, वे गोलमाल अधिक करते हैं तथा उत्पादकों के बीच कोई सुदृढ़ संस्था नहीं है। क्षितिजगत माध्यमिकों की अधिकता के कारण यह कहा जा सकता है कि उनको असाधारण बट्टा और कमीशन नहीं मिलता है तथा उनको सम्भवतः कम आमदनी होती है। अन्य रोजगार के रास्ते बन्द हैं, इसलिए शीर्ष रूप में भी माध्यमिक अधिक संख्या में हैं। ये लोग गोलमाल और बेईमानी इसलिए करते हैं कि (i) ईमानदारी से चलने पर लाभ कम होता है तथा (ii) बेईमानी के तरीकों की परिपाटी बन गई है। इस कारण वे अपरिवर्तनशील (कम से कम अल्पकाल में) आदतों का रूप धारण कर चुके हैं। अतः यदि वे हृदय में यह सोचें भी कि वे ईमानदारी के रास्ते पर चलें तथा अन्य लोगों के माध्यम से ईश्वर की सेवा करें तो भी उन तरीकों पर वे चलेंगे ही। यह सच है कि व्यापारिक संघों (Chambers of Commerce) के संस्थापन से इस दिशा में नियामक असर पड़ा है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि अन्य वैकल्पिक रोजगार के अभाव में सरकारी श्रेणीकरण, बाँट के मापदंड को ठीक करने तथा बाजार नियंत्रण के प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं तथा माध्यमिकों का सुधार इतना थोड़ा हुआ है।

साख तथा माध्यमिकों द्वारा उत्पन्न समस्या को हल करने के अन्य उपाय पर विचार करने के पहले यह उल्लेखनीय है कि चुंगी तथा स्थानीय टैक्स (Terminal tax) को समाप्त कर दिया जाय [१]। कर-अनुसंधान समिति (१९२५) ने ठीक ही इंगित किया था कि जिन रूपों में वे भारत में वर्तमान हैं वे कर प्रणाली के सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं तथा उसने राय दी थी कि इस अपरोक्ष-कर (Indirect Taxation) को समाप्त करने तथा

---

[१] चुंगी के स्टेशनों पर क्लर्क द्वारा गैरकानूनी नज़राना लेने की बहुत ही अन्यायपूर्ण तथा असंतोष पैदा करने वाली परिपाटी वर्तमान है।

इसके स्थान पर किसी अन्य प्रणाली यथा, विक्रय-कर को लगाने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए।

सहकारी बिक्री प्रणाली

माध्यमिकों की अवस्था को दृष्टि में रखकर तथा बाजार विषयक शिक्षा की सीमित सम्भावना को देखकर यह आवश्यक है कि विक्रय के लिए कोई अन्य रास्ता निकाला जाय। सहकारी विक्रय के अतिरिक्त कोई अन्य उत्तम तथा सुगम मार्ग नहीं हो सकता। अब यह मान लिया गया है कि सहकारी समितियों में साख के अतिरिक्त विक्रय का कार्य भी करना चाहिए तभी अवांछनीय माध्यमिकों का सुधार हो सकेगा। अब तक देश में कुछ हजार ही सहकारी बाजार समितियाँ है तथा उनको अब तक केवल कपास और गन्ने के क्षेत्र में ही विशेष सफलता मिली है। गन्ने की समितियों के विषय में यह कहना गलत नहीं कि उनमें जनतन्त्रात्मक की अपेक्षा सहकारी अफसरों का ही अधिक नियन्त्रण है: इसलिए उनको इतनी सफलता मिली है। धान, मछली तथा दूध के विक्रय के लिए तथा टमाटर, खाद्यान्न और फलों के उत्पादन और विक्रय के लिए यथा सहकारी समितियाँ स्थापित करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

सहकारिता की सफलता के आधारभूत तत्व

इस प्रकार की सहकारी समितियों के विकास की चार प्रमुख आवश्यक दशाएँ हैं। प्रथम, ग्रामीणों को जाग्रत तथा सहकारिता के मार्ग पर चलने के लिए तथा शिक्षितों में लगन व सच्चाई से प्रबंध-कार्य करने की प्रवृत्ति को जगाने के लिए उचित शिक्षा और प्रचार की आवश्यकता है। मेरी राय है कि यदि सहकारी विभागों तथा शिक्षण संस्थाओं द्वारा उचित प्रयत्न किए जायँ तो विद्यार्थियों में से उपयुक्त कार्यकर्त्ताओं को प्राप्त करना कठिन नहीं है। खेद है कि यद्यपि राजकीय विभाग स्वीकार करते हैं कि शिक्षा वेत्ताओं का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है—विशेषकर उनका जिनका संबंध शिक्षा तथा सहकारिता से है—स्थानीय अफसरों द्वारा बहुत ही कम प्रयत्न किया जाता है कि ऐसे व्यक्तियों को स्थानीय सहकारी प्रगतियों तथा कामों से संबंधित रखा जाय।

द्वितीय, जहाँ तक माल की पूर्ति की समस्या है, कोई भी सफलता न मिलेगी यदि समितियाँ अपने क्षेत्र के उत्पादन के थोड़े अंश का विक्रय ही अपने हाथ में लेती हैं। यह आवश्यक है कि समिति किसानों की (चाहे वे पड़ोस के गाँव के ही क्यों न हों तथा उनके पास अन्न अधिक मात्रा में हो या कम मात्रा में) सद्भावना प्राप्त करे तथा उनको गमनागमन विषयक सुविधा प्रदान करे जिससे कि वे अपने माल को स्थानीय या उपक्षेत्रीय सहकारी समिति में ला सकें।

तृतीय, उत्पादन को अच्छे दर पर बड़ी मंडी में बेचने के लिए बाजार की दशा-विषयक सूचनाओं के शीघ्रातिशीघ्र प्रसार के लिए उचित प्रबंध करना आवश्यक है। क्योंकि ऐसा प्रबन्ध करना कठिन है स्थानीय इकाइयों को क्रमशः उपक्षेत्रीय तथा तालुका-इकाई और बाजार-यूनियन से संबद्ध करना चाहिए। इसका बम्बई में सफल प्रयोग हो चुका है। बड़ी बड़ी इकाइयों को एक बड़ी वार्षिक निर्देशिका (Directory) प्रकाशित करनी चाहिए जिसमें बाजारों की, बड़ी मंडियों के एजेन्टों के नाम की तथा मूल्य की उतार-चढ़ाव की गतियों की सूची अंकित हो और पाक्षिक और विभिन्न सामयिक सूचिकाओं के द्वारा बाजार विषयक ज्ञान उपलब्ध हों। राजकीय कृषि-विक्रय विभाग इस काम को अपने हाथ में ले सकता है।[१०] बाजार-समितियों का उपभोक्ता भंडारों से संबंध स्थापित करना चाहिए ताकि वे अपनी माँग की वस्तुएँ किसी धोखे के बिना प्राप्त कर सकें। इस दिशा में बहुत ही कम प्रयत्न किया गया है।

---

[१०] सीमित क्षेत्र में ही उत्पादकों और उपभोक्ताओं के सीधे संबंध को कायम रखने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। विस्तृत क्षेत्र के लिए सहकारी बिक्री समितियों का सामान्यतः यह प्रयत्न होना चाहिए कि गाँव और थोक मंडी के बीच व्यापार को सुदृढ़ और सम्बद्ध कर सकें। अन्य दो स्तर, यथा, थोक विक्रय (संचयन) से थोक (वितरण) विक्रय के बाजार तक तथा वहाँ से फुटकर विक्रेता तक माल के आवागमन का कार्य आरंभ में न उठाया जाए। थोक तथा फुटकर बिक्री के व्यय को कम करने के लिए उपभोक्ताओं को स्वयम् सहकारी भंडारों का निर्माण करना चाहिए।

चतुर्थ, और अंतिम सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या कोष की है। किसान भावी प्रतिज्ञाओं की अपेक्षा नकद धन को ही अच्छा समझता है। वह बहुधा यह सोचता है "नौ नगद न तेरह उधार"। इसलिए बाजार समितियों के पास पर्याप्त कोष होना चाहिए जिससे कि वे सदस्य-किसानों को अग्रिम धन दे सकें। जहाँ पर साख-समितियाँ विक्रय समितियों से सम्बद्ध हों यह माँग बहुत अधिक नहीं हो सकती। फिर भी, और विशेष रूप से उन लोगों के लिए जो कि साख समितियों से उधार न लें तथा जो कि विक्रय समितियों के सदस्य हों कोष की आवश्यकता पड़ेगी। सहकारी विक्रय समितियाँ पूँजी धन के रूप में पर्याप्त मात्रा में कोष-धन एकत्रित नहीं कर सकतीं। न जमानत के अभाव में वे किसी बैंक या अन्य व्यक्ति से कोष प्राप्त करने की सम्भावना रखती हैं। यदि गोदामों तथा भंडारों (warehouse) का निर्माण किया जाय तो कोष और संचयन की समस्या शीघ्र हल हो जाय। तब संचित माल की जमानत पर धन प्राप्त किया जा सकता है। फिर भी प्रबंध की सच्चाई और कार्य-क्षमता पर तथा नियंत्रण और निरीक्षण की कड़ाई, तथा गोदाम घर या आढ़त के विषय में श्रेणीकरण आदि संबंधी सेवाओं के लिए गए मूल्य पर सफलता निर्भर है। मेरी राय है कि अब भी भारत में गोदाम और आढ़त एक काल्पनिक वस्तुमात्र हैं। यदि प्रादेशिक सरकारें आर्थिक सहायता प्रदान करें तो उनका निर्माण सम्भव हो सकता है। इस दिशा में दक्षिणी भारत अग्रगामी है। उदाहरण के लिए मद्रास, बम्बई, हैदराबाद तथा मैसूर का नाम उद्धृत किया जा सकता है जहाँ पर कि गोदामों के निर्माण के लिए आंशिक आर्थिक सहायता तो राजकीय अनुदान रूप में तथा आंशिक ३½% प्रतिवर्ष व्याज की दर से ३० वर्ष में अदा होने वाले ऋण के रूप में दी जाती है। अन्य प्रदेशों में ऐसा होना अति वांछनीय है। यहाँ यह बता देना अत्युक्ति न होगी कि इतनी सुविधा होते हुए भी बहुत कम सहकारी समितियों ने इसका लाभ उठाया है। यहाँ यह भी इंगित किया जा सकता है कि यह वांछनीय है कि यदि भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा, भारतीय रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १७ (४) (द) के लगाए गए अर्थ में परिवर्त्तन होना चाहिए। इसके द्वारा "हस्तांतरित जायदाद" विषयक

अधिकार-पत्रों की जमानत पर ऋण दिया जाना चाहिए न कि केवल हस्तान्तरित अधिकार-पत्रों पर। महाजन (साख दाता)—(इस विषय में विक्रय-समिति)—हस्तांतरित अधिकार-पत्र की व्यवस्था नहीं कर सकती तथा आढ़त और मालखाना (वेयर हाउस) के अभाव में व्यवस्थापिका सभा वह बात कभी नहीं सोचती थी जो रिजर्व बैंक ने कही है।

कृषि-उत्पादन के मूल्य का स्थिरीकरण

अब तक हम अधिक मूल्य प्राप्त करने की समस्या पर इस प्रकार विचार कर रहे थे कि उपभोक्ता द्वारा दिए गए मूल्य तथा आरम्भिक उत्पादक द्वारा प्राप्त मूल्य का अन्तर तो घटकर हो परन्तु उपभोक्ता द्वारा दिया मूल्य न घटे। तब भी यह सोचते समय कि उपभोक्ता द्वारा दिया गया मूल्य किस प्रकार बढ़े यह कहा जा चुका है कि नियंत्रित पूर्ति, श्रेणीकरण तथा परिवर्त्तन क्रियाओं (processing) की आवश्यकता है। अधिक क्रेताओं को प्राप्त कर (विशेषतः निर्यात के क्षेत्र में) तथा प्रसरणशील (expansionist) अर्थ-व्यवस्था के द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि करके उपभोक्ताओं के मूल्य को बढ़ाया जा सकता है।

अधिक-निर्यात बाजार को अधिकृत करने के प्रश्न को एक ओर छोड़ कर, राष्ट्रीय आमदनी में वृद्धि के अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने का एक अन्य रास्ता यह होगा कि राजकीय नियमों द्वारा मूल्य का स्थिरीकरण किया जाय। हमने अब तक समय के साथ-साथ मूल्य में होने वाले उतार-चढ़ाव की समस्या पर विचार नहीं किया है। मंदी के दिनों में अकृषि-पदार्थों के मूल्य की अपेक्षा कृषि पदार्थों के मूल्य अधिक तेजी से गिरते हैं। मंदी के बाद जब भाव बढ़ते हैं तो अकृषि पदार्थों के मूल्य की अपेक्षा कृषि पदार्थों के मूल्य कम तेजी से बढ़ते हैं। प्रत्येक व्यवसाय में उतार-चढ़ाव होना स्वाभाविक और सामान्य है, परन्तु भारतीय जनता के जीवन-स्तर की अति निम्न-स्थिति के कारण यह न्याययुक्त है कि उतार-चढ़ाव को रोकने के लिए प्रयत्न किया जाए।

पूर्त्ति, माँग या दोनों को नियंत्रित करके उतार-चढ़ाव को रोका जा सकता है। उत्पादन के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर या संचय में और वितरण-बाजार

में माल के आवागमन में हेर-फेर कर पूर्ति को नियंत्रित किया जा सकता है। उचित रूप से मूल्य निर्धारण-द्वारा तथा उपभोक्ताओं को शिक्षित कर माँग को प्रभावित किया जा सकता है। इस विषय के उपचार के साधन ये हैं :—योजना, माल का आवागमन, और मूल्य का निर्धारण तथा नियंत्रण। इस हेतु सरकार द्वारा क्रय-विक्रय और आकस्मिक घटनाओं के समय स्थिति संभालने के लिए भांडारों (Bufferstock) के निर्माण की आवश्यकता है। उचित और पूर्ण समंक और सूचना के अभाव में तथा अक्षम कर्मचारी के कारण वर्तमान समय में इसमें सफल होना कठिन है। तब भी अगले अध्याय में मूल्य के स्थिरीकरण की समस्या पर अधिक प्रकाश डाला गया है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

कृषि-विषयक मूल्य का स्थिरीकरण

भारत में पुनर्निर्माण योजना की द्वितीय रिपोर्ट में मूल्य का एक आर्थिक-स्तर पर स्थिरीकरण आवश्यक समझा गया है। 'आर्थिक-स्तर' (Economic level) से यह परिलक्षित होता है कि इस स्तर पर उचित उत्पादन हो सकेगा। इस तरह हमारा उद्देश्य है पर्याप्त उत्पादन तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मूल्य का स्थिरीकरण एक आवश्यक अंग है।

परन्तु पर्याप्त उत्पादन ही अंतिम साध्य नहीं है। जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा करना ही वास्तविक लक्ष्य है। कृषक की वर्तमान् क्रय-शक्ति उसको यह अवसर नहीं देती है कि वह गरीबी से मुक्ति पा सके। इस क्रय-शक्ति को बढ़ाने के लिए कई मार्ग हैं। प्रथम, सरकार शिक्षा-विषयक सुविधाएँ, गमनागमन के साधन आदि प्रदान कर सकती है इस प्रकार वह किसान के उपभोग और उत्पादन व्यय का कुछ भार अपने ऊपर ले ले। दूसरा मार्ग यह है कि क्रियात्मक रूप से (केवल कागजी तौर पर नहीं) लगान, ऋण तथा सामाजिक परिपाटियों के कारण होने वाले किसानों के बढ़ते हुए उत्पादन व्यय को घटाया जाय। तृतीय, गैर कृषि-उत्पादन के विकास से समस्या का हल मिल सकता है। चतुर्थ, सरकार आर्थिक सहायता प्रदान करके हमारे कृषि-उत्पादकों की प्रतियोगिता-शक्ति को बढ़ा सकती है। पंचम, सरकार मंडियों में कृषि-उत्पादन को खरीदकर वितरण बाजार में बेचे। षष्ठम,सरकार द्वारा कृषि-उत्पादन के कुछ या सभी मूल्यों की निम्नतम व उच्चतम सीमा निर्धारित होनी चाहिए तथा आकस्मिक आवश्यकता के लिए सचित अन्न की सहायता से निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत मूल्य की गति को बनाए रखना चाहिए। सप्तम, सहकारी विक्रय समितियां, नियंत्रित बाजार और उपभोक्ता-सहकारी समितियों के द्वारा (माध्यमिकों और महाजनों द्वारा किए गए) किसान के शोषण को कम किया जा सकता है। कृषि का यंत्रीकरण करके भूमि की उर्वरता को बढ़ाने का प्रयत्न करना आठवाँ मार्ग है।

उपर्युक्त प्रत्येक उपाय का निम्नांकित एक या अधिक कारणों से

अस्वीकृत किया जा सकता है। इसमें जो व्यय होगा वह सरकार की वर्तमान् आर्थिक-शक्ति के बाहर तो होगा ही प्रत्युत वह अन्य मूल्यों पर अनुचित प्रभाव डालेगा। राजनीति के दृष्टिकोण से वर्ग संबंधित विरोध बढ़ जायगा जो कि अवांछनीय है। एक नई सरकार से उचित दिशा में शीघ्रगामी प्रगति की आशा नहीं की जानी चाहिए। कार्यालयों की देरी और अकुशल कर्मचारियों के कारण फल केवल शोषण, दबाव, कुप्रबंध तथा अव्यवस्था ही होगी। यह उचित नहीं है कि विश्व-मूल्य-स्तर से अलग कर स्वतंत्र रूप से भारतीय मूल्य का स्थिरीकरण किया जाय। केवल कृषि-पदार्थों का मूल्य ही नहीं बल्कि अन्य वस्तुओं के मूल्य को भी ऊँचे स्तर पर होना चाहिए। इस योजना को क्रियात्मक रूप देने के लिए आवश्यक कुशल विशेषज्ञों की कमी है। प्रगति बहुत ही धीमी होगी : वर्तमान् तीव्र परिवर्तन काल में स्थिति बहुत ही अप्रगतिशील सिद्ध होगी यदि समस्या का हल इस प्रणाली पर किया जाय। सिद्धान्त तथा क्रियात्मक क्षेत्र के प्रश्नों का ठीक हल संतोष-पूर्वक नहीं किया जा सकता।

इसके साथ-साथ यह भुलाया नहीं जा सकता कि जनता जीवन-स्तर को बढ़ाना और उच्चतर करना चाहती है। यदि सरकार की नियामक संस्था तत्पर है और कार्य्यकारिणी विभाग सरकार के निर्णयों का क्रियात्मक रूप देना चाहता है तब उद्देश्य-प्राप्ति हो सकती है, चाहे किसी भी मार्ग का अनुसरण किया जाय। समस्या का कोई भी हल वह चाहे क्रान्तिकारी या शीघ्रगामी हो, संयत हो या शान्तिपूर्वक मंदगामी, हमें सफल बना सकता है।

जहाँ तक कृषि-उत्पादनों के मूल्य के स्थिरीकरण का संबंध है इसके कई अर्थ हो सकते हैं, यथा, कृषि अखाद्य-वस्तुओं की तुलना में खाद्यान्न के मूल्य का स्थिरीकरण हो सकता है। या इसका अर्थ कृषि-उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा कृषि-उत्पादन के मूल्य का स्थिरीकरण हो सकता है। एक अन्य अर्थ मौसमी तथा वृत्तात्मक उतार-चढ़ाव की गति-विधियों की बढ़ती हुई युक्त प्रवृत्ति या बिना इसके—को यथासाध्य मंद बनाने से हो सकता हैं। या पुनर्निर्माण योजना की द्वितीय रिपोर्ट में प्रकाशित सिद्धान्तों की रूपरेखा के अनुसार अर्थ लगाया जा है। हमारे मत में कृषि-उत्पादन के मूल्य के स्थिरीकरण का इस समय केवल यह अर्थ लगाना चाहिए कि मौसमी उतार-चढ़ाव को कम किया जाए

इस हेतु सहकारी विक्रय समितियां, नियंत्रित बाजार तथा उपभोक्ता सहकारी समितियों की स्थापना होनी चाहिए। अन्य तथा अपेक्षतया अधिक वांछनीय उपचार ये हैं :—उत्तम उत्पादन, फसल-योजना तथा गैर कृषि-उत्पादन का विकास [१]।

यह दलील पेश की जा सकती है कि संक्रान्ति-काल में कृषि-उत्पादन के मूल्य में एक तीव्र उतार आने की संभावना है। हर हालत में गैर कृषि-उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा कृषि-मूल्य का ह्रास अधिक हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि इसका प्रतिकूल परिणाम बहुत ही बुरा होगा क्योंकि पिछले विश्व-महायुद्ध में किसान को अपने जीवन-स्तर को ऊंचा करने का कुछ अवसर मिला है। वे किसान जो पिछली तेजी के फलस्वरूप अब ऋण मुक्त हैं पुनः उसी सीमा तक महाजन के पंजे में ऋण-ग्रस्त हो सकते हैं।

परंतु यह अभी तक सिद्ध करना है कि साधारण किसान का जीवन-स्तर उठ गया है तथा वह पर्याप्त मात्रा में ऋण-मुक्त है। जहां तक ऋण का संबंध है भारतीय रिजर्व बैंक के कृषि-साख-विभाग द्वारा अध्ययन किया गया है परन्तु अभी तक तथ्य जनता के समक्ष नहीं आए हैं। ट्रेन यात्रा में (म० प्र०, हैदराबाद तथा बम्बई के कुछ भागों से होकर) तथा शहरों में मिले ग्रामीणों तथा शिक्षित व्यक्तियों से प्राप्त सूचनाओं से यह लक्षित होता है कि साधारण किसान की ऋण-की अवस्था में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है।

इसके अतिरिक्त किसान की नकद धन की आवश्यकता उसके नकद आमदनी से कई गुनी बढ़ कर है। वाई तालुका (Wai Taluka) में फसल तथा पशुधन के उत्पादन से प्राप्त उसकी आमदनी का हिसाब लगभग ३० रुपया था जब कि उसके उत्पादन के साधनों की आवश्यकता लगभग

---

[१] यहां यह अवश्य उल्लेखनीय है कि मूल्य के स्थिरीकरण का विचार सं० रा० अमरीका से (जहाँ इसका प्रवर्त्तन १९३३ में हुआ) आया है। लाखों डालर व्यय कर के सं० रा० अ० ने इस दिशा में लगभग १५ वर्ष तक प्रयोग किया। फिर भी उसे एक पूर्ण सफल आन्दोलन नहीं माना जा सकता तथा अब सरकार अपना ध्यान इससे हटा कर फार्म-आमदनी के स्थिरीकरण पर केन्द्रीभूत कर रही है। यह एक महत्त्वपूर्ण पाठ है तथा हमारे लिए एक चेतावनी भी।

१३५ रुपया के बराबर थी। भिवान्डी तालुका (Bhiwandi Taluka) में दोनों का अनुपात १ : २ था। इसका कारण यह है कि खाद्यान्न का अधिक भाग किसान अपने पास ही उपभोग के लिए रख लेता है। किसानों को उचित सहायता तब मिल सकती है जब उसे पूर्व युद्ध कालीन (यथा गेहूँ तथा चावल के) मूल्य के २ से ३ गुना मूल्य प्राप्त हो। वर्तमान् अपौष्टिक आहार को दृष्टि में रखकर (विशेषकर शहरी क्षेत्रों तथा औद्योगिक विकासहीन क्षेत्रों में) ऊँचे मूल्य अवांछनीय हैं। अंतर्राष्ट्रीय बाजार वाली वस्तुओं के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य की दशा को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

औद्योगिक कच्चे माल के संबंध में यह दलील पेश की जा सकती है कि औद्योगिक-उत्पादन व्यय तथा तैयार माल के वितरण-व्यय को कम करने का अधिक अवसर है, यद्यपि इसे अभी प्रमाणित रूप से सिद्ध करना शेष है। निस्सन्देह व्यावसायिक क्षेत्र में युक्तिसंगत पुनर्संगठन (Rationlization) के लिए पर्याप्त सीमा और अवसर है। इसके साथ साथ यह भी आवश्यक है कि औद्योगिक मजदूर को उचित मजदूरी दी जाय।

इस आधार पर कि उद्योगों को अभी विकसित करना है किसानों को उनको कच्चे माल पर एक उचित मूल्य न देने की नीति अनुचित है। यदि व्यवसाय तथा उद्योग अन्य सम्भावी पूर्ति के साधनों की प्रतियोगिता में अक्षम हो तो ऐसे उत्पादन को छोटे पैमाने पर संस्थापित किया जाय तथा "स्वदेशी प्रयोग" के आन्दोलन को अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। फिर भी यह कहा जा सकता है कि वर्तमान् संक्रान्ति काल में कच्चे माल के बाजार को सुधारने से अधिक अन्य कोई क्रियात्मक कदम नहीं उठाया जा सकता तथा सहकारी-बिक्री और नियंत्रित बाजार ही रोग के उपचार हैं।

अब कृषि उत्पादन-मूल्य-स्थिरीकरण की वैधानिक कठिनाइयों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। प्रथम, न तो किसान के उत्पादन व्यय और उपभोग व्यय के और न प्रतिएकड़ उत्पादन की मात्रा विषयक सही समंक प्राप्त हैं और न उनका कोई रिकार्ड (Record) है। द्वितीय, क्रय तथा विक्रय के लिए कोई कुशल तथा ईमानदार व्यवस्था नहीं है। तृतीय, कृषि अब तक मानसून के क्रमरहित स्थिति पर आधारित है तथा हम जलवायु-विज्ञान में

अभी बहुत पिछड़े हैं ; इसलिए फसल-चक्रों (Crop Cycles) के विषय में हमारी गणना गलत होती है। चतुर्थ, योजनाओं के अनुसार फसल पर सुचारु रूप से नियंत्रण करने वाली संस्था नहीं है।

सहकारी विक्रय-समितियों के निर्माण, नियंत्रित बाजार तथा उपभोक्ता सहकारी समितियों के अतिरिक्त कृषि उत्पादन-मूल्य का स्थिरीकरण न तो वांछनीय है और न क्रियात्मक। जीवन को ऊँचा करने के लक्ष्य का यह ठीक मार्ग नहीं है। फसल-योजना की समस्या (बीज और खाद की भी) पर अधिक ध्यान देकर विकसित उत्पादन, भू-कटान, सिंचाई, जोत तथा कुटीर-उद्योग-धन्धे का विकास के क्षेत्र में हमें प्रथम प्रगति प्राप्त करनी चाहिए।

कृष्णमचारी समिति
(Krishnamchari Committee)

कृषि, वन तथा मत्स्य केन्द्रों संबंधी नीति-समिति ने मूल्य उप समिति स्थापित की थी उसकी रिपोर्ट (Report of the Prices Sub-Committee of the Policy Committee on Agriculture, Forestry and Fisheries) से भारतीय सरकार विशेष प्रभावित जान पड़ती है। समिति का चेयरमैन श्री वी०टी० कृष्णमचारी थे। समिति ने स्वीकृत किया है कि सरकार को चाहिए कि वह :—

(१) कुछ चुनी हुई कृषि-उत्पादन के वस्तुओं की कीमत में न्यूनतम उचित सीमा की गारंटी दे दे तथा ऐसी व्यवस्था करे कि उसका लाभ छोटे उत्पादकों तथा कृषि-मजदूरों को ही मिले ;

(२) उपभोग के क्षेत्र में आर्थिक सहायता प्रदान करके छोटी आमदनी वाले व्यक्तियों को राहत प्रदान करे तथा वस्तुओं का मूल्य एक निश्चित अधिकतम सीमा से ऊपर न बढ़ने दे।

(३) एक सहायक अनुपूरक नीति के साथ-साथ जिसमें कि उचित रोजगार, आमदनी तथा क्रयशक्ति को अक्षुण्ण रखा जा सके, कृषि विषयक तथा सामान्य आर्थिक विकास के लिए विभिन्न सिद्धान्तों को एक साथ क्रियात्मक रूप दे।

मोटे अक्षरों में छपा अंश यह प्रकट करता है कि मूल्य स्थिरीकरण छोटे उत्पादकों, खेतिहर मजदूरों तथा कम आमदनी वाले समूहों को लाभ देने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इस प्रकार के लाभ की सुरक्षा कड़ाई के साथ करनी पड़ेगी, आर्थिक सहायता देनी पड़ेगी तथा अन्य प्रकार के विभिन्न अन्य काम करने पड़ेंगे। हमारे लिए इनका महत्व मूल्य-स्थिरीकरण की अपेक्षा अधिक है।.

उक्त समिति ने यह स्वीकृति दी है कि उचित मूल्य-निर्धारित करके उन्हीं को उचित साम्य मूल्य (Fair Parity Prices) मान लें। बाजार-भावों को इन मूल्यों (Parity Prices) के ही (न्यूनतम मूल्य और अधिकतम मूल्य के बीच) बनाए रखना चाहिए। यह अजीब बात है कि समिति न्यूनतम जीविकादायी मूल्य की गारंटी देती है। परंतु उसके निर्धारित किए 'उचित मूल्य' और अंत में यह चाहती है कि इनको 'उचित साम्य मूल्य' के रूप में स्वीकृत किया जाय तथा यह भी कि 'बाजार-मूल्य' 'न्यूनतम मूल्य' की सीमा से नीचे नहीं गिरे। ऐसा प्रतीत होता है कि समिति अन्तरिम (या अल्पकाल ?) अवधि में "उचित साम्व मूल्य" (Fair Parity Prices) तथा "न्यूनतम मूल्य" (Minimum Prices) पसंद करती है और दीर्घकाल में उचित मूल्य (Fair Prices) तथा "न्यूनतम जीविकादायी मूल्य" (Minimum Remunerative Prices)। परन्तु कहीं भी "न्यूनतम जीविकादायी मूल्य" तथा "न्यूनतम मूल्य" के बीच कोई भेद नहीं किया गया है। समिति यह नहीं अच्छा समझती है कि दीर्घकालीन शक्तियों का (यथा, उत्पादन-शक्ति में बृद्धि और माँग में परिवर्तन) पदार्थों के कृषि-उत्पादन मूल्य पर सामान्य प्रभाव न पड़े [२]।

न्यूनतम तथा अधिकतम मूल्यों floors and ceilings) को समय समय पर पुनर्निर्णीत करना पड़ेगा : इस हेतु नीति यह होनी चाहिए कि "बाजार में माँग और पूर्त्ति की गतिविधियों के कारण होने वाले आकस्मिक तथा अव्यवस्थित मूल्य परिवर्त्तनों के स्थान पर एक नियोजित नीति के अनुसार निश्चित समय के मध्यान्तरों (Intervals) पर मूल्य में एक सीमित तथा क्रमिक

[२] देखिए वही, पृष्ठ ४०

परिवर्तन किए जाएं[३]" । इसलिए यह आवश्यक है कि "उचित मूल्य" भी समय समय पर पुनर्निर्धारण हो, यद्यपि ऐसा समिति ने स्पष्ट नहीं लिखा है ।

समिति का विचार है कि "साम्य आमदनी" (Parity Incomes) का लक्ष्य साम्य-मूल्य (Parity Prices) की अपेक्षा अधिक वांछनीय है । फिर भी, चूँकि सम्पूर्ण आमदनी का कुछ वस्तुओं के मूल्यों के रूप में अध्ययन करने की उचित प्रणाली का आविष्कार अभी नहीं हो सका है, कुछ समय तक साम्य-आमदनी के प्रतिनिधि के रूप में साम्य-मूल्य का प्रयोग करना ही पड़ेगा ।"[४] हम इससे सहमत नहीं है कि साम्य-आमदनी की रूपरेखा-निर्धारण के लिए साम्य-मूल्य को साधन बनाया जाय । फिर भी यह ज्ञातव्य है कि "उचित मूल्य" के अन्तर्गत "सामान्य (प्रतिनिधि) जोत"[५] के उत्पादन व्यय से कम न होगा तथा यह इतना होगा कि कृषि-मजदूरों को उचित मजदूरी और उत्पादक के पास इतनी आमदनी बचेगी जिससे कि वह तुलनात्मक (Comparable) पेशे वाले लोगों के समान ही जीवन स्तर पर अपनी आजीविका चला सके ।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि समिति ने "साम्य-आमदनी" के लक्ष्य के स्थान पर अंत में जीवन के साम्य-स्तर (Parity Standard of Life) को ही चुना है ।

उचित मूल्य को तभी निर्धारित तथा कार्यान्वित कर सकेंगे जब आवश्यक आंकड़े प्राप्त हो जाएंगे । तब तक १६२४-२६ की पंचवर्षीय अवधि (Quinquennium) में कृषि-उत्पादन-मूल्य तथा कृषि-उत्पादन के बीच जो साम्य (Parity) आधार पर मूल्यों का निश्चित किया जायगा । कपड़े, मिट्टी के तेल, नमक, गुड़, मीठे तेल, लोहा और इस्पात, बैल, खाद, खली और चारे आदि के मूल्यों के उचित भारित देशनांक (weighted index number) द्वारा कृषि-उत्पादन-मूल्यों को नापेंगे । मजदूरी, लगान

---

[३] देखिए वहीं, पृष्ठ ४१

[४] देखिए वही, पृष्ठ ५५

[५] प्रतिनिधि जोत पर उत्पादन-व्यय का अर्थ है प्रमुख उत्पादन क्षेत्र में प्रतिनिधि गुण वाली भूमि के प्रतिनिधि क्षेत्रफल और आकार वाले जोत पर होने वाला उत्पादन-व्यय । देखिए वही, पृष्ठ ४७-४८ ।

तथा भोजन व्यय आदि मदों को समिति द्वारा इस आधार पर छोड़ दिया गया है कि बहुधा (१) प्रथम दो मदों को उत्पादन-अंश के रूप में अदा करा जाता है तथा किसान अपने खाद्यान्न का अधिकांश स्वयं पैदा कर लेता है बशर्ते वह केवल व्यापारिक उपज का उत्पादन ही न करता हो।

निम्नांकित कारणों से न्यूनतम मूल्य, 'उचित साम्य-मूल्य' से कम हो सकता है :—

(१) कृषि-मूल्यों तथा सामान्य (general) मूल्य-स्तर के बीच संबंध।

(२) भारतीय तथा विदेशी मूल्य-गतिविधियों में संबंध।

(३, आर्थिक सहायता, लगान की छूट तथा इस प्रकार की अन्य सरकारी सहायता और अनुदान।

(४) सरकार के हाथ अर्थ और कोष के वर्तमान् साधन् जिनसे कि योजनाओं को सक्रिय रूप दिया जा सके।

(५) सामान्य मूल्य-स्तर को घटाने की सरकारी नीति।

किसी भी साल में साम्य-मूल्यों के १२½% से अधिक की कमी न्यूनतम मूल्यों में नहीं होगी तथा किसी भी दशा में मूल्य को १९२४-२९ के मुख्य उत्पादक क्षेत्रों के औसत मूल्य से १२५% से कम नहीं होने देंगे। खेत बोने के पहिले ही न्यूनतम मूल्यों का प्रकाशन कर देना चाहिए तथा उस फसली साल में फिर कोई भी परिवर्त्तन नहीं होना चाहिए।

मूल्य-निर्धारण की नीति को चावल, गेहूँ, ज्वार और बाजरा (खाद्यान्न के विषय में) तथा कपास, जूट, गन्ना (व्यापारिक फसल के क्षेत्र में) क्रमशः लागू किया जाए। प्रदेशों द्वारा स्थानीय तथा क्षेत्रीय आधार पर पशु जनित पदार्थों के उत्पादन के मूल्य को नियंत्रित किया जाना चाहिए।

तीन सदस्यों (प्रादेशिक मंत्रियों) की एक अखिल भारतीय कृषि- मूल्य[६] सभा ही व्यवस्था करेगी। इसके अन्तर्गत तीन सदस्य वाला एक मूल्य निर्धारण-कमीशन[७] तथा तीन सदस्य द्वारा संचालित एक वस्तु-निगम (Commodity Corporation) होगा। मूल्य निर्धारण कमीशन एक

---

[६] All India Agricultnral Prices Council.

[७] Price Determination Commission.

हद तक न्यायकर्त्ता भी होगा तथा इसके अन्तर्गत एक आर्थिक तथा समंक विभाग (Bureau of Economics and Statistics) होगा जो कि आवश्यक आँकड़ों का संचय, विश्लेषण तथा अध्ययन करेगा।

१९४७ में ही यह इंगित किया गया था कि भारत सरकार प्रारम्भिक क़दम उठाना चाहती है यथा, सभा और विभाग (Council and Bureau) का निर्माण, भंडार का निर्माण तथा अन्न-स्टाक का निर्माण। कृषि-मन्त्रियों के अधिवेशन ने (१९४८) समिति के सुझावों को स्वीकार किया परन्तु अभी इनको सक्रिय रूप देने के लिए समय उचित नहीं समझा। उसने स्वीकृत किया कि मूल्य-स्थिरीकरण के लिए एक केन्द्रीय संस्था का निर्माण किया जाय जो धीरे-धीरे एक विकसित संस्था का रूप ले लेगी।

बारहवाँ परिच्छेद

खेती में श्रम

उत्पादन के प्रत्येक साधन के पूर्तिकार को उचित पुरस्कार मिलना चाहिए—ऐसा पुरस्कार जिससे कि (१) अन्य साधनों के समान वह भी देश की राष्ट्रीय-आमदनी में योग दे तथा (२) दूसरों के समान वह भी उचित लाभ प्राप्त कर सके। जहाँ एक ही व्यक्ति द्वारा श्रम, प्रबन्ध तथा जोखिम के साधन उपलब्ध किए जाते हैं वहाँ सदैव यह सम्भावना रहती है कि वह व्यक्ति आसानी से—अनजाने य बाध्य होकर—अपने श्रम के पुरस्कार को कम कर या उसकी उपेक्षा करके यह प्रवृत्ति तब अधिक पाई जाती है (१) जब उसका पेशा खेती है जो कि व्यापार न होकर जीविकोपार्जन का एक स्वाभाविक मार्ग है और (२) यदि पेशे को छोड़ने में श्रम की गतिशीलता की कठिनाइयाँ हों।[१] इसके अतिरिक्त यदि परिपाटियों और रस्मरिवाजों का अधिक प्रचलन हो और जीवन का एक विशेष (यथा आध्यात्मिक)[२] दृष्टिकोण जनता में वर्तमान हो तो मजदूर अपनी जगह पर ही उसी पेशे में, उसी मजदूरी पर, उसी (या पड़ोसी) खेत में उलझा रहता है: वह खेती को आजीविका का एक स्वाभाविक मार्ग समझ कर उसी से चिपटा रहता है। यदि किसी देश में यही अवस्था वर्तमान हो तो समाज (या सरकार) को ग्रामीण आर्थिक ढाँचे, कृषि की अर्थ दशा तथा श्रम की पूर्ति और मजदूरी पर

---

[१] कृषि श्रमिक निम्नांकित कारणों से बहुत कम स्थानान्तरणशील है:—(१) घर का प्रेम (२) अज्ञान (३) गमनागमन के साधनों की कमी (४) कृषि-पेशों की कमी। गाँवों मेंएक कहावत प्रचलित है:—"*घर की आधी अच्छी, बाहर की पूरी नहीं।*"

[२] जीवन का आध्यात्मवादी दृष्टिकोण मानव को संतोषी बनाता है और इसलिए वह परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों की परवाह नहीं करता है। इसी प्रकार यदि पुराना ऋण अदा नहीं किया गया पूर्वजों के आत्मा को प्रतारणा मिलेगी, यह विश्वास मजदूरों को मजबूर करता है कि वे अपनें पूर्वजों द्वारा स्वीकृत प्राचीन दर पर मजदूरी करके ऋण अदा करें।

विचार करके उसका पुनर्संगठन करना चाहिए। प्रत्येक खेतिहर मजदूर यह अभिलाषा रखता है कि वह एक असामी फसल में एक हिस्सेदार या एक लगान देने वाला बन जावे तथा अन्त में भूमि का मालिक। संभव है कि कृषि-श्रमिकों की बढ़ती हुई पूर्ति के कारण जोत का क्षेत्र छोटा पड़ जाय। इस प्रकार श्रम का पूरा उपयोग नहीं हो पाता[३]। भारत में यही दशा है।

संकीर्ण विचारानुसार, कृषि-श्रमिक वह है जो दूसरों के लिए काम करके मजदूरी प्राप्त करता है। यह मजदूरी नकद या वस्तु या सेवा के रूप में (अग्रिम या बाद में) दी[४] जा सकती है। ऐसे श्रमिक के पास खेत हो भी सकते

---

[३] "*दक्षिण भारत के एक गाँव में भूमि और श्रम*" (*Land and Labour in a Deccan Village*) में डा० हेराल्ड मैन ने लिखा है: "ब्रिटिश-शासन के प्रारम्भिक दिनों में जोत का आकार अच्छा और संतोषजनक था। उनका क्षेत्रफल बहुधा ९ या १० एकड़ से भी अधिक था।" १९४० में इलाहाबाद जिले में $\frac{2}{3}$ से भी अधिक जोतें २ एकड़ से कम थीं। ऐसा ब्रिटिश-काल के आरम्भ में मुश्किल से कहीं दिखाई पड़ता था। १० एकड़ या उससे भी अधिक क्षेत्रफल वाली जोतें ४·७% थीं। उसके साथ साथ प्रति १००० कृषकों पर कृषि-श्रमिकों की संख्या १९२१-३१ के बीच २९४ से बढ़कर ४१७ हो गई थी।

[४] खेत के श्रम की समस्याओं पर वाद-विवाद करते समय बिभिन्न प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि "कृषि-श्रमिक", 'ग्रामीण श्रम", कृषि में काम करने वाला 'अतिरिक्त कृषि में काम करने वाला" और "फार्म के नौकर" अलग अलग अर्थ रखते हैं। श्री त्रिलोक सिंह ने अतिरिक्त खेती के मजदूरों के विषय में लिखा है—उनके द्वारा प्रस्तावित पुनर्निर्माण के पश्चात् बचा हुआ श्रम अतिरिक्त श्रम है:—

	पुनर्निर्माण के पश्चात् आवश्यक संख्या
किसान	२६० लाख
खेत	२३५ लाख
अतिरिक्त श्रम (अनावश्यक)	१५५ लाख

अतिरिक्त श्रम के परिवार में ७५० लाख से अधिक प्राणी होंगे। यह गणना अविभाजित भारत के लिए की गई थी।

हैं और नहीं भी। यदि वह स्वयम् कुछ उत्पादन करने में समर्थ होता है तो उचित मजदूरी के निर्धारण की समस्या कठिन हो जाती है। हम कृषि-श्रम को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) वे जिनके लिए मजदूरी ही जीने का मुख्य साधन है।

(२) वे जिनके लिए कृषि से प्राप्त मजदूरी साल के किसी विशेष अवधि के लिए मुख्य जीविका है और जो शेष अवधि में किसी अन्य पेशे से अतिरिक्त आमदनी कमा भी सकते हैं और नहीं[५] भी।

(३) वे जो केवल अतिरिक्त और सहायक आमदनी के उपार्जन के लिए खेती में काम करते हों।

(४) वे जो कि बेगार या बल-प्रयोग के कारण खेती में काम कर अपनी रोज़ी कमाते हों[६]।

"*भारतीय ग्रामीण समस्याएँ* (*Indian Rural Problems*) के लेखकों के अनुसार खेती के मजदूर के अन्तर्गत ये आते हैं :—

(१) खेत का श्रमिक (हलवाहा, काटने वाला, बोनेवाला, सफाई करने वाला तथा पौधों को दूसरे स्थान पर लगाने वाला, (२) साधारण श्रम (जो बाँध-निर्माण, कुआं-निर्माण, नहर की सफाई आदि में लगा हो) (३) कुशल श्रम (यथा, बढ़ई, लुहार, चमार आदि)। इसके अन्तर्गत आंशिक-बेकार नहीं आते हैं : इनको श्री त्रिलोक सिंह खेती के मजदूर के अन्तर्गत रखते हैं।

भारतीय ग्रामीण समस्याएँ (*Indian Rural Problems*) में जो श्रेणीकरण हुआ है उसमें कुआं खोदने वालों को कुशल-श्रम के अन्तर्गत नहीं रक्खा गया है तथा खेती में बेगार और बलपूर्वक प्रयुक्त श्रम के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

[५] उ० प्र० में पश्चिमी जिलों (यथा, मेरठ मुजफ्फरनगर आदि) में खेती के मजदूरों की आर्थिक दशा बस्ती, आजमगढ़, गोरखपुर, आदि पूर्वी जिलों की अपेक्षा अच्छी है।

[६] उ० प्र० के पूर्वी तथा मध्य भाग में भी एक बहुत ही छोटी जोत (लगभग एक या दो स्थानीय बीघा का कुछ ग्रामीण परिवारों को दिया जाता है जो कि इस जोत के लगान के रूप म दो-चार आने मजदूरी और कभी-कभी

परन्तु कृषि-श्रम के इस विभाजन में असामी, विशेषकर खेती करने वालों का जिक्र नहीं है यद्यपि उनके हिस्से किसी खेती के मजदूर की तुलना में शायद ही अच्छे हों। कृषि-श्रम-समस्या पर विचार करते समय इन बँटाई के हिस्सेदारों की उपेक्षा करना अवांछनीय होगा।

कृषि-श्रमिक संबंधी आंकड़े

यदि हम विभिन्न-श्रेणी के कृषि-श्रम की मात्रा संबंधी आंकड़े प्राप्त करने का प्रयत्न करें तो असफल होंगे। पूर्णतः तथा सही सही समंक कभी भी एकत्रित नहीं हुए हैं[७]। जनगणनाओं में भी एक वर्ग का मनुष्य दूसरे में सम्मिलित कर लिया गया है[८]। इसलिए कृषि-मजदूरों की संख्या के विषय में

एक समय के लिए पर्याप्त मोटे अनाज पर भू-स्वामी का जुताई व अन्य कृषि-सम्बन्धी काम करते हैं। हरदोई, बस्ती, और गोरखपुर के जिलों में यह प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है।

[७] हमें निम्नांकित विषय में पूरी सूचना प्राप्त नहीं है:—

(१) स्थायी, मौसमी तथा दैनिक मजदूरों की संख्या
(२) इन मजदूरों की माँग और पूर्ति
(३) विभिन्न आकार के जोत पर मजदूरों का वितरण
(४) मौसमी-मजदूर की माँग की गति-विधि
(५) खेती के मजदूर, मजदूरी और किसान की आमदनी का पारस्परिक संबंध।
(६) व्यापारिक तथा अव्यापारिक फसल के क्षेत्रों में मजदूरी की स्थिति
(७) बड़े फार्म तथा छोटे फार्म द्वारा दी गई मजदूरी का भाग
(८) ग्राम में मजदूरी और मूल्यों का संबंध।

[८] १९२१ की जनगणना के बहुत से खेती के मजदूरों और फार्म के मजदूरों को सन् १९३१ की जनगणना में 'कृषि-श्रम" के अन्तर्गत एक ही में सम्मिलित कर लिया गया है। सन् १९३१ की जनगणना में जो नया वर्ग बदलते हुए (shifting) क्षेत्र के कृषक हैं वह सन् १९२१ की जनगणना के दो प्रथम समूहों (खेती करने वाले मालिक तथा खेती करने वाले असामी) से लिया गया है।

विभिन्न अनुमान हैं। डा० राधाकमल मुकर्जी इसको ६००-७०० लाख बतलाते हैं : वे छोटी जोत वालों को भी जो अपनी बढ़ाने वाली आमदनी कार्य के लिए अन्य कार्य भी करते हैं गिन लेते हैं। श्री त्रिलोक सिंह के अनुसार, अविभाजित भारत में, १३५ लाख खेत के मजदूरों को उचित पारिश्रमिक देने तथा संतोषजनक स्थिति में रखने की और अतिरिक्त १५५ लाख व्यक्तियों को उचित रोजगार देने की समस्या है [९]। उ० प्र० के लिए (१९४१) यह अंक क्रमशः २७ लाख तथा ४१ लाख होगा यदि मान लिया जाय कि औसत पुनर्संगठित जोत ७ एकड़ का होगा। प्रादेशिक और भारत सरकार द्वारा किए पर्यवेक्षण के फलस्वरूप कुछ आंकड़े प्रकाशित हुए हैं। स्थायी मज़दूरों और दैनिक मज़दूरों के पारिश्रमिक में ड्योढ़े दूने का अंतर पड़ जाता है। दैनिक मज़दूरी पर काम करने वालों में से दो तिहाई को मज़दूरी के अतिरिक्त कोई नाश्ता या सुविधा नहीं मिलती है, यद्यपि उत्तर प्रदेश में ५६% दैनिक मज़दूरों को ऐसी सुविधा दी जाती है। एकत्रित आंकड़ों का अध्ययन अभी हो रहा है। तब तक (और वैसे भी) अन्य गुणागत उपाय करने चाहिए। ऐसे उपाय किए भी जा रहे हैं, यथा पिछड़े और परिगणित जाति वालों के विकास की योजनाएं, सामूहिक योजनाएं, भू-विहीन मज़दूरों को जिस घर में वे रहते हैं उसका अधिकार देना, भूदान यज्ञ, सहकारी खेती के आधार पर भू-विहीन मज़दूरों को खेत देना आदि [१०]।

खेती के मजदूरों की रूपरेखा

हमें प्रारम्भ में ही यह समझना चाहिए कि फार्म या खेत पर किए गए काम के लिए आवश्यक मेहनत और कुशलता खेती तथा खेत की बनावट के अनुसार बदलती रहती है। हल चलाने से भी अधिक कठिन काम है फसल काटना तथा दुबला (Dubla) प्रणाली से सिंचाई करना। धान के पौधे को रोपने से भी मुश्किल है जूट के रेशे निकालना। पाट को सड़ाना तथा रेशे को

---

९ हमारे देश में अब अतिरिक्त संख्या लगभग १३० लाख होगी।

१० पंचवर्षीय योजना आयोग ने भी इन उपायों का उल्लेख किया है और अल्पकाल में ऐसे क्षेत्रों में निम्नतम मज़दूरी निश्चित करने की राय दी है जहाँ मज़दूरी बहुत कम है। "भारत में कृषि-मज़दूरी" शीर्षक भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पुस्तक में ऐसे क्षेत्रों का उल्लेख है।

निकालना वहाँ सहज है जहाँ पर खेत में भरे पानी में ही पौधें को डाल दिया जाता है और वहाँ कठिन जहाँ भीगे और भारी पौधे को किसी दूर के तालाब या नदी में ले जाकर सड़ाना है। मिट्टी की बनावट, फसल विशेष तथा मौसम आदि पर ही काम तथा काम की गति निर्भर करती है। इन सबका मजदूरी पर अधिकाधिक प्रभाव पड़ रहा है। भूतकाल में चाहे कोई भी पेशा हो मजदूरी की दर लगभग एक ही थी। अब तो इनके बीच भेद और अन्तर किया जाने लगा है।

कृषि-श्रम की माँग

मज़दूरी में भी यह भेद इसलिए वर्तमान रहता है कि श्रम की माँग में तीव्र उतार-चढ़ाव होता है। विभिन्न फार्मों और खेतों के लिए माँग ठीक उसी दिन नहीं उठती है। मिट्टी की बनावट, फार्म की स्थिति तथा जन, पशु तथा हल आदि साधनों के आधार पर ही मांग का सृजन होता है। फिर भी जब कृषि-श्रम की माँग उठती है तो वह अनिवार्य प्रायः ही होती है।

न्यूनतम मज़दूरी

कुछ समय से कृषि-श्रम, विशेषतः भू-विहीन मजदूरों और एक प्रकार से गुलाम मज़दूरों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है[११]। यह समझ लिया गया है कि "मामला बहुत ही उलझा व पेचीदा तथा समस्या बहुत बड़ी है[१२]। तथा कृषि-श्रम के संबंध में एक प्राथमिक जाँच की आवश्यकता थी[१३]। न्यूनतम मज़दूरी

[११] बिहार और उड़ीसा के कामिया, मद्रास के पन्नियाल, मलाबार के पुल्या, गुजरात के हाली—ये उन खेत के मज़दूर हैं जो ऋण के बदले में (जिसको वे अन्य किसी रास्ते से अदा नहीं कर सकते) अपने और अपने परिवार को काम करने के लिए प्रस्तुत करते हैं। यह ऋण बहुधा शादी के व्यय के लिए लिया जाता है।

[१२] श्रम मंत्री, आदरणीय श्री जगजीवनराम द्वारा प्रकाशित अभिमत (मई १६४६)

[१३] भारत सरकार की ओर से जो खेतिहर मज़दूरी संबंधी पर्यवेक्षण हुआ है उसके आंकड़ों और सूचनाओं का अध्ययन हो रहा है। "भारत में कृषि-मज़दूरी" शीर्षक से जो सूचना प्रकाशित हुई है उसके अनुसार मद्रास,

एक्ट १६४८, में ऐसा विधान था कि एक्ट लागू किए जाने के दो साल बाद वह कृषि-श्रम के संबंध में लागू किया जा सके। परंतु न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की अंतिम तारीख टलती-हो जाती है। उत्तर प्रदेश में अवश्य कुछ जिलों में ५० एकड़ से अधिक जोतों पर काम करने वाले मज़दूरों के लिए निम्नतम मज़दूरी लागू की गई है।

यह सच है कि उ० प्र० में मज़दूरी १½ आना से औसतन ३ आना तक थी तथा अब वह बढ़ गई है। अब वह २ से ४ आना और १ रुपया से १½ रुपया प्रतिदिन तक के बीच है[१४]। कहीं कहीं वह जीवन-यापन के व्यय की वृद्धि के साथ साथ बढ़ी है और कहीं कहीं नहीं भी। परन्तु विशेष बात यह है

मध्यप्रदेश, बिहार, ट्रे-कोचीन, हैदराबाद तथा भोपाल में २५-३०% ग्रामीण खेतिहर मज़दूर हैं; पश्चिमी बंगाल, बंबई, उड़ीसा, मध्यभारत व पेप्सू में केवल १२-१५% तथा उत्तर प्रदेश में ८% खेतिहर मज़दूर हैं। अर्थात् जहाँ जनसंख्या भार अधिक है, अ-कृषि कार्यों का कम विकास है, शहर दूर हैं वहां खेतिहर मज़दूर अधिक हैं। इन खेतिहर मज़दूरों में स्थायी मज़दूरों का प्रतिशत कम (६-२०%) है, यद्यपि 'ख' वर्ग वाले प्रदेशों में अवश्य यह ३०% के लगभग है। तो मुख्य प्रदेशों में स्थायी मज़दूरों का प्रतिशत निम्न प्रकार है :—

	लगभग
पंजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश	२२%
बंबई, मध्यप्रदेश, उड़ीसा,	१४%
मद्रास, आसाम, प० बंगाल	६ ५%

अतः दैनिक कार्य करने वाले खेतिहर मज़दूरों की समस्या अधिक तीव्र है।

[१४] उ० प्र० तथा अन्य प्रदेशों में, मज़दूरी सामाजिक स्थिति और नौकरी की सुरक्षा पर निर्भर है। नौकरी जितनी ही अधिक सुरक्षित होती है उतनी ही कम मज़दूरी होती है। जितना एक दैनिक मज़दूर पाता है उतना फार्म का मज़दूर नहीं पा सकता। तथा ऋण की अदायगी में काम करने वाले मज़दूर को तो और भी कम मिलता है। जिले जिले और क्षेत्र क्षेत्र में मज़दूरी भिन्न होती है। पहाड़ी क्षेत्रों और तराई के क्षेत्रों में बहुधा २ रुपया मजदूरी है।

कि मजदूर देर से काम पर आते हैं, काम धीरे-धीरे करते हैं तथा जल्दी काम बन्द करने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्तिगत अनुभव से तथा अन्य लोगों के उत्तर द्वारा इस प्रवृत्ति का पाया जाना सिद्ध हो चुका है। दुबला-प्रणाली द्वारा सिंचाई की क्षमता घटकर अब लगभग आधी-तिहाई रह गई है। फिर भी क्या यह वांछनीय है कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी जाय? न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण बहुधा नकद रुपए में होता है। इस मजदूरी के निर्धारण प्रणाली में सर्व प्रथम यह मत निहित है कि अनाज के रूप में प्राप्त मजदूरी के स्थान पर नकद मजदूरी का प्रचलन किया जाय। यह वांछनीय नहीं है।[१५] नकद मजदूरी देने का परिणाम यह होगा कि गाँव में पैसों की महिमा बढ़ जायगी। इसलिए एक दूसरे के शोषण के लिए अधिक प्रयत्न किया जाएगा जो ग्रामीण एकता के लिए हानिप्रद होगा। इसके अतिरिक्त नकद-मजदूरी के कारण जीवन-स्तर वस्तुओं के मूल्य पर निर्भर रहेगा तथा मजदूर की वास्तविक (real) आमदनी में अधिक घट-बढ़ होगा। शहरों में इस प्रणाली से उत्पन्न बुरी परिस्थितियों का अनुभव लोगों को हो चुका है तथा बुद्धिमानी इसी में है कि हम गाँवों की वर्तमान अव्यवस्थित आर्थिक-दशा में उस प्रणाली को प्रचलित नहीं होने दें।

विभिन्न रोजगारों के अन्तर्गत मजदूरों के वितरण की क्या स्थिति है? यदि अन्य सब बातें समान रहें, तो किस वर्ग के मालिक अधिक मजदूरी दे सकते हैं? अधिक मजदूरी देने के लिए कितने प्रतिशत मालिकों में क्षमता है? क्या यह आवश्यक है कि मूल्य को स्थायित्व देने का प्रयत्न

---

[१५] उ० प्र० जमींदारी उन्मूलन समिति ने यह कहा था कि न्यूनतम मजदूरी वहीं लागू हो सकती है जहाँ मजदूरी नकद दी जाती है। "हमारा विचार है कि मजदूरी जहाँ भी और जिस किसी भी काम के लिए अनाज के रूप में दी जाती है उसका अंत नहीं होना चाहिए अन्यथा मजदूरी का ढाँचा ऐसे समय पर छिन्न-भिन्न हो जायगा जब कि खाद्यान्न बहुत मँहगा है। मजदूरी के साथ साथ अनाज के रूप में कुछ पेशों में नकद मजदूरी देने की व्यवस्था, भोजन और मजदूरों की अन्य आवश्यकताओं के बीच संतुलन बनाये रखेगी। नकद और अनाज में दी गई मजदूरी के अनुपातिक संबंध निर्णीत करना चाहिए।"

किया जाय जिससे कि अधिकांश मालिक ऊँची मजदूरी दे सकें ? या क्या सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर के अतिरिक्त यह भी ज्ञात करना आवश्यक है कि खेत में (या अन्य कहीं भी) किए गए काम की अवधि के अनुसार खेतिहर मजदूरों के वितरण की क्या स्थिति है तथा अन्य पेशों की स्थिति की तुलना में यह कैसी है ? वे जो साल भर काम करते हैं तथा फिर भी अच्छी मजदूरी नहीं प्राप्त करते, उनको शीघ्र अधिक मजदूरी देनी चाहिए। परन्तु जो वर्ष की थोड़ी अवधि में ही काम करते हैं उनको ऊँची मजदूरी की अपेक्षा अतिरिक्त काम की ही आवश्यकता है।[१६]

मौसम की विशेष परिस्थितियों के कारण कृषि के कुछ काम जल्दी करने पड़ते हैं। इस अवस्था में श्रम की माँग लोचरहित होती है। प्रश्न यह है कि क्या इस परिस्थिति में भी श्रम की पूर्ति अत्यधिक होती है ? या, क्या केवल खेती का काम नहीं होता तब मजदूर बेरोजगार हो जाता है ? यदि अधिक रोजगार वाले मौसम में पूर्ति की स्थिति माँग से बढ़ नहीं जाती है, तब दैनिक मजदूर तथा मौसमी मजदूर के शोषण की कम सम्भावना है। इस स्थिति में कठिन समस्या प्रमुखतया स्थायी मजदूरों की मजदूरी की तथा मौसमी मजदूरों को अन्य समय में काम दिलाने की होगी।

कुछ नवीन तथ्य

भारत सरकार द्वारा की गई कृषि-मजदूर संबंधी खोज (१९४९), जन-गणना (१९५१) तथा उत्तर प्रदेश सरकार के एक पर्यवेक्षण (१९५३) के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि भारत में लगभग प्रति चार किसान पीछे एक कृषि मजदूर है। अतः क्या तीन चौथाई किसान मजदूरों को नौकर नहीं रखते ? ऐसा निष्कर्ष ठीक न होगा, क्योंकि मौसमी मांग के समय बहुत

---

[१६] उ० प्र० जमींदारी उन्मूलन-समिति के एक सदस्य की राय के अनुसार समिति के सामने भू-विहीन खेत के मजदूरों की समस्या गौण बन कर ही आई। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि समिति ने रोजगार के नए साधन प्रस्तुत करने की शीघ्रातिशीघ्र आवश्यकता तथा मजदूरी-नियंत्रण पर जोर दिया है। पंचवर्षीय योजना में भी ऐसा कहा गया है तथा मजदूरों की सहकारी ठेका समितियों को स्थापित करने का सुझाव दिया है।

से किसान कृषि मजदूर बन जाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि जैसा कि उत्तर प्रदेश (१६५३) में पाया गया है, किसान किन्हीं क्षेत्रों में ७८% समय में बेकार रहते हैं और कहीं ५०% समय में।[१७] अधिकतर ये मजदूर स्वामी किसानों (Owner-cultivator) के यहाँ काम करते हैं क्योंकि ब्राह्मण ठाकुर होने के कारण वे हल नहीं पकड़ते। उत्तर प्रदेश में तो लगभग १३% ग्रामीण गृहस्थियां कृषि-श्रमिकों की हैं जिनमें से ७.६% के पास भूमि नहीं थी (१६४६) भू-स्वामियों का प्रतिशत ८'४ था और प्रति भू-स्वामी द्वारा एक मजदूर नौकर रखा जा सकता है। अस्तु

जनगणना आंकड़ों के अनुसार ७६'७% कृषि जीवी (Agriculturists १६५१) किसान हैं और इनमें से केवल १२'३% कृषि-जीवी स्थायी कृषि-अधिकार नहीं रखते हैं। इस दृष्टिकोण से निम्नतम मजदूरी निर्धारण से अधिकांश किसानों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वैसे भी गांव की सामाजिक प्रथाओं तथा मजदूरों की निम्न आर्थिक परिस्थितियों के कारण निम्नतम मजदूरी विधेयक को कार्यान्वित करना कठिन होगा। दरअसल, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, मुख्य समस्या निम्नतम मजदूरी की नहीं वरन् अतिरिक्त काम की है। यदि अन्य आर्थिक आजीविका साधनों का विकास किया जाए तो न केवल कृषि मजदूरों वरन् अकृषि कार्य में पहले से लगे २०% ग्रामीण स्वजीवी (Self-supporting rural people, १६५१) भी अपनी दशा सुधार सकेंगे।

यह ज्ञातव्य है कि प्रति दो किसान-स्वजीवियों पीछे एक अर्ध-स्वजीवी (earning dependent) है, परंतु प्रति तीन स्वजीवी कृषि-श्रमिक पीछे एक अर्ध-स्वजीवी है। इस बात को ध्यान में रख कर यह कहा जा सकता है कि जहाँ प्रति किसान को लगभग दो आश्रितों (Dependents) का

[१७] जनगणना-रिपोर्ट भाग १—अ के अनुसार प्रति स्वजीवी किसान के २'६ आश्रित तथा प्रति स्वजीवी कृषि-मजदूर के २'१ आश्रित हैं। कमाने वाले आश्रितों की कमाई का ध्यान रखकर तथा प्रत्येक कमाने वाले आश्रित की कमाई को स्वजीवी की आधी कमाई के बराबर मान कर यह निष्कर्ष निकलता है।

पोषण करना पड़ता है, कृषि श्रमिक को लगभग पौने आश्रितों का ही पोषण करना पड़ता है।

भारत सरकार की कृषि मजदूरी संबंधी जांच के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि (i) मौसमी कार्य अधिकतर पुरुषों को मिलता है; (ii) दो-तिहाई मामलों में मजदूरी के साथ चबैना या नाश्ता नहीं देते; (iii) ६०% मामलों में नकद मजदूरी दी जाती है। उत्तर प्रदेश में ५६% मामलों में मजदूरी के साथ नाश्ता या दिन का भोजन देने का रिवाज पाया गया था, (iv) पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम मजदूरी मिलती है। तथा (v) अ-भाग वाले प्रदेशों की अपेक्षा ब-वर्गीय प्रदेशों (अर्थात् रियासतों) में मौसमी मजदूरी अधिक है। स-वर्गीय पिछड़े प्रदेशों में मजदूरी कम तथा स-वर्गीय विकास-पथ पर अग्रसर प्रदेशों में मौसमी मजदूरी अधिक है।

ऋण का बंधन

खेत के स्थायी मजदूर को कम मजदूरी क्यों मिलती है ? वे क्यों नहीं अपना काम छोड़ते और क्रान्ति करते हैं ? ऐसा इसीलिए है कि वे अपने मालिकों को वचन दे चुके हैं अथवा इसलिए कि वे मालिकों से ऋण लेते हैं[१८]। यदि ऋण है तो यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि उन लोगों को सहकारी साख-संबंधी सुविधाएँ प्रदान की जाएं तथा पुराने कर्ज को एक सीमा तक समाप्त कर दिया जाय। वैधानिक घोषणा द्वारा खेत के स्थायी मजदूरों को, जिनको कि तब तक काम करना पड़ता हो जब तक कि वे अपने मालिक को ऋण अदा न करें, बिल्कुल ही मुक्त कर दिया जाए यदि उनको ऋण लिए दस वर्ष हो गए हों। जिन लोगों ने ५ वर्ष काम कर लिया है उनके ऋण को घटा कर आधा कर देना चाहिए तथा घटे ऋण का भार या तो सरकार उठा ले या पास की कोई सहकारी समिति। अन्य सभी खेत के मजदूरों द्वारा मालिकों से लिए गए ऋण को भी ऐसे ही स्थानान्तरित कर देना चाहिए। इस तरह

---

१८ भारत सरकार की कृषि-श्रम संबंधी पर्य-वेक्षण (१९४९) के फलस्वरूप स्थायी मजदूरों के उसी मालिक के पास सालों रहने का यही मुख्य कारण है। उत्तर प्रदेश में दो चार सौ रुपए लेकर श्रमिक उन्हें कभी अदा नहीं कर पाता और बंध जाता है।

स्थायी खेत का मजदूर कहीं भी काम करने के लिए स्वतंत्र रहेगा।[१९] यदि ऐसा कर दिया जाए तब अधिक मजदूरी के लिए न्यूनतम मजदूरी की प्रणाली की अपेक्षा अधिक सफलता मिलेगी।[२०]

---

१९ पंचवर्षीय योजना आयोग ने भी यह सुझाव दिया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह वांछनीय नहीं है कि कानून द्वारा महाजनों (ऋण दाता) के यहाँ काम करने से मजदूरों को रोका जाय। परन्तु महाजन को यह स्वीकृति कभी नहीं मिलनी चाहिए कि वह मजदूर को अपने यहाँ काम करने के लिए मजबूर करे तथा मनमानी मजदूरी दे।

२०—सं० रा० अ० में भी जहाँ तक कि कृषि-श्रम का संबंध है यह अनुभव किया जाता है कि (i) मजदूरों के विस्तृत वितरण-क्षेत्र, (ii) अनाज के रूप में मजदूरी देने की प्रणाली, (iii) इस डर से कि छोटे जोत वालों को असुविधा होगी तथा (iv) प्रबंधात्मक वैधानिक कठिनाई के कारण कानून और नियमन से बहुत लाभ नहीं होगा। यह अब तक संदेहास्पद है कि सं० रा० अ० में समस्या का हल सरकार, कृषि-श्रम की संस्थाओं या सामान्य शिक्षा द्वारा होगा।

इंगलैन्ड में, ब्रिटिश कृषि-मजदूरी बोर्ड (१९२४) प्रत्येक जिले के लिए कृषि-मजदूरी बोर्डों तथा एक केन्द्रीय कृषि-मजदूरी बोर्ड का निर्माण करता है। जिले का बोर्ड विभिन्न आयु के समूहों तथा विभिन्न प्रकार के काम के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करता है। विशेष मौसमों के लिए विशेष मजदूरी निश्चित की जाती है। मजदूरी समय समय पर परिवर्तित होती रहती है। काम के घंटों की संख्या, अवकाश आदि को निश्चित कर दिया जाता है तथा अतिरिक्त काम के घंटों के लिए और विशेष दिनों के लिए भी मजदूरी दी जाती है। अनाज में दी गई मजदूरी रहने और भोजन के समान अच्छी तरह स्पष्ट शब्दों में अंकित की जाती है। अपाहिज मजदूरों को खेत में काम न करने का मुक्ति पत्र मिल जाता है। मजदूरों की संस्थाओं तथा मालिकों द्वारा प्रतिनिधियों का निर्वाचन होता है। सरकार (कृषि-मंत्री), जो कि अन्य प्रतिनिधियों को भी नामजद करती है जब कि उनका निर्वाचन न्यायपूर्ण नहीं होता, दो समदर्शी प्रतिनिधियों की नियुक्ति करती है। संस्थाएँ अपने प्रतिनिधियों

श्रम और रोजगार

भारत और विदेश में जहाँ पर कृषि में संलग्न जनसंख्या का प्रतिशत अधिक है, कृषि के क्षेत्र में वेतन और मजदूरी पाने वाले व्यक्तियों का प्रतिशत कम है।[२१] दूसरे शब्दों में, कृषि-प्रधान देशों में, कृषि के काम बहुधा सामान्यतः मालिकों और असामियों द्वारा किए जाते हैं। यह स्वाभाविक है कि जो देश औद्योगिक क्षेत्र में आगे बढ़े हैं और इसलिए जहाँ पर अर्थ-व्यवस्था वर्तमान है

को किसी भी समय वापस बुला सकती हैं। तथा यदि वे अयोग्य पाए जायँ तब उनको हटा कर दूसरों को नामजद कर सकती हैं।

यदि न्यूनतम मजदूरी को भारत में लागू किया जाय तो ऊपर की प्रणाली के आधार पर गांव, जिलों तथा प्रदेशों में बोर्डों का संस्थापन होना चाहिए। गाँवों में ये अधिकार गाँव पंचायत या गाँव-समाज (जैसा कि उ० प्र० जमींदारी उन्मूलन तथा भू सुधार एक्ट १९४९ में है) के हाथ में देना चाहिए।

[२१] (१) कृषि में लगी जनसंख्या के और (२) वेतन तथा मजदूरी प्राप्त लोगों के (जो कि सचमुच कृषि में लगे हों) प्रतिशत के अनुसार नीचे २२ देशों के विषय में क्रमांक दिए गए हैं :—

देश	(१)	(२)	देश	(१)	(२)
नेदरलैन्ड	१८	१	आस्ट्रिया	१४	१२
ग्रेट ब्रिटेन	२२	२	सा० रा० अ०	२०	१३
हंगरी	६	३	स्वीडेन	८	१४
न्यूजीलैन्ड	१६	४	जर्मनी	१५	१५
जेकोस्लवाकिया	६	५	स्वीटजरलैन्ड	१७	१६
बेल्जियम	२१	६	लिथुआनिया	२	१७
आस्ट्रेलिया	१९	७	भारत	३	१८
डेन्मार्क	१३	८	आइरिश स्वतंत्र सरकार	७	१९
फिनलैन्ड	४	९	इस्टोनिया	५	२०
फ्रान्स	१०	१०	कनाडा	१२	२१
नार्वे	११	११	बलगेरिया	१	२२

स्पष्ट है कि दोनों का पारस्परिक संबंध विरोधी है, दोनों की बीच में श्रेणी-संबंध-सूचकांक .०५३ है।

वहाँ कृषि कार्य अधिकांशतः कृषि-श्रमिकों की सहायता से ही संचालित होता है। फिर भी अमरीका तथा जर्मनी में कृषि में संलग्न जनता के बीच कृषि-श्रमिकों का प्रतिशत प्रत्याशित सीमा से कम था। इसका मतलब यह है कि वहाँ स्वामियों द्वारा कृषि (Proprietor Farming) अधिक होती है। भारतीय किसान भी इस प्रणाली में आस्था रखता है यद्यपि सामाजिक परिपाटियां क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों को हल छूने से रोकती हैं। भारत में पिछले कुछ दशकों में कृषि-जनता में कृषि-श्रमिकों का प्रतिशत शीघ्रता से बढ़ा है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कृषि में अधिक श्रम का प्रयोग हो रहा है परन्तु अधिक संख्या में व्यक्ति कृषि-श्रमिक के रूप में जीविकोपार्जन करने का प्रयत्न करते हैं। बहुत आदमियों ने अपने प्राचीन और जातिगत पेशों का त्याग कर दिया है तथा कृषि में प्रवेश कर चुके हैं।[२२] ग्रामों में गैर-कृषि-विषयक पेशों को आयोजित कर के तथा उनमें सब प्रवेशाधिकार दे कर (जाति और धर्म का विचार किए बिना) इस प्रगति को पलटा जा सकता है[२३]।

श्रमिक-संस्थाएँ

यह कभी-कभी कहा जाता है कि कृषि-श्रमिकों को अपने संघ[२४]

---

[२२] १९३१ की जनगणना के आधार पर $\frac{1}{3}$ लोगों ने अपने जातीय पेशे को छोड़ कर कृषि में प्रवेश किया है।

[२३] ग्रामों में सामाजिक प्रथाओं और धर्म का अब भी बहुत प्रभाव है यही कारण है कि उत्तर प्रदेश में पीढ़ियों से वही लोग भंगी, दाई, धोबी, चमार आदि का काम करते चले आते हैं। विधान द्वारा अछूत या परिगणित जाति भेद मिटाने में भी व्यवहार में समय लगेगा।

[२४] अगस्त १९४९ में प्राप्त सूचना के आधार पर भारतीय राष्ट्रीय मजदूर संघ काँग्रेस (Indian Natioual Trade Union Congress) ने प्रत्येक प्रदेश में कुछ चुने जिलों में कृषि-श्रमिकों के संघ के निर्माण की योजना बना रही है। यह विचार था कि ये आदर्श यूनियन होंगी जो कि मजदूरों को आजीविका साधन उपलब्ध करेंगी और किसान और मजदूरों के पारस्परिक संबंध को शान्ति पूर्ण बनाने के लिए प्रयत्न करेंगी। ऐसे प्रयत्न प्रयोगात्मक हैं।

बनाना चाहिए, अन्यथा, तितरे-बितरे होने और अनैक्य के कारण वे मजदूरी के निर्धारण और तय करने में शक्तिशाली नहीं रह पायेंगे तथा अच्छी मजदूरी नहीं प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि किसान छोटे जोत वाले हैं, सारे देश में तितरे-बितरे और असंघबद्ध हैं। यदि श्रमिक संघबद्ध हो जाते हैं, तो यह आवश्यक हो जायगा कि मालिकों की संस्थाएँ भी निर्मित हों। इन दोनों संस्थाओं के बीच संघर्ष होने के कारण परिस्थिति और भी बिगड़ सकती है। उदाहरणार्थ, हम जानते हैं कि बड़े-बड़े चाय के बागानों में झगड़े वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त संघबद्ध श्रमिक अपनी भलाई तभी भलीभाँति कर सकते हैं जब कि वे अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक हों। इस जाग्रति के अभाव में, नागरिक क्षेत्रों से प्राप्त नेताओं के हाथ में ये संस्थाएँ खिलौना-मात्र रह जायँगी।

श्रम और सामाजिक सेवा-कार्य

शिक्षा के द्वारा कृषि-श्रमिक को जागरूक बनाया जा सकता है। कुछ सीमा तक, सरकार तथा विरोधी दलों के प्रयत्न के कारण भारतीय कृषि-श्रमिक ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। इन प्रयत्नों को बढ़ाना चाहिए। ग्रामीण जनता के अन्तर्गत कृषि-श्रमिक को भी लेते हुए सरकार स्वयम् सामाजिक-सेवा-कार्य प्रारम्भ कर सकती है। परन्तु श्रमिकों के विस्तृत वितरण, अनाज में दी गई मजदूरी-प्रणाली तथा प्रबंधात्मक वैधानिक कठिनाइयों के कारण कोई सामाजिक निश्चयात्मकता तथा बेकारी की बीमा-योजनाएँ संचालित नहीं की जा सकतीं।

काम के घन्टे तथा अवकाश-काल

क्या हम यह दलील पेश कर सकते हैं कि बीमा-योजनाओं, काम के घंटों तथा अवकाश-काल के नियमों के अभाव में शहर निवासी ग्रामीणों का शोषण करते हैं। यह सच है कि देहाती क्षेत्र में पले-पुसे होने पर भी नवयुवक शहरों में आ कर रहना पसन्द करते हैं। इस तरह उनकी उत्पादन-शक्ति और कर देने की क्षमता नागरिक-अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के काम आती है। इस शोषण का अवरोध पूर्णतः नहीं हो सकता है। वर्तमान परिस्थिति में कृषि-श्रमिक के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ और छूट

उपलब्ध नहीं कर सकते। बीमा-योजनाओं के संचालित करने में कठिनाइयाँ होंगी; उन पर पहले ही विचार हो चुका है। यह अवश्य समझना चाहिए कि कृषि में काम के लिए निश्चित घंटे निर्धारित करना उचित नहीं होगा। स्थायी कृषि-श्रमिकों के लिए यथासम्भव अवकाश का विधान होना चाहिए। जहाँ तक काम के घंटों का प्रश्न है मजदूर और मालिक के बीच परिवार-सदृश संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। एक समय था जब कि ऐसी ही स्थिति थी। इसी की आवश्यकता है और इसको विकसित करना चाहिए।

तेरहवाँ परिच्छेद

भूमि-कटान

मिट्टी की सुरक्षा और भू-कटान की समस्या पर अब भारत में विशेष ध्यान दिया जा रहा है। अब हम समझने लगे हैं कि मिट्टी की उर्वरा शक्ति के ह्रास को रोकना चाहिए। यह ह्रास तीन कारणों से होता है :—(i) घुलनशील रसायनिक तत्त्वों का पानी के साथ छन कर भू-तल में चला जाना, (ii) प्रतिवर्ष पौधों की खूराक के रूप में रसायनिक तत्त्वों की क्षति होना, तथा (iii) जल व वायु द्वारा धरातल की मिट्टी का बह या उड़ जाना। मिट्टी की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि भूमि का उत्तम प्रयोग हो; फसलों का उचित ढंग से हेर-फेर हो, तथा मिट्टी को बह जाने और उड़ जाने से रोका जाय। भूमि का सदुपयोग और फसलों का हेर-फेर फसल-योजना से अधिक संबन्धित हैं : मिट्टी की हानि का अध्ययन भू-कटान शीर्षक के अन्तर्गत करते हैं।

भू-कटान एक प्राकृतिक क्रिया है। भूमि समतल नहीं है इसलिए घनघोर वर्षा और तीव्र वेग से प्रवाहित जल के कारण मिट्टी कट कर बह जाती है। सूखे क्षेत्रों में मिट्टी धूलि बनकर उड़ जाती है। इस प्राकृतिक क्रिया के साथ साथ जब भूमि का दुरुपयोग होता है तब मिट्टी की क्षति बहुत बढ़ जाती है। यह सत्य है कि प्राकृतिक क्षति को रोकने का प्रयत्न किया जाय तो अनेकों कल्पनातीत समस्यायें उठ खड़ी होंगी। तथापि, मानव क्रियायों को सुधार कर और कुछ विधियों को अपना कर उस प्राकृति क्रिया की गति को धीमी करने का प्रयत्न किया जा सकता है जिससे कि स्थायी-घर, सुस्थिर-भूमि, स्थायी उर्वरा-शक्ति और बाढ़ तथा तूफान द्वारा कम क्षति रूपी लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

भू-कटान के अवगुण

फसलों की अपेक्षा भू कटान के कारण खेतों की मिट्टी को २० गुना हानि होती है। परन्तु प्रश्न यह है कि इस हानि का उत्पादकता, भूमि, घर और दरिद्रता से कैसा संबंध है ? प्रथम, धरातल के ऊपरी भाग में, (कुछ इंच की गहराई तक) पौष्टिक रसायनिक तत्त्व, वनस्पति के तत्त्व और ह्यूमस (Humus)

वर्तमान रहते हैं तथा इस "अ क्षितिज तल" की क्षति उत्पादन की शक्ति को ५०% से भी अधिक घटा सकती है।[१] द्वितीय, पानी के साथ बहते हुए कीचड़ आदि मिट्टी के स्वाभाविक छिद्रों को बन्द कर देते हैं और फलस्वरूप जल छनकर निम्न तहों में आसानी से पहुँच नहीं पाता है।[२] धरातल के नीचे की भूमि की बनावट भी कुछ समय पश्चात् बदल जाती है। "ब क्षितिज तल" में जो कि "अ क्षितिज तल" के नीचे रहता है इस तरह के सूक्ष्म घने तत्व रहते हैं कि पानी के अधोगामी छनाव की गति को बहुत ही धीमी कर देते हैं। यह प्रभाव और बढ़ जाता है यदि वनस्पति के परिवर्तन से पेड़ों के स्थान पर घास ही रह जाती है क्योंकि घास प्रवाहित-जल के अवरोध के लिए कम क्षमता रखती हैं।[३] खेतिहर क्षेत्रों और चरागाहों में हल के फार तथा पशु के पदचाप के कारण यह निम्नगामी पथ बन्द-सा हो जाता है। इस तरह से मिट्टी की नमी में ही कमी नहीं होती वरन् भूमि के नीचे पानी की पूर्ति भी कम हो जाती है। फल-स्वरूप सोतों और कुओं के जल के तल का स्तर भी नीचा हो जाता है।[४] तृतीय, निरन्तर जल-प्रवाह अपने मार्ग के तल और

---

[१] दो गमलों में सामान्य और भू-कटान क्षेत्र की मिट्टी अलग अलग भर कर गेहूं पैदा किया गया था। दोनों मिट्टियों की किस्म एक ही थी। गेहूं का वजन ११ पौन्ड तथा ४½ पौन्ड निकला।

[२] स्वच्छ जल की तुलना में यदि जल में २ प्रतिशत मैल और तलछट हो तो वह $\frac{१}{१००}$ भाग के बराबर पानी के अधोगामी छनाव को रोक सकता है।

[३] भूमि के जितने ही अधिक पर्त हटाए जाते हैं उतना ही उत्पादन कम होता जाता है। 'ब' क्षितिज तल के पश्चात् 'स' क्षितिज तल में जिसमें कि चट्टानों के टूटने और पारस्परिक संघर्षण के कारण दानेदार कण वर्तमान रहते हैं कोई वनस्पति पनप नहीं सकती।

[४] इस तरह होशियारपुर, जालंधर के दोआब के मैदान (पंजाब) और उ० प्र० के इटावा, आगरा, मथुरा तथा जालौन जिलों में कुओं के पानी का धरातल नीचा हो गया है। मथुरा के क्षेत्रों में पानी की उचित पूर्ति प्राप्ति के लिए ट्यूब कुओं को ३५० फीट तक धँसाना पड़ता है। सन् १८७६ और १९३१ के बीच आगरा, मथुरा और इटावा के जिलों में, क्रमशः २४, ४० तथा ७२%, कुओं की संख्या घट गई।

पाश्वों की भूमि को अपने रेतीले प्रवाह से काट कर बहा ले जाता है। तीव्र प्रवाह के कारण खेती किए गए क्षेत्रों की उपजाऊ भूमि शीघ्र ही कट कर बह जाती है और लगभग पूरा क्षेत्र ही चौपट हो जाता है। खेतिहर भूमि के स्थान पर दरार और गढ़े बन जाते हैं[५]।

चतुर्थ, भू-कटान की वृद्धि के साथ-साथ क्षेत्र विशेष सूखा[६] हो जाता है तथा वायु प्रवाह को रोकने वाले पेड़ और झाड़ियाँ आदि लुप्त हो जाती हैं। फल-स्वरूप क्षेत्र पर धूलि तथा आंधी का अधिक प्रभाव पड़ता है। धूलि व आंधी का प्रभाव, तथा मिट्टी का विनाश क्षेत्र-विशेष को उजाड़ देंगे, जातियों को

---

[५] गतिवेग में दुगना वृद्धि प्रवाह, वहन-शक्ति को ६४ गुना बढ़ाती है तथा भारी कणों को भी धो कर बहा ले जाने की क्षमता बढ़ाती है। मिट्टी की क्षति अधिकतर अल्पकाल में हुई मूसलाधार वृष्टि से होती है। यह क्षति तूफानों से २५ टन प्रति एकड़ तक तथा ११५ टन से (Bombay Dry Farming Research Station, Sholapur) २०० टन तक प्रति वर्ष हो सकती है।

[६] भारत में, पहाड़ियों के निचले हिस्सों में, नदियों के किनारे किनारे, विशेष कर अटोक जिले (पंजाब) और जमुना और चम्बल के किनारे किनारे दरार और गर्त बहुत पाए जाते हैं। भूमि-छिद्र और पाताल तोड़ गर्त, बम्बई से पूना या नासिक रेल-यात्रा की आसाम, बंगाल, हजारा जिले (उ० प्र० सीमा प्रान्त) तथा मद्रास और पंजाब के कुछ हिस्सों में देखे जा सकते हैं। बम्बई के द० जिलों, मद्रास, म० प्र०, छोटा नागपुर (बिहार), देहरादून, सहारनपुर, जालौन, आगरा, इटावा (उ० प्र०) तथा होशियारपुर (पंजाब) में भूकटान द्वारा बहुत से खेत कृषि के योग्य नहीं रहे।

उ० प्र० में भूकटान से ग्रस्त भूमि का क्षेत्रफल लगभग ८० लाख एकड़ है यथा कुल क्षेत्रफल के $\frac{1}{८}$ के बराबर।

[७] उ० प्र० के सूखे जिलों में, दिल्ली-लाहौर सड़क पर दोराला के समीप, कैम्पबेलपुर, हिसार, भावलपुर (पंजाब) के आसपास सिन्ध की घाटी में थाल और बीकानेर में हवादार भू-कटान अधिक नाशक है।

पतनोन्मुख करेंगे तथा किसानों को खानाबदोश बना देंगे।[८] इस खानाबदोशी के जीवन से बचने के लिए अधिकांश जनता अकृषिकर भूमि पर घोर गरीबी में पलती हुई वहीं पड़ी रह सकती है। पांचवा, बढ़ा हुआ पानी बह कर निचले भागों में बाढ़ ला सकता है।[९] बाढ़ के पानी के कारण कई सौ मीलों तक, पानी संचयन के क्षेत्रों में, बाँध और जलाशयों में तथा नदी के तल में, किनारों पार बालू बह कर जमा हो सकती है।[१०] फलस्वरूप, हजारों एकड़ भूमि खेती से निकल जाती है, सिंचाई की साधन-सुविधाएँ कम हो जाती हैं और उन पर खर्च अधिक करना पड़ता है[११] तथा बाढ़ अधिक ज़ोर की

---

[८] उत्तरी पश्चिमी भारत में, खेतिहर भूमि तथा ज़ंगलों (इसलिए बन-उद्योग) को हुई क्षति के कारण आदमी रोजगार की खोज में बहुत दूर-दूर भटकते फिरते हैं तथा बहुधा सेना में भर्त्ती हो जाते हैं।

[९] पहाड़ी क्षेत्रों, बिहार, उ० प्र० तथा पंजाब के भू-कटानों के कारण आसाम और बंगाल में अधिक बाढ़ आती है।

[१०] को या कास, होशियारपुर (पंजाब) के निचले भाग में मौसमी बालू की बाढ़, ने सन् १८५२ में लगभग ७५ वर्ग मील आच्छादित किया था, परन्तु सन् १९३६ में लगभग ७०० वर्ग मील यथा ४'५ लाख एकड़। "उ० प्र० तथा बिहार की करतूतों के कारण" आसाम और बंगाल को अर्थात् नदी के किनारे की कटान और बाढ़ की विपत्तियों को भुगतना पड़ता है। नहरों के तल में बहुत बालू एकत्रित हो जाया करती है तथा पंजाब और उ० प्र० में इससे मुक्त होना आवश्यक है।

[११] शिवालिक के आन्तरिक ढालों पर के बन का विनाश और भूकटान सतलज नहर में मिलने वाली प्रवाहों की गति को कम कर देते हैं तथा 'शीतकाल में जल-पूर्त्ति समस्या को कठिन कर देते हैं। इसी प्रकार उला घाटी (Uhl Valley) के भूकटान से नदी में शीतकालीन जल-की पूर्त्ति कम हो जाती है। और इसलिए जल-विद्युत्त शक्ति के उत्पादन कम होती है जब कि उसकी माँग अधिक रहती है। नहरों के उद्गम केन्द्रों तथा नहरों में एकत्रित बालू को हटाने में काफी व्यय हो जाता है।

आती है[१२]। ऊपर वर्णित सभी अवगुण एक साल में ही नहीं उत्पन्न होते बल्कि कई दशक लग जाते हैं अस्तु भू कटान को "रेंगती मृत्यु" की संज्ञा ठीक ही दी गई है।

भारत में भूमि पर इस मृत्यु का कुप्रभाव पड़ा है। ऐसा अनुमान है कि यदि खेती योग्य भूमि के क्षेत्रफल को ३० करोड़ एकड़ मान लिया जाय और यदि प्रत्येक एकड़ की कीमत १०० रुपया हो, तथा सतह की एक इंच भूमि का मूल्य कुल मूल्य के $\frac{१}{१०}$ के बराबर हो तो भारत में एक इंच सतह की कुल भूमि का मूल्य लगभग ३०० करोड़ रुपया होगा। उसी अनुमान के आधार पर मेरा यह विचार है कि प्रथम स्तर वाली भूमि की क्षति कहीं $\frac{१}{२}$ से १० प्रतिशत के बीच हो सकती है तथा प्रति वर्ष लगभग अनुमानतः ३ करोड़ रुपए की पूँजी की क्षति होती है। यह एक सनातनी (Conservative) अनुमान हो सकता है। फिर भी यह अनुमान तथा कृषकों और सरकार द्वारा इस दिशा में किए गए व्यय इस बात की ओर संकेत करते हैं कि भू-कटान के कारण और उपचार विषयक अनुसंधान किए जायँ। उपविभाजित खेतों की मेड़ों से (जिनकी पर्याप्त आलोचना हो चुकी है), भू-कटान कम होती है तथा पानी का बहाव भी रुक जाता है। बाहर के खेतों पर (विशेषकर जिनपर असामी द्वारा खेती की जाती है) कम ध्यान दिया जाता है। जहाँ पर आड़ी खेती नहीं की जाती है तथा ढालू भूमि को उचित प्रकार से समतल नहीं किया जाता है, वहाँ पर भू-कटान की अधिक संभावना होती है। पहाड़ियों पर यह समस्या अधिक कठिन है, विशेषकर उ० प० सीमांत प्रदेश के गुजारों में और नीलगिरि में, जहाँ पर आलू की खेती होती है तथा पहाड़ी भूमि पर नीचे से ऊपर तक लम्बी-लम्बी पंक्ति-बद्ध जुताई की जाती है। मैदान के गाँवों में,

---

[१२] यह इंगित किया जा सकता है कि पंजाब सिंचाई इन्स्टीस्यूट द्वारा किए गए अध्ययन से राबी नदी (पंजाब) में बाढ़ तथा कटान वाले पहाड़ों पर अधिक वृष्टि के बीच संबंध पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता है। इसी प्रकार से गंगा और कोसी के बाढ़ों का उचित संबंध नेपाल के बनों के कटान से नहीं स्थापित किया गया है।

सम्पूर्ण गाँव के लिए या समीपवर्ती कुछ गाँवों के लिए एक संबद्ध पूर्वप्रयत्न का अभाव भू-कटान में सहायक है।

भू-कटान के कारण

उपजाऊ मैदानों की उर्वराशक्ति हेतु आवश्यक तत्त्व प्रस्तुत करने के लिए भू-कटान आवश्यक है। प्रकृति पेड़ों, पौधों, झाड़ियों और घास के होते हुए भी सुविधा प्रदान करती है। मिट्टी की सुरक्षा तथा पानी की पूर्त्ति के लिए जंगल एक उत्तम साधन है। जंगल के वृक्ष बरसात के दिनों में वर्षा के प्रहार को सह लेते हैं। जड़ों और घास से जल-प्रवाह में रुकावट पड़ती है। इसलिए जल को भूमि अधिक सोख सकती है। जड़ें और घास मिट्टी के तत्त्वों को सम्गुम्फित कर जकड़े रहती हैं। इस तरह जल की गति में रुकावट के कारण भू-कटान पर कड़ा प्राकृतिक नियंत्रण रहता है। (i) जमीन के ढाल (ii) वर्षा (iii) मिट्टी की बनावट तथा (iv) वनस्पति-आच्छादन पर भू-कटान निर्भर है। दूसरा और तीसरा कारण और भी खोलकर समझाया जा सकता है। वर्षा जितनी ही अधिक तथा केन्द्रीभूत होगी वह उतनी ही अधिक धरातल पर प्रहार करेगी और फलस्वरूप मिट्टी अधिक बह जायगी तथा भू-कटान भी अधिक होगा। जितनी ही जो मिट्टी आसानी से कटकर बह सकती है [१३] तथा जितनी ही अधिक देर जल में टंगी रह सकती है, उस मिट्टी में उतना ही अधिक भू-कटान होगा। इस प्रकार, गोबर आदि से मिश्रित भारी मिट्टी की अपेक्षा काली मिट्टी [१४] अधिक शीघ्रता से बह जाती है।

मनुष्य वनस्पति-आच्छादन में, जमीन के ढाल तथा मिट्टी की बनावट और सम्गुम्फन में परिवर्तन करने से ही भू-कटान में सहायक होता है। लकड़ी और ईंधन की पूर्त्ति के लिए वनों का विनाश होता रहा। इससे भी अधिक विनाश नहरों और रेल मार्गों के निर्माण से हुआ—जैसा कि हिमालय के क्षेत्रों

---

[१३] चट्टानों की कटान उनकी बनावट पर निर्भर करती है। इस तरह नरम जाति की चट्टानें चूने के पत्थर और ग्रेनाइट की अपेक्षा जल्दी कटान की शिकार हो जाती हैं। गुरगाँव की पहाड़ियों की अपेक्षा शिवालिक में कटान अधिक है।

[१४] यही कारण है कि चम्बल नदी के पार्श्वों में अधिक खड्ड हैं।

शिवालिक (पंजाब) तथा देहरादून और सहारनपुर के पर्वतीय अंचलों (उ० प्र०) में। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा बनाए गए जमींदारों ने भूमि को लगान पर उठाया। (ग्रामीण जंगल को भी ठेकेदारों तथा किसानों के बीच बिना भेद किए) मुख्यतः अन्नड़, म० प्र०, बंगाल तथा आसाम [१५] की पहाड़ी जातियाँ एक स्थान पर खेती करती हैं और फिर उसके उजड़ जाने पर दूसरे स्थान पर खेती करने लगती हैं। जमींदारों की लापरवाही और पहाड़ी जातियों की उक्त विनाशक कृषि के कारण भी भू-काटान होता है।

ग्रामीण सम्प्रदायों के छिन्न भिन्न होने तथा लगान वसूल करने वाले जमींदारों द्वारा अनियंत्रित चराई का एकाधिकार देने के कारण गांव में जंगलों की क्षति हुई तथा चरागाहों की भी कमी हुई है। जंगलों में बनस्पति का अभाव भी कुछ कम नहीं हुआ है। सचमुच ही सरकार की खुली-चराई की नीति के कारण सभी जंगलों को क्षति पहुँची है। जहाँ पर पेड़ों की कटाई नियंत्रित करने के नियम बने हैं, उनको कड़ाई से लागू नहीं किया जाता है। ईंधन तथा चारे की कमी को पेड़ की शाखाओं और पत्तियों तथा अधिक चराई द्वारा पूरी करनी पड़ती है इसका परिणाम यह हुआ कि तथाकथित चरागाह, जंगल और पहाड़ियाँ साफ हो गईं। [१७] भारतीय किसान ईंधन और चारे की समस्या को हल करने का अवश्य प्रयत्न करता है। फिर भी पशुओं द्वारा

---

[१५] आसाम में जंगल का एक भाग चुन लिया जाता है तथा इसको जलाकर खेती के लिए साफ कर लिया जाता है। इस क्रिया को झुमिन्ग (Jhuming) कहते हैं।

[१६] भारत के पाँच प्रदेशों में यथा, म० प्र०, मद्रास, बम्बई, उ० प्र० और पंजाब, जिनमें बृटिश भारत के जंगलों का ⅔ भाग वर्तमान है; लगभग ८७·६% ८७·५%; ८८·२%; ६२·६%; तथा १०·४% जंगलों को साफ किया गया और खेती प्रारम्भ की गई।

[१७] भू-कटान के शिकार पहाड़ियों पर प्राकृतिक वनस्पति उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा भेड़ों, बकरियों तथा भैंस के चलने से विशेष कर मद्रास प्रदेश और उ० प्र० के इटावा ऐसे जिलों में; ढाल कट कर चौपट हो जाते हैं।

बेहद चराई तथा चरी हुई खुली भूमि पर पशुओं के चलने से मिट्टी ढीली हो जाती है और भू-कटान सरलता से प्रारम्भ हो जाता है। इसका अवरोध अवश्य होना चाहिए।

भू-कटान के अवरोधक

भू-कटान के अवरोध तथा उर्वराशक्ति की पुनर्प्राप्ति के लिए प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध तथा मानवीय कार्यों के विरुद्ध एक युद्ध अवश्य प्रारम्भ करना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप से इसके लिए चार उपाय हैं : सुरक्षित धरातल का निर्माण, प्रवाहित जल की गति को रोकना, जल की मात्रा और विस्तार को कम करना, तथा बहती हुई मिट्टी को बाँधकर रखना। ये उपाय एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं क्योंकि किसी एक उपाय को करने से दूसरे को भी लाभ पहुँचेगा। फिर भी वन-निर्माण तथा चराई पर नियंत्रण लागू करने से एक सुरक्षित धरातल का निर्माण किया जा सकता है।[१८] जहाँ तक वनों में चराई का संबंध है यह देखा जा सकता है कि पाँच प्रदेशों, म० प्र०, मद्रास, बम्बई, उ०प्र० तथा पूर्वी पंजाब में जिनमें कुल पशुधन का ½ भाग वर्तमान है पशुओं को जंगलों में चरने के लिए पूरी स्वतंत्रता रहती है। फिर भी इन प्रदेशों के पशुधन का केवल १०% ही जंगलों की चराई पर निर्भर है।

फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि यदि वनों को चराई को पूर्णतया बन्द कर दिया जाय तो कोई विशेष क्षति नहीं होगी। चारे की समस्या को दृष्टि में रखकर, जो कि इस प्रकार के कार्य किए जाने पर अवश्य उठेगी, यह वांछनीय होगा कि घास की कटाई तथा बरसात के दिनों में पशुओं को बाँध कर खिलाने की प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाय। ऐसा करने से अनुमान लगाया जाता है कि घास का उत्पादन दुगुना हो जायगा। यदि बड़े गर्तों, दरारों और खाइयों को बन्द कर दिया जाय (Plugged) तो अपने आप ही कुछ वर्षों में जंगली घास और झाड़ियों द्वारा भूमि-आच्छादन हो जायगा।

---

१८ चारे की कमी तथा अधिक बेकार पशुधन ही उ० प्र० की गहरी घाटियों में चराई के लिए उत्तरदायी हैं। इसके कारण केवल यही नहीं होता कि प्रकृति वनस्पति नहीं उत्पन्न कर पाती बल्कि भू-कटान और भू-बहाव भी बढ़ जाता है।

साथ ही साथ तथा ऊसर बंजर भूमि को अधिकृत कर के चारा-प्राप्ति के अन्य उपायों यथा, टॉन्ग्या प्रणाली (Taungya) जिसका सफल प्रयोग उ० प्र० के सहारनपुर जिले में हो चुका है तथा मिश्रित कृषि के द्वारा चारे की समस्या को हल किया जाना चाहिए।

फसल-प्रणाली ही यह निर्धारित करती है कि खेती की मिट्टी की सुरक्षा किस सीमा तक हो रही है। महत्ता के दृष्टिकोण से हम हेर-फेर फसल-प्रणाली, क्रमिक फसल-प्रणाली तथा परती छोड़ने की प्रणाली का नाम ले सकते हैं। खड़ी फसल मिट्टी की सुरक्षा करती है। जमीन पर पसरने वाली फसल, (यथा, मटर, मूँगफली) खाद्यान्न-फसलों की अपेक्षा भूमि को अधिक सुरक्षा प्रदान करती है। फसल-प्रणाली में परिवर्त्तन करने के लिए उसके पूर्व सावधानी से खोज करनी चाहिए।

प्रवाहित जल को रोकने के लिए पहाड़ी भूमि पर समानान्तर खेती (Strip Cultivation) होनी चाहिए तथा मैदानों में आड़ी जुताई होनी चाहिए। खेत को सीढ़ीनुमा बनाने तथा आड़ी मेड़ बाँधने की आवश्यकता पर भी ध्यान दिया जा सकता है।

पानी का विस्तार और मात्रा घटाने के लिए दो उपायों पर विशेष ध्यान देना चाहिए : ढालू स्थानों पर पानी जमा करने के लिए छोटे छोटे तालाबों का निर्माण तथा नदी की बाढ़ का पानी संचित करने के लिए जलाशयों का निर्माण। मैदानों में मेड़-निर्माण कार्य को संचालित किया जा सकता है। ढलुवे खेतों में थोड़े-थोड़े फासले पर मेड़ों का निर्माण हो सकता है जिससे कि अंतिम तल वाली मेड़ पर अधिक प्रवाह का धक्का न लग सके। पहले वाली मेड़ें जल-प्रवाह की गति को धीमी कर देंगी तथा मिट्टी को छोटे छोटे भागों में बाँट देंगी।

इस प्रणाली का कुछ हद तक बम्बई प्रदेश में सफल प्रयोग हो चुका है। इस सम्बन्ध में उन मेड़ों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है बहुधा जिनका प्रयोग भारतीय किसान द्वारा खेतों के पारस्परिक विभाजन के लिए किया जाता है। कहा जाता है कि इस प्रणाली में किसान घोर मुकदमे-बाजी के शिकार हो जाते हैं, तथा इसके साथ ही साथ खेतिहर जमीन का २%

भाग व्यर्थ जाता है। फिर भी इस अर्थ में वे देश के लिए कल्याणकारी हैं कि उनसे भू-कटान एक हद तक रुक जाती है। उ० प्र० के पश्चिमी जिलों में पड़ोसी किसानों की यह प्रवृत्ति रही है कि प्रायः वे सीमागत मेंड़ों को अपने खेत का क्षेत्रफल बढ़ाने के लिए काटते रहे हैं। फलस्वरूप, खेतों के मोड़ पर मेंड़ें बहुत ही पतली रह जाती हैं। दूसरे शब्दों में, खेतों की मेंड़ लुप्तप्राय हो गई हैं। इसलिए भू-कटान बढ़ गई है।

धुलकर बहती हुई मिट्टी को रोकने के लिए ढाल के आरपार आड़ी खाइयों के निर्माण की (जैसा कि जमैका में किया जाता है) प्रणाली का अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु भारत में यह समस्या कठिन रूप में नहीं उठी है। गर्त्तों और दरारों के लिए सीमाएँ बनाई जा सकती हैं तथा पौधों का उत्पादन प्रारम्भ करना एक अच्छा उपाय होगा।

अवरोधकों को सक्रिय बनाना

इन प्रणालियों को कार्यान्वित करने के लिए (१) उचित अनुसंधान और निरीक्षण, (२) कार्यान्वित करने वाली संस्था, तथा (३) पर्याप्त वित्त, का होना आवश्यक है। निरीक्षण और अनुसंधान के लिए कृषि और वन-विभाग तथा मिट्टी-विशेषज्ञ को मिल-जुल कर कार्य करना चाहिए। पैमाइश के बाद इनके तथा पशु पालन-विशेषज्ञ द्वारा क्षेत्र-विशेष के अनुकूल उपचार निर्णीत किए जाने चाहिए। बस्ती के तथा कृषि-योग्य क्षेत्रों के बाहर भी वन-विभाग द्वारा इन उपचारों का प्रयोग किया जा सकता है। अन्य क्षेत्रों में जन-सम्पर्क रखना अनिवार्य सा है। मितव्ययिता हेतु जनता का यथासम्भव सहयोग प्राप्त किया जाय तथा कुछ वर्तमान उपाचारों को प्रयोग में परिवर्तन करने की भी अवश्यकता पड़ सकती है। जहाँ पर ग्रामीणों को क्षति हो रही है तथा कुछ विशेष उपायों से उन्हें शीघ्र और सीधे लाभ हो सकता है वहाँ प्रचार मात्र से ही बाधाओं को दूर किया जा सकता है। जिला-विकास तथा प्रसार-सेवा विभाग ग्रामीणों को शैक्षणिक सुविधाएँ प्रदान करें। जहाँ पर लाभ कुछ समय पश्चात् होता है, ग्रामीण (या कृषक) बिना प्रयोगात्मक प्रदर्शनी [१९] के सहयोग नहीं दे सकता है। परन्तु जहाँ पर इन

---

[१९] बैदायूँ और मुरादाबाद (उ० प्र०) में, पशुओं के निरीक्षण के

उपायों से अन्य क्षेत्रों को लाभ होगा तथा ग्रामीणों-को-प्राप्त सुविधा में कमी होगी वहाँ बहुत ही कम सहयोग प्राप्त होगा। अंतिम दो परिस्थितियों में, तथा निश्चित रूप से अंतिम में, कानूनी नियंत्रण तथा अनिवार्य कार्य वांछनीय होंगे।[२०]

जहाँ तक वित्त का संबंध है, व्यय-भार-वहन सरकार द्वारा ही होना चाहिए। सरकार किसानों को सहायता प्रदान करने के लिए समझा-बुझा सकती है। पंजाब की तरह, सहकारी विभागों द्वारा भू-कटान रोकने के लिए सहकारी समितियों का निर्माण हो सकता है। बम्बई के अर्थ विभाग के समान ही सरकार द्वारा कम ब्याज की दर पर आर्थिक सहायता प्रदान की जा सकती है। सामान्य बजट से आवश्यक व्यय प्राप्त करने के अतिरिक्त सरकार भूमि-सुरक्षा के लिए क्षेत्रीय आधार पर भूमि-कर लगा सकती है।

पंचवर्षीय योजना आयोग की राय मान कर भारत सरकार ने भू-संरक्षण बोर्ड स्थापित किया है। योजना आयोग ने दक्षिणी पठार, चंबल के खार, राजस्थान के रेगिस्तान, शिवालिक पर्वतीय क्षेत्र तथा विभिन्न नदी घाटियों के पार्श्व-भूमि में भू-कटान अधिक चिंताजनक समझी थी। उस बात को ध्यान में रख कर ही बंबई, बिहार, मध्यभारत, राजस्थान, हैदराबाद, पंजाब और उत्तर

लिए नियुक्त चौकीदार का वेतन देने तथा उसी उद्देश्य से चतुर्दिक सीमा बनाने के व्यय को देने के लिए ग्रामीण तैयार नहीं होते थे। इसलिए सरकारी-व्यय पर ही प्रयोग हुए तथा परिणामस्वरूप लाभों को देखने के पश्चात् ही ग्रामीणों ने सहयोग दिया।

२० पंजाब के चो- (Chos) क्षेत्रों में चो-एक्ट (Chos Act) १९०२ के अनुसार चहरदीवारी का निर्माण करना अनिवार्य कर दिया गया। अब नीति यह है कि जहाँ कहीं से भी जमीदारों के $\frac{2}{3}$ भाग द्वारा प्रार्थना पत्र प्राप्त हो भूमि को इन चौहद्दियों के अन्तर्गत लाया जाय। ऐसा करना भी सरल नहीं है तथा सुस्त जनता को प्रोत्साहन देने के लिए किसी न किसी प्रकार का पुरस्कार निश्चित होना चाहिए।

दीर्घकालीन उपचार के दृष्टिकोण से, मिट्टी-सुरक्षा के उपायों के आधार-भूत सिद्धांतों की शिक्षा स्कूलों के लिए अनिवार्य की जानी चाहिए।

प्रदेश (कल्सी) में अनुसंधान तथा प्रशिक्षण केन्द्र खोलने का विचार है। प्रारंभ में संबंधित गजेटेड अफसर सहयोग, और ग्राम-प्रदर्शन कर्ता को प्रशिक्षित किया जाएगा।

प्रदेशों में (i) बेकार भूमि पर पेड़ या घास लगाने, (ii) भू कटान अवरोधक फसलों की खेती तथा (iii) भू-कटान अवरोधक बांध बनाने वाली योजनाओं को केन्द्रीय वित्त-सहायता दी जाएगी। दामोदर घाटी में भू कटान अवरोधक कार्य संबंधी योजना स्वीकार की गई है।

जल और वायु द्वारा होने वाले भू-कटान का प्रदर्शन करने, राजस्थान के रेगिस्तानी छोर का पर्यवेक्षण करने तथा अजमेर-मेड़वाड़ में रक्षा-पंक्तियां और वायु-अवरोधक पेड़ लगाने की योजनाओं पर भी विचार किया जा रहा है।

इतना कार्य पर्याप्त नहीं है। यह तो अल्पकालीन है। यथार्थतः, प्रत्येक प्रदेश में भू सदुपयोग विभाग (Land-utilisation Department) खुलना चाहिए। भूमि पर्यवेक्षण, भू-प्रयोग योजना, भू-कटान अवरोधक आदि संबंधी कार्य इस विभाग को सौंपे जा सकते हैं

चौदहवाँ अध्याय

यांत्रिक कृषि

यांत्रिक कृषि का अर्थ केवल यह नहीं है कि ट्रैक्टर तथा अन्य शक्ति-संचालित यंत्रों द्वारा ही कृषि की जाय। इसका अर्थ यह है कि यंत्रों का प्रयोग, जो कि शक्ति से संचालित हो सकें, कृषि के विभिन्न कार्य-व्यापारों में हो। ये कार्य-फसल से दाना निकालने, गन्ना पेरने, भूसा काटने तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य खेत में ही किए जायेंगे जहाँ जल की सुविधा समीप हो। समय और श्रम के बचाव के लिए यांत्रिक कृषि को स्वीकृत दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, लागत के घटने के लिये तथा फलस्वरूप बचत का प्रयोग अतिरिक्त उत्पादन करने के लिए।

यांत्रिक कृषि,[1] जिसमें सचमुच अधिक मूल्य वाली शक्ति-संचालित-मशीनों का प्रयोग होता है अपने साथ बहुत सी कठिनाइयाँ लाती हैं। जहाँ तक ट्रैक्टरों का संबंध है यह समझ लेना चाहिए कि प्रयोग किये गये यंत्रों के बीच कोई वास्तविक भेद नहीं जान पड़ता है। बहुधा, एक ही जाति के वे विभिन्न रूप हैं जिनका प्रयोग बैलों की शक्ति द्वारा किया जाता है और

---

[1] कुछ लोग यांत्रिक कृषि का अर्थ उस कृषि से लगाते हैं जो कि मनुष्य तथा पशु की सहायता से न हो कर सामान्यतः ट्रैक्टरों से की जाती हो। दूसरे लोग इसका अर्थ फार्म के यंत्रीकरण से लेते हैं जिसमें मशीन का प्रयोग जुताई, फसल कटाई तथा मड़ाई के लिए ही न हो कर निम्नांकित रूप में भी होता है :—सिंचाई के लिए शक्ति-संचालित-साधन, माल ले जाने के लिए ट्रक, अन्न-परिवर्तन की मशीन, मक्खन को अलग करने आदि डेरी के यंत्र, मक्खन बनाना, तेल पेरना, रुई धुनना, धान कूटना तथा परिवार में विद्युत-शक्ति का विभिन्न प्रयोग, यथा, रेडियो, इस्त्री, कपड़ा धोने की मशीन, साफ करने वाले वेकुएम यंत्र, तथा विद्युत-अंगीठी। पहली विचार-धारा के अन्तर्गत एक तेल-चालित इंजन तथा ट्रैक्टर का होना आवश्यक है। इस तरह 'यांत्रिक-कृषि' पद का अर्थ बहुत ही सीमित हो जाता है। परंतु दूसरी परिभाषा इतनी विस्तृत है कि उसमें अकृषि कार्य भी आसानी से गिने जा सकते हैं।

इसलिए किसी विशेष भूमि-खंड पर कार्य्य करने से उत्पादन में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु यदि ट्रैक्टरों द्वारा गहरी जुताई को भी शामिल करें तब यह बात विवादग्रस्त है कि इस देश में, विशेष कर ग्रीष्मकालीन कृषि के लिए, गहरी जुताई कल्याण प्रद है या नहीं।[२]

इसके अतिरिक्त, ऐसे देशों के लिए जहाँ पर घनी जन-संख्या हो तथा लोग शाकाहारी हों यंत्रीकरण कहाँ तक वांच्छनीय होगा? यह सच है कि जुताई और फसल-कटाई के साथ कृषि-मजदूर की पूर्त्ति कठिन हो जाती है, फिर भी, यह सत्य है कि भारत में जन-शक्ति अत्यधिक मात्रा में व्यर्थ और अप्रयोगार्ह है। यदि हम सम्पूर्णतः यंत्रीकरण करने लगें तब संक्रांति काल में एक महान सामाजिक उथल-पुथल होगी जिसके कारण लोगों को असह्य कष्ट झेलना पड़ेगा। हम शाकाहारी देश के हैं, तथा बिना पशु से खेती किए कृषि के गौण उत्पादन का प्रयोग हम तब तक नहीं कर सकते जब तक कि हम माँसाहारी न हो जायँ। खाद की समस्या भी बड़ी कठिन हो जायगी यदि खेतों की खाद कम मात्रा में फलस्वरूप मिट्टी में वापस आयेगी।

किसानों में प्रचलित कृषि प्रणाली सिद्धान्त रूप में स्वीकृति प्राप्त कर चुकी है। नीति यह नहीं है कि एक छोटे जोत वाले किसान को अलग हटा दिया जाय। किसानों के स्वामित्व को कायम रखने की प्रणाली को प्रयोग में इसलिए लाया गया है कि साम्यवाद की आफत का सामना उ० प्र०

---

[२] ब्रिटेन और सं० रा० अ० में भी प्रयोग के परिणाम स्वरूप वे गहरी खेती तथा मिट्टी पलटाव के पक्ष में नहीं हैं। सं० रा० अ० में यह अनुभव किया जाता है कि गहरी जुताई से भू-कटान बढ़ जाती है तथा यह बढ़ कर १००० लाख एकड़ भूमि तक पहुँच चुकी है। अब वहाँ इस प्रणाली का प्रचार किया जा रहा है कि खेतों में फ़सल की जड़ें जोत दी जाया करें तथा गोबर और घूरे की खाद दी जाय।

इसमें धरातल के नीचे थोड़ी गहराई तक मिट्टी की जुताई की जाती है जिससे कि फ़सल कटाई के पश्चात् शेष फसल की जड़ भूकटान से धरातल की रक्षा करेगी तथा मिट्टी की पानी एकत्रित रख सकने की क्षमता को बढ़ायेगी।

में किया जाय। यह प्रतिनिधित्व करता है कि अन्य प्रदेशों में भी यही प्रवृत्ति शक्तिशाली होती जा रही है। नीति यह है कि जोत की न्यूनतम सीमा १० एकड़ निर्धारित कर दी जाय तथा अधिकतम सीमा ३० से ५० एकड़ तक। छोटे छोटे फार्म के लिए १ से चार घोड़े की शक्तिवाले ट्रैक्टरों का निर्माण किया जा सकता है परन्तु उत्तम दशा वह होगी जब कि २० से ३० घोड़े की शक्ति वाले ट्रैक्टरों से लगभग ७५ एकड़ भूमि पर कृषि की जाय। लगी पूँजी को कम दर पर प्राप्त करने के लिए अच्छा होगा कि क्षेत्र को बढ़ा कर ७५ एकड़ कर दिया जाय। यदि कृषि में सहकारिता का संचालन न किया जाय तो ट्रैक्टरों का प्रयोग व्यर्थ होगा।[२]

मूल्यवान् यंत्रों के क्रय, प्रयोग आदि में अन्य चार और बाधाएँ हैं :—

१. किसान की अंकिंचनता

२. ग्रामीण क्षेत्र में मरम्मत विषयक कठिनाइयाँ

३. ईंधन-साधन की कमी

४. रैयत का लकीर का फकीर होना

अपनी अंकिंचनता के कारण, भूतकाल में, किसान सस्ते, हल्के और बहु-उद्देशीय यंत्रों को रखने का प्रयास करता रहा है। भविष्य में सरकार को पूँजी-धन प्रदान कर इस प्रकार के पूँजी विषयक असुविधाओं को दूर करना

---

[२] दो अन्य उपचार जोत की चकबन्दी तथा सामूहिक कृषि होंगे। जितना क्षेत्र ट्रैक्टर के प्रयोग के लिए आवश्यक है चकबन्दी द्वारा उतने क्षेत्र की जोतें नहीं प्राप्त हो सकतीं। द्वितीय के संबंध में, (यदि यह वांछनीय भी हो तो) यह विस्मृत नहीं किया जा सकता कि इसके प्रचलन के पहले रूस में निर्दयतापूर्वक भू-स्वामित्व को हड़पा गया, और जमीदारों तथा कुलाकी (Kulaki) समृद्ध किसानों को कुचला गया। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सेरेदनियकी (Seradniaki) तथा बेदनियकी (Bedenaki) किसान जोकि अवशेष कृषक-वर्ग के अन्तर्गत थे सामूहिक कृषि के लिए तैयार नहीं किए जा सकते थे यदि उनके खेतों के आसपास बड़े पैमाने पर प्रयोगात्मक प्रदर्शन न किए गए होते जिससे कि किसान तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् यह निश्चित कर सके कि यांत्रिक कृषि से विशेष लाभ है।

पड़ेगा। इस देश में यांत्रिक-ज्ञान की योग्यता और क्षमता की कमी नहीं है![4] द्वितीय विश्व युद्ध में यह सिद्ध हो चुका है। अब तक यह नीति रही कि यंत्रों की बनावट और प्रयोग सीधा और सरल हो जिससे कि ग्रामीण बढ़ई उनको आसानी से बना और सुधार सके। यदि बनावट सरल न हो तथा यंत्रों के विभिन्न पुर्जों का अभाव हो और यंत्रों की मरम्मत के लिए सुलभ सुविधाओं का अभाव हो तो यह मुश्किल होगा कि नवीन यंत्रों को जन-प्रिय बनाया जा सके। यदि अल्प काल में उनको प्रयोग में लाया भी जा सके तो भी यह समस्या उठ सकती है जैसा कि रूस में हुआई विषयक उठी जिसमें कि ट्रैक्टर तथा अन्य यंत्र सुधार और मरम्मत न हो सकने के कारण बेकार पड़े रहें।

ईंधन-पूर्ति विषयक समस्या तो और भी कठिन है। अल्कहोल का उत्पादन अधिक मात्रा में किया जा रहा है। हम कृत्रिम पेट्रोल (Synthetic petrol) का भी उत्पादन कर सकते हैं। परन्तु हमारे पास अपनी पेट्रोल-पूर्ति के साधन नहीं हैं तथा आयात मँहगा पड़ता है और उसे प्राप्त करने में कठिनाई झेलनी पड़ती है। हो सकता है, जब हम जल-विद्युत-शक्ति का उत्पादन करने लगें, तब हम यंत्रों को खेत और सड़क पर सुविधा पूर्वक संचालित कर सकें। परन्तु इस बीच, ईंधन वाले यंत्रों का प्रयोग हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं

---

[4] बौद्धिक क्षमता का उदाहरण देने के लिए, यह उल्लेखनीय है कि ट्रावनकोर के श्री पुन्नोज पट्टासेरिल ने १०-११ फीट पानी के अन्दर जुताई के लिए एक हल का आविष्कार किया है। यह प्रमाणित हो चुका है कि यह १० घंटे में १०-१५ एकड़ भूमि जोतता है तथा परिणामस्वरूप उत्पादन में ३०-४०% वृद्धि होती है। कोचीन तथा ट्रावनकोर में अरब सागर से भूमि को पुनः अधिकृत कर उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। परन्तु इसके लिए १० घोड़े की शक्ति वाले इंजन, पेट्रोल, लोहा और इस्पात की आवश्यकता है। यदि लोहा तथा इस्पात स्वदेश से प्राप्त भी किए जा सकें, तब भी अल्पकाल में इंजन तथा तेल का आयात कठिन है।

है। इसके अतिरिक्त किसान ट्रैक्टर-चलाने नहीं जानते।[५] हमारे यहाँ तेल-इंजनों, ट्रैक्टरों तथा अन्य कृषि-यंत्रों की कमी भी है। कुछ हजार ही ट्रैक्टर यहाँ हैं तथा यह व्यावहारिक और प्रयोगनीय नहीं जान पड़ता कि हम विदेशों से लगभग ३०० से अधिक ट्रैक्टर प्रति वर्ष प्राप्त कर सकेंगे। एक अमरीकी हल-उत्पादक कम्पनी ने इधर ३ लाख डालर का धन लगाने के लिए योजना बनायी है जिससे कि ट्रैक्टर एकत्रित किए जा सकें तथा पश्चात् उनका उत्पादन भी हो सके और साथ-साथ कृषि यंत्र और अन्य सामानों को भी बनाया जा सके।

इस विषय में पुरातनवादी रैयत का लकीर का फकीर होना भी प्रमुख बाधा है। कुछ तो इस कारण कि जनता अशिक्षित है तथा कुछ इस कारण कि कृषि-विभाग के अफसर अपने व्यवहार में अनुदार हैं। इसलिए रैयत किसी भीविकसित यंत्र के प्रयोग के लिए सहमत नहीं होता। जब तक कि इन दोनों बाधाओं को दूर न किया जायगा रैयत का पुरातनवाद भी नहीं मिट सकता है।

इसलिए, यद्यपि, दीर्घ-कालीन दृष्टिकोण से ट्रैक्टर द्वारा कृषि-प्रणाली वांछनीय नहीं होगी[६] तथा यह अल्प-काल में अक्रियात्मक होगी, फिर भी

---

[५] कृषि के यंत्रों के निर्माण के लिए उ० प्र० ने इज्जतनगर में एक राजकीय केन्द्रीय ट्रैक्टर तथा यंत्र-कारखाना (१९४८) संचालित किया है। लखनऊ कानपुर रोड पर एक उ० प्र० व्यापारिक निगम, फार्म-यंत्र चालक इन्स्टीयूट तथा ट्रैक्टर-ड्राइवर प्रशिक्षण स्कूल हैं, जहां पर ट्रैक्टर-चालन की शिक्षा एक माह में दी जाती है। बंबई में फौज से लौटे बेकार मनुष्यों को ट्रैक्टर- चालन की शिक्षा दी जाती है।

[६] फिर भी सचमुच, भारत के विभिन्न भागों से ट्रैक्टरों की मांग बढ़ती जा रही हैं। बम्बई में सरकार इससे किसानों की भूमि २२ रुपया प्रति एकड़ की दर से जोतती है (जोकि बैलों द्वारा जुताई के व्यय के $\frac{१}{४}$ से भी कम होती है)। इसलिए यांत्रिक कृषि जनप्रिय होती चली जा रही है और इसकी मांग भी बढ़ती जा रही है। बैलों द्वारा कृषि करने की लागत बढ़ने तथा श्रम-विषयक कठिनाइयों के कारण यांत्रिक-कृषि की ओर हमें अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है।

यौंत्रिक-कृषि की आवश्यकता है।[७] ट्रैक्टर, पेट्रोल-इंजन तथा विद्युत्त-शक्ति-चालित मोटर के मिले जुले प्रयोग से निम्नांकित कार्य किए जाए :—

१—नवीन भूमि के साथ-साथ बेकार और ऊसर भूमि को अधिकृत करना।

२—दलदली भूमि को सुखाना और भरना।

३—गहरी जड़ वाली झाड़ियों, को विशेषकर, काँस, हरियाली तथा बैसूरी आदि को निमूल करना।

४—मौसमी श्रम के अभाव के बावजूद भी उचित समय पर कृषि कार्य को पूरा करना।

५—अस्वास्थ्यकर क्षेत्रों में आकर्षक तथा विस्तृत कृषि करना।

एशिया तथा सुदूर पूर्वीय इक्नामिक कमीशन की एक बैठक में बहुत से प्रतिनिधियों ने यह मत प्रकट किया कि शक्ति-संचालित यांत्रिक कृषि के लिए इस क्षेत्र में अधिक संभावना नहीं है। आस्ट्रेलिया चाहता था कि यंत्रीकरण के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन पहले होना चाहिए।

इसी प्रकार, उत्तर प्रदेश के एक वैज्ञानिक अधिवेशन में पढ़े गए एक खोज पूर्ण निबंध में यह कहा गया था कि मुख्यतः दो यंत्रों का प्रचार होना चाहिए :—इस्पात के फाल वाला छोटा हल तथा एक छोटा उचित पुर्जों युक्त "कल्टिवेटर" (Cultivator) (Vide, Allahabad Farmer, Vol. XXIII No. 1, January 1949)

[७] लखनऊ कानपुर रोड पर उ० प्र० व्यावसायिक कारपोरेशन की सहायता से उ० प्र० की सरकार ट्रैक्टरों द्वारा ३०० एकड़ ऊसर भूमि को अधिकृत करने के लिए प्रयोग कर रही है। उ० प्र० में लगभग १०० लाख एकड़ भूमि कृषि के योग्य होते हुए भी बेकार पड़ी है जिसको अधिकृत किया जा सकता है। बहुत दिन तक सरकार इस बात को प्रोत्साहन देती थी कि व्यक्तिगत रूप से जनता द्वारा इन भूमियों को अधिकृत किया जाय। अब इस कार्य के लिए सरकार अपने आप को उत्तरदायी समझने लगी है।

६—आड़ी मेंड़ बाँधना, चौहद्दियाँ, नालियाँ, सिंचाई की नहरों की प्रशाखाओं तथा ग्रामीण सड़कों आदि का निर्माण करना।

७—यांत्रिक सिंचाई करना।

अधिक खाद्यान्न-उत्पादन के आन्दोलन से प्रोत्साहित हो कर केन्द्रीय सरकार ने एक केन्द्रीय-ट्रैक्टर संघटन (१९४७—४८) का निर्माण शीघ्रता से शुरू कर दिया है। यह समिति ट्रैक्टर विषयक कार्य करती है और किराए पर ट्रैक्टर भी प्रदान करती है। उ० प्र०, म० प्र०, मत्स्य संघ, पू० पंजाब तथा बम्बई आदि कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ पर ट्रैक्टरों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाता है। लगभग ६२ लाख एकड़ भूमि को अधिकृत[८] करने के लिए

---

[८] उ० प्र० और म० प्र० में १९४७-४८ के बीच लगभग ४५००० एकड़ भूम अधिकृत की गई। ६२ लाख एकड़ की अधिकृत योजना के अन्तर्गत भूमि का वितरण के लिए सरकार अब अपने निम्नांकित आधार पर है :—

प्रदेश	क्षेत्रफल (लाख एकड़ों में)		प्रदेश
उ० प्र०	१०	१४	मध्य भारत
म० प्र०	६	५	भोपाल
बम्बई	५	५	विन्ध्य प्रदेश
उड़ीसा	५	४	पूर्वी पंजाब
पू० पंजाब	५		

इसके अतिरिक्त बिहार सरकार ने १० लाख एकड़ बेकार भूमि को १० करोड़ रुपया खर्च कर अधिकृत करने के लिए पंचवर्षीय योजना संचालित की है। सन् १९४९ तक २ लाख एकड़ भूमि पर कार्य-प्रारम्भ होने वाला था। प्रत्येक स्थिति में, केन्द्रीय ट्रैक्टर विभाग या तो यांत्रिक कृषि स्वयं करता है या केवल ट्रैक्टरों की पूर्त्ति करती है। यह देखना चाहिए कि भूमि पर उचित ढंग से या आंशिक ढंग से कृषि हो रही है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में यांत्रिक जुताई सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए केन्द्र खोले जायं तो संभवतः वे लोग उनसे विशेष लाभ उठाएँ जिनके पास भूमि तो है पर आवश्यक यंत्र (यथा, बैल, हल आदि) नहीं हैं।

एक सप्तवर्षीय योजना की रूपरेखा तैयार हुई है परन्तु उसकी सफलता ट्रैक्टरों तथा यंत्रों के आयात पर आधारित है। बुलडोजर (Bulldozers), ट्रैक्टर आदि के आयात के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) से १०० करोड़ रुपए का ऋण माँगा गया है क्योंकि इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए हजारों ट्रैक्टरों तथा कृषि-यंत्रों की आश्यकता पड़ेगी।

सेंवार का नाश

प्रयोग से प्रमाणित है कि सेंवार को नियंत्रित और नष्ट करने के लिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि जनवरी तथा मई के महीनों में या मानसून की बरसात शुरू होने से कम से कम एक माह पहले एक फुट गहरी जुताई की जाय। सेंवार की आफत सारे भारत पर आच्छादित है। लाखों एकड़ भूमि काँस से (विशेषकर उत्तर प्रदेश तथा उत्तरी भारत में) तथा दक्षिणी भारत में हरियाली से आच्छादित है। अल्प काल में उनका समूल नाश व्यावहारिक नहीं है जब काँस के बीजों को हवा उड़ाती है तब खड़ी फसल या घास जो कि बहुधा पवन की गति को भंग कर देती है) उन्हें रोक कर शरण देती हैं इस स्थिति को रोकने के लिए अधिक विस्तृत क्षेत्रों को बरसात के दिनों में किसानों द्वारा परती छोड़ना पड़ेगा। उ० प्र० काँस-नाशक समिति का यह विचार है कि प्राकर्षक कृषि के अभाव में ट्रैक्टर द्वारा जुताई के फल स्वरूप काँस-मुक्त क्षेत्र शीघ्र अपनी पहली जंगली स्थितिपर पहुँच जायगा। यह भी पाया गया है, जैसा कि १८६७ में वोयलकार ने इंगित किया था, कि क्रमिक और प्राकर्षक कृषि के द्वारा काँस का नाश किया जा सकता है। मिरजापुर, बिजनौर, झाँसी, बाँदा, हमीरपुर तथा जालौन (उ० प्र०) आदि जिलों के किसानों का यही अनुभव है। यहाँ पर १८६१ और १९४० के बीच काँस आच्छादित भूमि को $\frac{१}{१६}$ तक घटाया जा चुका है। यदि ट्रैक्टर का प्रयोग किया गया होता तो यह अवधि ५० वर्ष से घटकार ५ वर्ष ही होती।

परन्तु हमें केवल ट्रैक्टर के प्रयोग पर ही तर्क वितर्क नहीं करना है। हो, ड्रिल, हैरोवट रीपर, कटर, क्रेसर विनोइंग मशीन तथा पम्प और अन्य बहुत से प्रश्नों पर भी विचार करना है। यदि चावल, और गेहूँ का उत्पादन

यांत्रिक कृषि द्वारा किया जाय तब उनका अक्तूबर की वर्षा से होने वाली क्षति से तथा अप्रैल-मई के तूफानों से होने वाली क्षति से बचने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त, चावल के बाद मटर और चना की दूसरी फसल तथा ग्रीष्म कालीन गेहूँ का उत्पादन हो सकता है।

यांत्रिक साधनों का प्रयोग सस्ता नहीं पड़ सकता है। इस तरह, जहाँ तक बिजली पम्पों का प्रश्न है पंजाब के फार्मों का लेखा जोखा (१६३८-३६) यह प्रदर्शित करता है कि यांत्रिक सिंचाई का व्यय बैल द्वारा खींचे गए फारसी चक्रों (Persian wpeel) से होने वाले व्यय का २११% होता है। १२ मामलों में से ५ मामलों में यह १००% से कम था। यह ज्ञात हुआ है कि आरम्भ में कम लागत के अतिरिक्त, सस्ती विद्युत शक्ति की पूर्ति पर भी पम्पों का प्रसार निर्भर करता है।

खोज और प्रशिक्षण

उन्नत और विकसित प्रकार के हथियार और यंत्रों के आविष्कार के लिए काफी सीमा है। पर इसके पहलेयह भी आवश्यक है कि किसानों के तरीकों, हथियारों और यंत्रों [१], तथा आवश्यकताओं और क्षमताओं का गहरा

---

[१] इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट के श्री मेसन वॉग (Mason Vaugh) द्वारा उ० प्र० के किसानों द्वारा प्रयोगार्ह छोटे यंत्रों का अध्ययन किया गया है। उन्होंने पाया कि निम्नांकित यंत्र प्रयोग में लाए जाते हैं। १४७ फार्म (खेतों) पर उनका अध्ययन आधारित है:—

यंत्र का नाम	प्रयोग	प्रयोग में लाए गए यंत्र की संख्या
१—देशी हल	जोतने के लिए	२११
२—उन्नत हल	जुताई और बोवाई	६१
३—पटेला	भूमि को समतल और ढेला फोड़ने के लिए	१४६
४—खुरपी	घास काटने के लिए	६०१
५—हँसिया	फसल-कटाई	५६३
६—गड़ाँसा	चारा काटने के लिए	३०५

अध्ययन किया जाय। भारत, चीन तथा जापान आदि देशों में प्रयोगाई यंत्रों के नमूनों का संचयन होना चाहिए तथा सम्भावित विकास संबंधी प्रयत्न किया जाना चाहिए। उचित आविष्कारों के लिए पुरस्कार प्रदान किया जाना चाहिए। परन्तु किसी भी महत्त्वपूर्ण हथियार की व्यावहारिक परीक्षा किसान के खेत पर ही होनी चाहिए।

फिर कृषि-इंजीनियर द्वारा हल्के, सस्ते, आसानी से मरम्मत होने वाले तथा जिनका निर्माण आसानी से हो सके इस प्रकार के यंत्रों का आविष्कार

७—फावड़ा	भूमि खुदाई तथा नहरों की नाली बनाने के लिए	२६६
८—कस्सी	गन्ना, उद्यान आदि में कलम करने के लिए	७८
९ कसला	जब कि गन्ना के पौधे अभी अधिक उगे न हों तब कलम करने के लिए	१८०
१०—पाँचा*	भूसा आदि एकत्रित करने के लिए तथा फसल-मड़ाई के समय इधर उधर पलटने के लिए	५४
११—हथिया (डलिया)	पानी उठाने तथा भूसा ओसाने के लिए	६५
१२—चारा काटने की मशीन		१२

*इसका दूसरा नाम आँखें (Auken) ज्ञात होता है। यदि ऐसा हो, तब संख्या बढ़ कर ७६ होगी जो कि अध्ययन के सिलसिले में गोरखपुर में पाई गई।

यह अवश्य उल्लिखित करना चाहिए कि ऊपर के पर्यवेक्षण में, मुरादाबाद इलाहाबाद, प्रतापगढ़ तथा गोरखपुर के जिलों में खेतों का अध्ययन हुआ था। गोरखपुर में विशेषकर उन्हीं खेतों पर अध्ययन हुआ जहाँ पर इसाई उन्नत प्रकार से कृषि करते हैं। इस लिए ऊपर के समंक महत्त्वपूर्ण हैं (Vide Allahabad Farmer, Vol. XXIII No.1. January 1949.

होना चाहिए। इसके साथ-साथ ग्रामीण लुहार और बढ़ई को प्रशिक्षण तथा विकसित यंत्रों के उत्पादन व मरम्मत के लिए औजारों की सुविधा दी जानी चाहिए।

उ० प्र० में कृषि-इंजीनियरिंग

कृषि-इंजीनियरिंग वर्कशाप द्वारा १८३४ में उ० प्र० में कार्य प्रारम्भ किया गया। १८३४ और १८६१ के बीच यंत्रों, विशेषकर हल, के विकास और कुओं की खुदाई विषयक प्रयोगात्मक कार्य हुआ। १८६१-१६१० के बीच व्यावहारिक रूप से यत्रों की विभिन्न रूप-रेखा और नमूनों (जिनका संचयन किया गया और पश्चात् वे नष्ट भी हो गए) के अतिरिक्त कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। अगले चार वर्षों में मेस्टन हल तथा बलदेव बाल्टी का आविष्कार हुआ। चेन-पम्प तथा मिश्री पेंचदार पम्प (Screw) पर भी ध्यान दिया गया। प्रदेशों तया अन्यत्र प्रयोगार्ह हथियारों तथा यंत्रों के एक संग्रहालय का निर्माण के लिए दुबारा प्रयत्न किया गया परन्तु असावधानी और मतभेद के कारण प्रदर्शिनियां, प्रदर्शक अल्मारियों का लोप हो गया। १६२८ तक, जब तक कि फारसी चक्र (Mayadas Waterlift) का आविष्कार नहीं हो सका था तथा विशेषकर १६३३ तक पुनर्व्यवस्था का कोई भी गम्भीर कार्य प्रारम्भ नहीं किया गया। प्रदेशों में प्रयोग किए गए मुख्य यंत्र, यथा, कानपुर कल्टीवेटर, अकोला हो तथा त्रिभुजाकार हेंगा आदि में अभी विकास के लिए सीमा है।[१०] यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो कृषि इंजीनियरिंग का संबंध यंत्रों के उत्पादन और विक्रय, तथा कुछ आंशिक सफलता के साथ खुदाई और ट्यूब कुओं के निर्माण से रहा है। सफलता के लिए यह आवश्यक है कि एक बार पुनः प्रदेशों और समान स्थिति वाले विदेशों में प्रयुक्त विभिन्न कृषि-यंत्रों के डिजाइन तथा नमूनों का

---

[१०] १६४७--४८ के पुनर्निमाण के अनुसार, कृषि इंजीनियरिंग विभाग का विभाजन तीन प्रकार के कामों, यथा (१) सिंचाई जिसका संबंध राजगीरी के कुएं, कुएं खोदने, फारसी चक्र का स्थापन तथा नल-कूपों से है (२) ट्रैक्टर-कृषि तथा काँस-विनाश के लिए, तथा (३) कृषि-यंत्रों के डिजाइन करने और बड़ी मात्रा पर उत्पादन करने के लिए।

संचयन किया जाय तथा उनका अध्ययन सम्भावित विकास के दृष्टिकोण से किया जाय। जनता की स्वतः प्रेरणा से इस दिशा में सहयोग प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि आविष्कारकों को पुरष्कृत किया जाय।

जहाँ तक किसानों के लिए नवीन औजारों और यंत्रों की पूर्ति की समस्या है, जहाँ पर व्यक्तिगत पूँजी नहीं लगायी जा रही है सरकारी विभाग ही उत्पादन-कार्य कर सकता है। सामान्यतः कृषि-विषयक यंत्रों का उत्पादन व्यक्तिगत कम्पनियों के हाथ में छोड़ देना चाहिए। मूल्य को कम करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार कुछ यंत्रों के पेटेन्ट-अधिकार क्रय करले और जन-साधारण को उनका प्रयोग करने की छूट देदे। उत्पादकों को गमनागमन और बाजार विषयक सुविधाएँ प्रदान की जायं, मूल्य पर नियंत्रण किया जाय, तथा स्थानीय कृषकों के खेत पर यंत्रों के प्रयोग का व्यावहारिक प्रदर्शन किया जाय।

पंद्रहवां परिच्छेद

सामुहिक विकास योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार कार्य

क्या हमको अपनी दशा सुधारनी है ? क्या अपने लिए, देश के लिए अथवा दूसरों के लिए हमको अपने आर्थिक कार्य-क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाना है ? क्या हमको अपने सदृश लोगों को भी अपने साथ आर्थिक (या सर्वोन्मुखी) उन्नति पथ पर ले चलना है ? क्या इस कार्य को मैं अकेला सम्पन्न कर सकता हूँ, अथवा क्या दूसरों और सरकार के सहयोग की आवश्यकता है ? इन प्रश्नों के उत्तर में प्रचलित सामुहिक विकास योजनाओं की आवश्यकता और वांछनीयता निहित है ।

यदि हम उन्नति तथा अधिक उत्पादन की आवश्यकता को महसूस करते हैं तो देश की आर्थिक उन्नति सरल है । परंतु कभी कभी ऐसा नहीं होता है । "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन की असफलता ने योजना आयोग को कुछ चुने स्थानों में सामुहिक कार्य-क्रम करने की आवश्यकता महसूस करा दी । "प्वाइंट फोर" (Point Four) तथा फोर्ड फाउन्डेशन की आर्थिक सहायता से लाभ उठा कर सन् १९५२ में ५५ क्षेत्रों में सामुहिक विकास योजनाएँ आरंभ करने का निर्णय किया गया । उपर्युक्त दोनों साधनों से डालर में लगभग ६·५ करोड़ रुपए प्राप्त करके भारत सरकार ने अपनी ओर से भी ३४·४ करोड़ रुपए लगाने का निश्चय किया । इस प्रकार २ अक्टूबर १९५२ को लगभग ४० करोड़ रुपए वाला सामुहिक विकास कार्य आरंभ हुआ ।

इटावा अग्रगामी योजना

सामुहिक विकास योजना की पृष्ठभूमि में इटावा अग्रगामी योजना है । इटावा अग्रगामी योजना का आरंभ अमरीकी इंजीनियर श्री एलबर्ट मेयर और भारत सरकार की उत्सुकता के कारण हुआ था । भारत सरकार के प्रोत्साहन पर उत्तर प्रदेश सरकार ने अपना पैसा खर्च करके श्री मेयर की अध्यक्षता में उनके द्वारा चुने महेवा (इटावा जिला) तथा आस पास के स्थानों में सामुहिक विकास की योजना आरंभ की थी । उक्त योजना पर जितना व्यय हुआ उतना व्यर्थ नहीं हुआ । अग्रगामी योजना के चार सबक उल्लेखनीय हैं :—

(i) किसान द्वारा आवश्यक समझी गई दिशा में सफलता शीघ्र मिलती है।[1]

(ii) विशेषज्ञों की दृष्टि से जिस दिशा में सुधार वांछनीय हैं उनका सफल प्रदर्शन किसान के खेत में किसान के हाथों कराने से आस पास महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा।[2]

(iii) विभागीय और विशेषज्ञ वर्ग द्वारा बताए अनेकों सुधार या तो किसान की सहज बुद्धि और तर्क के आगे नहीं ठहरते या प्रदर्शन करने पर स्थानीय प्रचलन की अपेक्षा कम क्षमतावान सिद्ध होते हैं।[3]

(iv) कर्मचारियों के क्षमतावान तथा लगन वाले होने से उन्नति अवश्य होती है, भले ही वह देर से हो।

देश के विभिन्न भागों के ५५ क्षेत्रों में पहली अक्टूबर, १६५२ को सामुहिक विकास योजनाओं का आरंभ किया गया। प्रत्येक क्षेत्र में २००—३०० गाँव थे। पहली अक्टूबर, १६५३ को राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजना का कार्य आरंभ किया गया। इस प्रकार के कार्य का सुझाव अधिक अन्न उपजाओ खोज समिति ने दिया था। विदेशों में—विशेषतः अमरीका में प्रसार-कार्य द्वारा कृषि की उन्नति में बहुत सहायता मिली है। योजना के अनुसार प्रथम पंच-वर्षीय योजना-काल में ही देश के चतुर्थांश में प्रसार-कार्य होगा। १२०० विकास ब्लाक होंगे। प्रत्येक ब्लाक में १०० गांव होंगे। इनमें से ३०० ब्लाक

---

[1] किसान सिंचाई की सुविधा को अधिक आवश्यक समझते हैं।

[2] कुछ किसानों के खेत में उनके द्वारा ही उत्तम गेहूं और आलू की खेती कराई गई। अन्य सामान्य किसानों की फसल से अधिक फसल होने के कारण गांव में गेहूं और आलू की नई किस्म का प्रचलन हो गया। आलू की खेती का तो क्षेत्र भी दस गुने से अधिक बढ़ गया।

[3] बाजरे की किस्म, जिसको कृषि विभाग के विशेषज्ञ ने अत्युत्तम बतलाया था, प्रदर्शन करने पर स्थानीय बाजरे की किस्म से निम्न सिद्ध हुई। नई किस्म की हंसिया का (विकास हंसिया) जिसमें आरी के समान दांत थे, प्रचलन न हो सका क्योंकि इसके दांते जल्दी जल्दी तेज करना पड़ता है। इसी प्रकार कृत्रिम गर्भ से पैदा ढोरों का प्रचार न हो सका।

में सामुहिक विकास योजनाएं चलाई जाएंगी और शेष ६०० में प्रसार-सेवा योजना। इस प्रकार अनुमानतः ८ करोड़ व्यक्तियों को प्रसार-सेवा से लाभ पहुँचेगा। प्रत्येक ब्लाक का क्षेत्र संगठित होगा और वह यथासंभव एक उप-डिवीजन अफसर (S. D. O.) के अंतर्गत होगा। क्रमशः विभिन्न विकास विभागों के कर्मचारी राष्ट्रीय प्रसार की सेवा विभाग के अंतर्गत आ जाएंगे। यह ध्यान रखा जाएगा कि कार्य की जिम्मेदारी निश्चित की जा सके। आरंभ में केन्द्रीय सरकार ७५% प्रारंम्भिक व्यय तथा ५०% चालू व्यय-भार वहन करेगी। कालांतर भी केन्द्रीय सरकार ५०% चालू व्यय-भार वहन कर लेगी। प्रति पांच वर्ष बाद इस व्यवस्था पर पुनर्विचार किया जाएगा।

राष्ट्रीय प्रसार-सेवा योजना के प्रकाशित समाचारों से यह स्पष्ट है कि (i) ग्राम विकास के लिए एक बहुमुखी राजकीय विभाग का सृजन किया जा रहा है तथा (ii) ग्राम विकास कार्य के व्यय का एक अंश केन्द्रीय सरकार देगी, यद्यपि "कृषि और ग्राम" राज्य-सरकार के कार्य-क्षेत्र में हैं। अनुमानों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि वर्तमान ग्राम विकास-योजनाओं के कारण ही ८५ हजार विभिन्न कुशल टेकनिकल व्यक्तियों को कार्य मिलेगा जिन्हें अधिकांशतः ग्राम में ही रहना होगा। ग्राम के अर्ध-बेकारों को भी काम मिलेगा। ग्रामों में रोजगार पहुँचाने का यह ढग बुरा नहीं है।

ध्येय

सामुहिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार कार्य के चार ध्येय हैं :—(i) ग्रामीण जनता में प्रगतिशील दृष्टिकोण का विकास, (ii) सहयोग-कार्य की आदत (iii) अधिक उत्पादन तथा (iv) अधिक रोजगार। इन ध्येयों की प्राप्ति के लिए कार्य की प्रगति में सामुहिक विकास योजना-कार्य के दोष और कठिनाइयाँ रोड़ा बनकर अड़ी हैं।

दोष और कठिनाइयाँ

प्रथम, कुछ योजना क्षेत्रों में सोचा जाता है कि किसान कृषि की उचित प्रणाली से अनभिज्ञ है। द्वितीय, कृषि-विभाग द्वारा किए गए कार्यों को भुला दिया जाता है, भले ही वे कार्य कैसे भी हों। तृतीय, उपयुक्त कार्यकर्त्ता और नेतृत्व की कमी महसूस होती है। चतुर्थ, जहां कार्यकर्त्ता उपयुक्त हैं वहां

कानूनी पाबंदियां, अर्थाभाव तथा आए दिन आगन्तुकों के दौरे के कारण काम नहीं हो पाता । पंचम, अर्थाभाव अभी तो नहीं परंतु दीर्घकालीन प्रगति में बाधक सिद्ध हो सकता है। विकास योजना काल समाप्त होने पर राजकीय अर्थ-सहायता बंद हो जाएगी। यदि तब तक ग्रामीण-कर द्वारा पर्याप्त धन उगाहने का प्रबंध न हुआ तो भावी प्रगति अवरुद्ध हो जाने का डर रहेगा। षष्ठम्, प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामीणों को अपने उत्पादित पदार्थों के उपयुक्त मूल्य मिलें।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण शक्तियों के अतिरिक्त विकास-योजना की प्रगति को धीमी करने वाली शक्तियां ये हो सकती हैं : (i) योजना क्षेत्र का बड़ा होना, (ii) जमींदारी-उन्मूलन, भूमि-सुधार आदि (iii) ग्राम में सामाजिक, व आर्थिक विषमता और विवाद, (iv) पर्याप्त शिक्षा तथा सफाई की कमी और वृद्धों की तकलीफों की ओर कम ध्यान देना। (v) सिंचाई सुविधा की कमी, (vi) यातायात की कठिनाई तथा (vii) किसानों द्वारा वस्तु की आवश्यकता महसूस हो जाने पर भी उसकी पूर्ति का पर्याप्त और सुलभ न होना, यथा, उत्तम बीज, सीमेन्ट, या खाद का समय पर पर्याप्त मात्रा में न मिलना।

सफलता-आंकन समिति

सफलता-आंकन-समिति की रिपोर्ट (१९५४) के अनुसार ग्रामीणों ने समय के साथचलने की इच्छा और तत्परता दिखाई है। कृषि के नए ढंग, कृत्रिम-जनन और बाल-शिक्षा का प्रचार कहीं कहीं इतनी तेजी से हुआ है कि यह डर है कि कहीं क्षेत्रीय विकास संगठन के साधन अपर्याप्त न सिद्ध हों। यों तो सामुहिक योजना सामुहिक कार्य पर आधारित है परंतु योजना के मुख्य अंगों की व्यवस्था ऐसी है कि जनता के सहयोग के बिना भी योजना-कार्य चलता रहता है। अतः यह पता नहीं चलता कि जन-सहयोग कहां तक प्राप्त है। कहीं कहीं शीघ्र सफलता प्राप्ति के लिए जन-सहयोग-कार्य को गौण स्थान दिया गया है। समिति की राय में यह अवांछनीय प्रगति है क्योंकि इससे यह आशंका है कि "प्रगति की उत्कंठा" जनता पर निर्भर न होकर किसी व्यक्ति या पदाधिकारी पर निर्भर हो जायगी। समय रहते इस अवांछनीय प्रगति को लोकतंत्र की ओर मोड़ देना चाहिए। इसलिए समिति ने जल्दी न करने की राय दी है। उनके

अनुसार तीन वर्ष में विकास कार्यक्रम पूरा नहीं हो सकता और सामान्यतः पाच छः वर्ष का समय आवश्यक है।

आंकड़े तो उपलब्ध नहीं हैं फिर भी समिति की राय में नए कृषि ढंगों का पूर्ण प्रभाव इतना पर्याप्त है कि यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि उत्पादन-वृद्धि-कार्य निरंतर बढ़ रहा है। उत्तम बीज, खाद, औजार, यंत्र; तथा सिंचाई की बड़ी और छोटी योजनाएं अतिवृष्टि और अनावृष्टि तथा मूल्य-परिवर्तनों के प्रभाव को बंद तो नहीं कर सकतीं; तथापि उत्पादन-वृद्धि से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर कुप्रभाव कम पड़ेगा।

कहीं कहीं सिंचाई आदि की सुविधा के कारण कृषि-कार्य बारहमासी बन गया है परंतु यह प्रभाव कुछ विशेष रूप से नहीं बढ़ा है। कृषि पर निर्भर जनसंख्या की वृद्धि स्वयं इतनी अधिक है कि अधिक भूमि की मांग पूरी नहीं होती। गैर-कृषि-क्षेत्र की ग्रामीण जनसंख्या की जीविका-वृद्धि में सामुहिक योजना ने शून्य प्रायः योग दिया है।

आधारभूत रोड़े

चाहे विकास योजना हो अथवा राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्य सद्चरित्रता का अभाव हमारी सब से बड़ी कमजोरी है। चाहे सहकारी विभाग के क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं से पूछिए चाहे जिले के नियोजन पदाधिकारियों से और चाहे स्वयं आंख खोल कर देख लीजिए, सत्-आचरण का अभाव हमारी योजनाओं के और हमारे विकास में सब से बड़ी बाधा है। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि सफलता-आंकन समिति ने कहा है कि गांवों में काम करने वाले "गांव-साथी" उपयुक्त दृष्टिकोण वाले हों; उन्हें उचित प्रशिक्षण प्रदान किया जाए। यदि पर्याप्त संख्या में ये कार्यकर्त्ता न उपलब्ध हों तो विकास कार्य की तीव्रता कम करनी चाहिए। परंतु हमारी समझ में उपयुक्त दृष्टिकोण तथा प्रशिक्षण की कमी ग्राम-सेवक (या गाँव साथी) के ऊपर वाले अफसरों में भी है। इस ओर ध्यान न देने से कोशिश करने पर भी विकास की प्रगति धीमी रहेगी।

यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि ग्राम पंचायतों के सहयोग और राय की प्राप्ति पर जोर दिया जाता है, आंकन-समिति के अनुसार पंचायत

प्रतिनिधि युक्त परामर्शदात्री समितियां या तो बनी ही नहीं या उनके कारण बाधाएं ही अधिक पैदा हुई ।

हमारी दूसरी बाधा, जो किसी हद तक इसी से संबंधित है अपने देश और काल को न समझ कर चलने की है। गांव और मुहल्लों में, प्रदेश और देश में लोग भले ही बेकार हों, अर्ध-मृत-प्राय हों, चोरी और डाके की ओर उनकी प्रवृत्ति की आशंका हो परंतु उनको कार्य देकर संभालने और सुधारने का हम प्रयत्न नहीं करते। जब तक यह नहीं होगा तब तक हमारा विकास तीव्र न होगा। हमको केवल पाश्चात्य सभ्यता में नहीं बह जाना चाहिए।

तृतीय, हमारे मतानुसार पाश्चात्य सभ्यता में बहने और रंगारंग कार्यक्रम के शिकार होने की बात हमारे सरकारी पदाधिकारियों के संबंध में भी लागू होती है। हम यह मानते हैं कि जनमत को आयोजित दिशा में चलाने के लिए कुछ प्रोपेगैण्डा, भेड़ चाल आदि को प्रोत्साहन देना अनिवार्य है। परंतु पदाधिकारियों के दौरों के कारण विघ्न अधिक पड़े तो यह अवांछनीय है। जो पदाधिकारी दौरा करने आएं उन्हें चाहिए कि वे साधारण रूप से आएं।

चतुर्थ, जिनके पास बचत है वे उसे दान में नहीं तो कम से कम जमा के रूप में सहकारी बैंक को दें और सहकारी बैंकों की जमा की सुरक्षा की गारंटी राज्य सरकार दे। आचरण और सहयोग के अतिरिक्त अर्थाभाव ही प्रमुख रोड़ा है।

अंत में यह भी उल्लेखनीय है कि सफलता-आंकन (१६५४) समिति का यह सुझाव, कि जिलाधीश जिले के सामुहिक विकास-कार्य का समन्वय करे, तभी कुछ फलदायक हो सकता है जब वह उत्साही और अग्रगामी प्रवृत्ति का हो। ऐसा कम देखा जाता है। परंतु अल्प-काल में पंचायती प्रतिनिधियों और परामर्शदात्री समितियों की अकर्मण्यता देख कर यह वांछनीय जान पड़ता है कि अनिवार्य आधार पर कार्य को आगे बढ़ाया जाय। इस हेतु यह अच्छा होगा कि क्षेत्र की स्थिति से जानकारी रखने वाले नवयुवक सहायक विकास-अफसर या तुलनात्मक पद पर नियुक्त किए जाएं। अभी तो कहीं कहीं जनता यह समझती है कि प्रोजेक्ट अफसर और विकास अफसर को क्षेत्र का न तो पूर्ण ज्ञान

है और न वे ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक हैं। जहां तक ग्राम-सेवकों का संबंध है वे दूसरे (या दूर के) गांव या जिले के हों तो अच्छा है अन्यथा वे घर बैठ कर खाना पूरी करने की प्रवृत्ति के शिकार तो होंगे ही, गांव वाले भी उनकी बात नहीं सुनेंगे।